सूर की काव्य-माधुरी

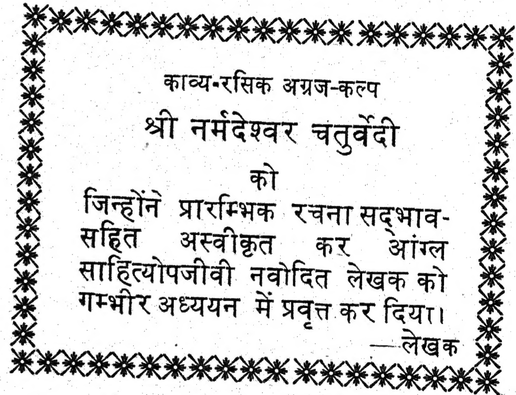
डॉ० रमाशंकर तिवारी
एम० ए०, पी-एच० डी०, डिप्० एड्०
(देव पुरस्कार-विजेता)
भू० पू० प्राचार्य,
कामताप्रसाद सुन्दरलाल
साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अवध विश्वविद्यालय,
फैजाबाद (उ० प्र०)

किताब महल

प्रथम संस्करण : 1983-84

मुख्य वितरक :

1. किताब महल एजेन्सीज,
   84, के० पी० कक्कड़ रोड, इलाहाबाद
2. किताब महल डिस्ट्रीब्यूटर्स,
   28, नेताजी सुभाष मार्ग,
   नई दिल्ली—2
3. किताब महल एजेन्सीज,
   अशोक राजपथ, पटना—4
4. किताब महल एजेन्सीज,
   मनोज बिल्डिंग सेण्ट्रल बाजार रोड,
   रामदास पेठ, नागपुर



काव्य-रसिक अग्रज-कल्प

श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

को

जिन्होंने प्रारम्भिक रचना सद्भाव-सहित अस्वीकृत कर आंग्ल साहित्योपजीवी नवोदित लेखक को गम्भीर अध्ययन में प्रवृत्त कर दिया।

—लेखक

मूल्य : पन्द्रह रुपये

प्रकाशक : किताब महल, 15, थार्नहिल रोड, इलाहाबाद

मुद्रक : महेश प्रिंटिंग प्रेस, 6 चक, इलाहाबाद

प्राक्कथन

(क)

सूरदास की ''प्रस्तुत-रस-संदोहा'' सरस्वती ने विगत दशाब्दियों में अनेक काव्य-रसिकों की भावयित्री प्रतिभा को आकर्षित किया है। आज भी उनकी पीयूष-वर्षिणी काव्य-वल्लरी के संगति-समुदाय की माधुरी के गवेषण तथा आलोचन का क्रम अबाध गति से चल रहा है। ऐसी अवस्था में प्रस्तुत पुस्तक के प्रणयन का औचित्य आपाततः तनिक प्रश्नास्पद बन जाता है: आखिर 'सूर की काव्य-माधुरी' से सूर के समीक्षा-साहित्य की अनाहूत कलेवर-वृद्धि क्यों ? इस ''क्यों'' की सफाई अपेक्षित प्रतीत होती है।

इस विषय में मैं इतना निवेदन कर देना अलम् समझता हूँ कि मैंने सूर की कमनीय काव्य-सम्पत्ति का आकलन, यथामति, नवीन दृष्टि से करने का उद्योग किया है। मैं यह नहीं कहता कि वर्तमान पुस्तक में सर्वथा नवीन तथ्यों एवं भूमियों का उद्घाटन किया गया है, किन्तु इतना अवश्य निवेदनीय है कि मेरी 'अप्रोच' नयी है, निरूपण प्रांजल तथा नवीन है। इसी नयापन तथा इसी नवीनता में प्रस्तुत प्रयास के ''क्यों'' की सफाई सन्निविष्ट है।

(ख)

जैसा आनुपूर्वी के अवलोकन से स्पष्ट है, प्रस्तुत पुस्तक में सूर की काव्य-सम्पदा पर चतुर्विध दर्शन-भूमियों से दृष्टिपात किया गया है: (अ) बहिरंग-दर्शन, (आ) अन्तरंग-दर्शन, (इ) काव्य-दर्शन और (ई) पार्श्व-दर्शन। 'बहिरंग-दर्शन' के अन्तर्गत, सूर के जीवन-वृत्त, सूर के कृतित्व और सूर की साधनात्मक पीठिका का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। सूर के कृतित्व के विषय में, मैंने केवल 'सूरसागर' को उनकी प्रामाणिक रचना स्वीकार किया है और 'सारावली' तथा 'साहित्य-लहरी' की प्रामाणिकता को अस्वीकार किया है। 'सारावली' को अन्य विद्वानों ने भी सूर की प्रामाणिक रचना नहीं माना है, किन्तु उन्होंने जो तर्क तथा तथ्य इस विषय में प्रस्तुत किये हैं, वे दुर्बल तथा कई विन्दुओं में, प्रमादग्रस्त बन गये हैं। पुनः इन विद्वानों ने 'सारावली' के अन्तरंग का परीक्षण नहीं किया है। सर्वाधिक विस्मयजनक तथ्य यह उभार में आता है कि 'सारावली' की प्रामाणिकता के परिपोष में अन्य विद्वानों ने जो तर्क प्रस्तुत किये हैं, उनकी इन विद्वानों ने उपेक्षापूर्ण अनदेखी कर दी है। मैं इसे समीक्षात्मक शैथिल्य अथवा अहम्मन्यतापूर्ण दम्भ समझता हूँ। मैंने, अतएव, 'सारावली' का सूक्ष्म विशद अन्तःपरीक्षण किया है और विरोधी शिविर द्वारा उपस्थापित तर्कों तथा तथ्यों का, अपने परीक्षण के आधार पर, युक्तिसंगत प्रत्याख्यान किया है।

'अन्तरंग-दर्शन' के अन्तर्गत सूर की भक्ति-माधुरी, सूर की सौन्दर्यानुरक्ति, सूर की रस-माधुरी, सूर की प्रेम-भावना, सूर की लोक-भावना, सूर के लीला-पात्र तथा सूर की दार्शनिक मान्यताएँ—इन सभी संदर्भों का, विभिन्न शीर्षकों एवं उपशीर्षकों में, निरूपण किया गया है। इन समस्त प्रकरणों में 'अप्रोच' की नवीनता और प्रतिपादन की अभिनव भंगिमा के दर्शन होंगे—ऐसा वर्तमान लेखक का विनम्र विश्वास है।

'काव्य-दर्शन' में सूर की काव्य-विषयिणी मान्यताओं, 'सूरसागर' के अंगी रस, सूर की भाषा, सूर की शिल्प-माधुरी और सूर की काव्य-वीणा की द्विधात्मक झंकृतियों की, विभिन्न शीर्षकों-उपशीर्षकों के अन्तर्गत, सूक्ष्म गवेषणा की गयी है। इन परिच्छेदों में मैंने कवि सूरदास की काव्य-चेतना, सर्जनात्मक तथा अभिव्यंजनात्मक, की अपने ढंग से, विश्वसनीय विवृति का प्रयास किया है। 'सूरसागर' के अंगी रस की पहचान—'कृष्ण-रस', 'शान्त-रस' तथा 'भक्ति-रस' के परिप्रेक्ष्य में—"लीला-रस" के रूप में की गयी है और इस "लीला-रस" के वात्सल्य-लालित तथा माधुर्य-लालित, द्विविध स्वरूपों का संक्षिप्त निरूपण किया गया है। रचना-प्रक्रिया तथा रचना-शैली के दो शीर्षकों में सूर के अभिव्यक्ति-कौशल का व्यापक धरातल पर गवेषण सम्पादित हुआ है। साथ ही, सूर की काव्य-तंत्री की द्विधात्मक झंकृतियों को, स्पष्ट रीति से, उभार में लाया गया है जिससे उनकी काव्य-प्रेरणा के वास्तविक स्वरूप को, सही-सही, हृदयंगम किया जा सके। भक्त-कवि का शृंगार क्योंकर अनाविल पवित्रता एवं उज्ज्वलता से मण्डित हो गया है, इस तथ्य को भी रेखांकित किया गया है।

अंतिम 'पार्श्व-दर्शन' सूर की मौलिक उपलब्धि, उनकी अद्यतन परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिकता और उनके नैतिकता-बोध के विविक्तीकरण के लिए समर्पित है। अन्तिम परिच्छेद, 'सूर की नैतिकता', में मैंने बाह्यारोपित मानदण्डों का परित्याग कर, यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है कि सूर का नैतिकता-बोध कैसे उनके काव्य के अन्तर्व्याप्त वातावरण तथा अभ्यान्तर अनुप्राणन से विकसित एवं उपलालित हुआ है।

(ग)

पुस्तक-प्रणयन के मूल में दो प्रेरणाएँ कार्यशील रही हैं। पहली यह कि अनावश्यक विस्तार एवं पिष्टपेषण से बचा जाय और दूसरी यह कि प्रत्येक निरूपण को अन्तःसाक्ष्य से परिपुष्ट किया जाय। इस प्रसंग में मैंने "पर-प्रत्यय-नेय बुद्धि" की प्रतिबद्धता स्वीकार नहीं की है और स्वतंत्र विचारण तथा विभावन का संश्रयण किया है। यहाँ मेरा विनीत अनुरोध है कि इस कथन को गर्वोक्ति न समझा जाय, प्रत्युत इसे उस आत्मविश्वास की "सन्तान" माना जाय जो अध्ययन की अविचल निष्ठा तथा ईमानदारी की प्रसूति होता है।

(घ)

पाण्डुलिपि तैयार करते समय किताब महल के साहित्य-सलाहकार, श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, से समय-समय पर जो बहुमूल्य सुझाव मिलते रहे हैं, उनके लिए मैं उनका उपचारतः नहीं, हृदयतः आभारी हूँ। वस्तुतः पुस्तक का सौष्ठवपूर्ण संस्कार सम्पन्न नहीं हुआ होता यदि चतुर्वेदी जी की सलाहें न मिली होतीं। इस प्रसंग में मैं

अपने पूर्व सहयोगी-त्रय—प्रो० रणजीत सिंह, अध्यक्ष, मनोविज्ञान-विभाग और डॉ० राधिकाप्रसाद त्रिपाठी तथा डॉ० रामशंकर त्रिपाठी (दोनों) प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, साकेत महाविद्यालय—को साभार स्मरण करना भी अपना कर्त्तव्य समझता हूँ जिन्हें मैं, समय-समय पर, जान-बूझ कर, साहित्यिक बहसों में उलझाता रहा हूँ और उनके दौरान निष्पन्न उनके आकस्मिक "फ्लैशों" से लाभान्वित भी होता रहा हूँ।

अपने परिवार के स्वजनों के प्रति मैं किन शब्दों में अपना आभार व्यक्त करूँ जो इस सेवा-निवृत्त, अपरिग्रहशील, लौकिक व्यवहारविहीन व्यक्ति के लिए अनेक भौतिक सुविधाओं से वंचित रहकर भी निरन्तर अध्ययन का वातावरण प्रस्तुत करते रहे हैं—मैं नहीं समझ पाता।

अन्त में, मैं किताब महल के संचालकों के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने बड़ी तत्परता से पुस्तक को प्रकाशित किया है।

लेखक वर्तमान प्रयास को तभी सफल समझेगा जब कालिदास के शब्दों में, उससे सुधी विपश्चिद्-वर्ग को तनिक भी संतोष प्राप्त होगा—"आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोग-विज्ञानम्।"

'गन्ध-मादन', कटरा
अयोध्या (फैजाबाद)

विनीत
रमाशंकर तिवारी

विषय-सूची

अध्याय 1

सूर का जीवन-वृत्त

भक्तप्रवर सूरदास के जीवन-वृत्त के विषय में सम्भवतः अब कोई 'उल्लेखनीय' विवाद नहीं रह गया है, यद्यपि सूर-नामधारी सोलह कवियों की खोज विद्वानों द्वारा की गयी है। बिल्वमंगल सूरदास, सूरदास मदनमोहन इत्यादि के वृत्त भी हमारे सूरदास के वृत्त से मिल कर उलझनें उत्पन्न कर चुके हैं। बिल्वमंगल सूरदास की उपाधि 'लीलाशुक' भी थी और उन्होंने संस्कृत भाषा में 'श्रीकृष्णकर्णामृत' नामक अत्यन्त रसपूर्ण भक्ति-काव्य का प्रणयन किया है। निश्चित ही, ये 'लीलाशुक सूरदास' भी 'सूरसागर' के रचयिता 'कृष्णसखा' सूरदास से भिन्न हैं।[1]

विद्वानों ने हमारे सूरदास के जीवन-वृत्त-निर्माण के लिए अनेक प्रयत्न किये हैं। बाह्य साक्ष्यों के साथ उन्होंने अन्तःसाक्ष्य के रूप में 'सूरसागर' के अतिरिक्त 'साहित्य-लहरी' तथा 'सूरसारावली' का भी उपयोग किया है। हम अंतिम दोनों रचनाओं को अपने सूरदास की प्रामाणिक कृतियाँ नहीं मानते। अतएव मुख्यतः वार्ता साहित्य तथा 'सूरसागर' और साम्प्रदायिक मान्यताओं के आधार पर सूर का जो जीवन-वृत्त हमारे सम्मुख प्रस्तुत होता है, हम उसे प्रामाणिक मानते हैं और नये विश्वसनीय प्रमाणों के अभाव में वही वृत्त सर्व-स्वीकृत हो गया है।

आविर्भाव-काल

'वार्ता' साहित्य से सूरदास की आविर्भाव-तिथि का कोई निश्चित पता नहीं चलता। हिन्दी साहित्य के अधिकांश इतिहासकारों ने सूर का जन्म संवत् 1540 वि० माना है। आ० शुक्ल ने, जो 'सारावली' तथा 'साहित्य-लहरी' को प्रामाणिक रचनाएँ मानते हैं, "मुनि पुनि रसन" वाले पद[2] से 'साहित्य-लहरी' की रचना का समाप्ति-काल

---

1. शायद अभी तक 'लीलाशुक' सूरदास और 'सूरसागर' के प्रणेता सूरदास को अभिन्न मानने की भ्रान्ति बनी हुई है—द्रष्टव्य : 'सूर-विशेषांक' ('हिन्दुस्तानी' त्रैमासिक, 1978 ई०), पृ० 104, पंक्ति 101

2. "मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरीनंद को लिखि, सुबल संवत् पेख ॥
नंदनंदन मास, छै ते हीन तृतिया बार।
नंदनंदन जनम ते है बान सुख आगार ॥
तृतिय ऋक्ष, सुकर्म जोग बिचारि सूर नवीन।
नंदनंदन-दास हित साहित्य-लहरी कीन ॥" (सा० ल०, पद 109)

सं० 1607 वि० मानकर, सूर का जन्म-संवत् 1540 वि० (1607-67 वि०) के आसपास तथा 80 या 82 वर्ष की आयु अनुमानित कर, मृत्यु-संवत् 1620 वि० के आसपास स्थिर किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उन्होंने 'सारावली' की "गुरु परसाद" वाली पंक्ति में आये "सरसठ बरस"[1] से यही तात्पर्य ग्रहण किया है कि 'सारावली' की रचना के समय सूर 67 वर्ष के हो गये थे। पूर्वोक्त कूट पद में आये 'रसन' का अर्थ आ० शुक्ल ने 'रस नहीं,' अर्थात् 'शून्य' ग्रहण किया है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने भी सूर का जन्म-काल सं० 1540 माना है, यद्यपि अबुलफजल द्वारा प्रणीत 'मुंशियात अबुलफजल' के प्रमाण पर सूर की आयु 102 वर्ष मानकर, निधन-संवत् 1642 वि० स्थिर किया है।

किन्तु, डॉ० दीनदयालु गुप्त ने वल्लभ-सम्प्रदाय की इस मान्यता को प्रामाणिक माना है कि सूरदास महाप्रभु से वय में दस दिन छोटे थे। वल्लभाचार्य की जन्मतिथि सं० 1535 वि० की वैशाख कृष्ण 11, रविवार, मानी जाती है। श्रीनाथद्वारे में सूर का जन्मोत्सव वल्लभाचार्य के जन्म-दिन, वैशाख कृष्ण 11, के बाद, बैसाख सुदी पंचमी को मनाया जाता है। इस प्रकार, सूर की जन्मतिथि सं० 1535, वैशाख शुक्ला पंचमी, मंगलवार, ठहरती है। 'सूरनिर्णय' के विद्वान् लेखकों ने भी सूर की यही जन्मतिथि स्वीकार की है। 'सारावली' का रचना-काल डॉ० मुंशीराम शर्मा ने प्रयत्नपूर्वक सं० 1581-82 स्थिर किया है, जबकि ये विद्वान् साम्प्रदायिक सेवा-प्रणाली के इतिहास के अधिक विश्वसनीय आधार पर उसका रचना-काल सं० 1602 मानते हैं। इस प्रकार 'निर्णय'-कारों की स्थापना है कि "अन्तःसाक्ष्य से भी सूरदास का जन्म-संवत् 1535 (1602-67) ही सिद्ध होता है।" अधुना अधिकांश विद्वानों ने सूर का आविर्भाव-काल सं० 1535 स्वीकार कर लिया है और इस प्रकार, डॉ० शर्मा का पाण्डित्यपूर्ण निरूपण अब स्वीकार्य नहीं रह गया है। अतः सूर की जन्मतिथि बैसाख सुदी पंचमी, सं० 1535, ही मानी जायेगी।

निधन-काल

सूर के निधन-काल वाली डॉ० शर्मा की स्थापना भी, इसी प्रकार, खंडित हो गयी है। चौरासी वार्ता से विदित है कि सूर गो० विट्ठलनाथ के व्रजवास-काल में जीवित थे। गोस्वामीजी सं० 1628 में स्थायी रूप से गोकुल में रहने लगे थे। सूर से भेंट करने के बाद, अकबर ने सं० 1634 में एक शाही फर्मान द्वारा उन्हें गोकुल में निवास करने की आज्ञा दे दी थी। इसके अतिरिक्त, सं० 1638 में एक दूसरे फर्मान द्वारा उन्हें जागीर की किसी भूमि पर गायें चराने की अनुमति मिल गयी थी। इन उल्लेखों से सूर के सं० 1638 तक जीवित रहने की सम्भावना का अनुमान किया जा सकता है। किन्तु, इतना निश्चित है कि सं० 1642 के पहले उनका देहान्त अवश्य हो गया होगा क्योंकि सं० 1642 में स्वयं गो० विट्ठलनाथ ब्रह्मलीन हुए थे और सूर ने उनके सामने इहलीला संवरण की थी।

चौरासी वार्ता में सूर के देहावसान का अतीव मर्मस्पर्शी वर्णन उपलब्ध होता है। श्रीनाथजी की सेवा करते बहुत काल व्यतीत हो जाने पर, सूर को आभास हुआ

1. "गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन।
शिव विधान तप कर्‌यो बहुत दिन, तऊ पार नहिं लीन ।।"
(सारावली, पद 1002)

कि उनका अन्तिम समय समीप है। अतः वे श्री ठाकुरजी के नित्य-लीलाधाम पारसौली चले आये और गोवर्धनजी की ध्वजा को साष्टांग प्रणाम कर, एक चबूतरे पर वहीं लेट गये। उन्हें श्रीनाथजी के शृंगार के समय अनुपस्थित देखकर, गोसाईंजी ने समझ लिया कि सूर का देहावसान सन्निकट है और उन्होंने अपने सेवकों से कहा कि "पुष्टि-मार्ग का जहाज" जा रहा है। पारसौली पहुँचने पर उन लोगों ने सूर को अचेतावस्था में पड़ा देखा। गोसाईंजी ने उन्हें जगाकर पूछा, अब तुम्हारी चित्तवृत्ति कहाँ है? उत्तर में सूर ने यह पद सुनाया, "बलि बलि बलि कुँवरि राधिका, नन्दसुवन जासों रति मानी" और, जब गोसाईंजी ने उनकी नेत्र-वृत्ति के विषय में पूछा, तब उन्होंने यह प्रसिद्ध पद गाया—

"खंजन नैन सुरँग रस माते।
अतिसय चारु बिमल चंचल ये, पल पिंजरा न समाते॥"
—इत्यादि।

यह पद गाते ही, सूर भगवत्लीला में समा गये। इतना स्पष्ट है कि सूर लम्बी आयु तक जीवित रहे और सम्प्रदाय में अतिशय प्रतिष्ठा प्राप्त की। 'सूरसागर' के एक पद में 'राजभोग' में 'छप्पनभोग' की भावना करायी गयी है। साम्प्रदायिक इतिहास से इस राजभोग की आयोजना का काल सं० 1640 माना गया है। अतः सूर का 1640 वि० तक जीवित रहना सिद्ध होता है। 'सूरनिर्णय' के लेखकों ने इसे ही सूर का देहावसान संवत् स्थिर किया है। अभी ऊपर संकेत किया गया है कि सूर ने सं० 1638 तथा सं० 1642 के बीच कभी प्राणोत्सर्ग किया होगा। सुतराम्, उनका भगवत्लीला-प्रवेश या निधन संवत् 1640 वि० मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

जाति

सूर की जाति के विषय में भी पंडितों में काफी मतभेद है। 'साहित्यलहरी' के पूर्वोक्त पद के आधार पर डॉ० शर्मा जैसे विद्वानों ने सूर को 'भट्ट-ब्राह्मण' या 'ब्रह्म-भट्ट' बताया है। उनसे पूर्व जार्ज ग्रियर्सन, नगेन्द्रनाथ वसु, हरप्रसाद शास्त्री, 'भारतेन्दु' प्रभृति अनेक विद्वानों ने भी इस पद के साक्ष्य पर सूर को 'ब्रह्मभट्ट' स्वीकार किया है। लेकिन, जैसा पहले कहा है, 'साहित्यलहरी' को सूर की प्रामाणिक रचना मानने वाले अनेक विद्वान् भी वंशवृक्ष-विषयक इस पद को प्रक्षिप्त मानते हैं।[1] कतिपय साम्प्रदायिक पंडितों ने सूर को 'सारस्वत ब्राह्मण' स्वीकार किया है। गोस्वामी हरिराय, गोस्वामी यदुनाथ तथा गो० विट्ठल एवं गो० गोकुलनाथ के समकालीन प्राण कवि ने इन्हें सारस्वत ब्राह्मण ही माना है। दिल्ली के आसपास आज भी सारस्वत ब्राह्मणों की घनी आबादी से सूर के सारस्वत ब्राह्मण होने की सम्भावना की पुष्टि होती है। किन्तु, चौरासी वार्ता में सूर की जाति का उल्लेख नहीं हुआ है जिससे उनके ब्राह्मणत्व पर संदेह किया गया है।[2] मेरा निजी अनुमान है कि वार्ता-प्रणयन-काल तक सूर ने भागवतों में प्रचुर ख्याति एवं लोकप्रियता अर्जित कर ली थी जिस कारण उनकी जाति का विशेष उल्लेख आवश्यक

1. आ० शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (सं० 2025 वि०), पृ० 157
2. डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा : 'सूरदास' (1950), पृ० 5-7

नहीं समझा गया। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा ने उन्हें अ-ब्राह्मण सिद्ध करने का प्रवृत्त्यात्मक या साभिलाष प्रयास किया है। जाति-पाँति के सम्बन्ध में स्वयं सूर ने यदि उदासीनता प्रकट की है, तो इसका यह अभिप्राय नहीं कि वे ब्राह्मण नहीं थे। अजामिल तथा सुदामा को 'विप्र' कहने से, 'श्रीधर-अंग-भंग' प्रसंग में 'बाँभन' शब्द के प्रयोग से, तथा 'महराने के पाँड़े' के चौके को कृष्ण द्वारा बार-बार छूत कराने अथवा 'सूरसागर' में ब्राह्मणों की 'स्तुति-प्रशंसा' के अभाव से सूरदास को कैसे ब्राह्मणेतर सिद्ध किया जा सकता है? कृष्ण के प्रति 'अनन्य भक्ति का प्रकाशन' करते हुए, सूर ने एक पद में स्पष्ट कह दिया है, "प्रभु ! तुम्हारी भक्ति के लिए **मैंने अपनी जाति छोड़ दी।**" डॉ० वर्मा ने इस पद का स्वयं उल्लेख करते हुए, व्यंजना से यह उल्टा अर्थ ग्रहण कर लिया कि सूर ब्राह्मण नहीं थे।[1] प्रस्तुत पद से तो यही स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि सूर ब्राह्मण थे, किन्तु भक्ति की प्रगाढ़ तन्मयता में उन्होंने जाति-पाँति के सम्पूर्ण विचार को तिलांजलि दे दी।

डॉ० वर्मा ने आगे चलकर सूर के 'ढाढ़ी, जगा या ब्रह्मभट्ट' होने की संभावना व्यक्त की है। ढाढ़ी या जगा (भाट) के अनुमान के लिये उन्होंने कृष्णजन्म-संबंधी उन पदों का सहारा लिया है जिनमें सूर अपने को 'ढाढ़ी' कहते हैं।[2] लेकिन, 'अष्टछाप' के अन्य कवियों ने भी अपनी दीनता की विज्ञप्ति के लिए स्वयं को ढाढ़ी कहा है, यथा—

"कृष्णदास बल्लभ कुल कौ ढाढ़ी कीनों जनम सनाथ।" (कृष्णदास)
हौं ढाढ़ी कबहुँ न अघाऊँ, यदपि नन्द दातार।" (चतुर्भुजदास)
नन्ददास नन्दराय कौ ढाढ़ी, भयौ अजातिक ढोली।" (नन्ददास)

इन भक्त कवियों की जाति के विषय में कोई विवाद नहीं है। वल्लभ-सम्प्रदाय की सेवा-प्रणाली में राधाष्टमी के दिन ढाढ़ी बनने की प्रथा आज भी प्रचलित है जो वल्लभाचार्य के समय में ही प्रारम्भ हुई थी। अतएव, सूर को 'ढाढ़ी' जाति का बताना तर्कसम्मत अथवा युक्तिसंगत नहीं है। सूर सारस्वत ब्राह्मण थे, यही मान्य होना चाहिए।

जन्म-स्थान

सूर का जन्म-स्थान भी विवादास्पद है। डॉ० शर्मा ने गोपाचल अथवा रुनकता (रेणुकाक्षेत्र) को सूर का जन्म-स्थान बताया है, जैसा ऊपर दिखाया गया है। किन्तु, 'साहित्यलहरी' सम्पूर्ण, या कम-से-कम अंतिम पद, को अप्रामाणिक मानने के कारण, अनेक विद्वान् डॉ० शर्मा से सहमत नहीं हैं। गोस्वामी हरिराय ने 'भावप्रकाश' में सूर का जन्म-स्थान दिल्ली से चार कोस दूर 'सीही' ग्राम को बताया है और यहीं जनमेजय के सर्पयज्ञ करने का कथन किया है। गोकुलनाथजी के समकालीन प्राणनाथ कवि ने भी 'अष्टसखामृत' में सीही को ही सूर का जन्म-स्थान माना है। दिल्ली-मथुरा सड़क पर बल्लभगढ़ के समीप सीही नामक एक ग्राम वर्तमान है। वहाँ के लोगों में प्रवाद है कि सूरदास का वहीं जन्म हुआ था। साथ-ही, जनमेजय के नागयज्ञ के वहाँ सम्पन्न होने की जनश्रुति भी उनमें प्रचलित है। इस प्रकार, 'भावप्रकाश' तथा 'अष्टसखामृत' वाले उल्लेखों से वर्तमान सीही ग्राम की संगति बैठ जाती है। दिल्ली से इस सीही की दूरी में

1. डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा : 'सूरदास' (1150), पृ० 6
2. वही, पृ० 9

जो अन्तर पड़ता है, वह महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योंकि दिल्ली के पड़ोस की बस्तियों की स्थिति दिल्ली के अनेक बार उजड़ने तथा बसने में प्रभावित हुई होगी,ऐसी सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता ।[1] अतएव, सूर का जन्मस्थान सीही माना जा सकता है।

अन्धत्व

सूरदास के जीवन-विषयक अन्यान्य विवरणों में उनकी चमत्कारी शक्तियों तथा सगुन बताने की क्षमता एवं जन्मान्धत्व के उल्लेख उपलब्ध होते हैं। हरिराय ने 'भाव-प्रकाश' में कहा है कि सूर के केवल भौंहें थीं, नेत्रों का आकार तक नहीं था जिससे उनके माता-पिता असंतुष्ट रहते थे। कवि मियाँ सिंह ने 'भक्त-विनोद' में इन्हें जन्मान्ध बताया है और उनके एक बार कूप में गिरने तथा गोपवेशधारी श्रीकृष्ण द्वारा बचाये जाने का उल्लेख किया है। रघुराज सिंह ने भी 'रामरसिकावली' में सूर को उद्धव का अवतार तथा जन्म से नयन-विहीन बताया है। सूरदास के प्रायः समकालीन श्रीनाथ भट्ट ने अपनी 'संस्कृत-मणिमाला' में उन्हें स्पष्टतः जन्मान्ध कहा है—"जन्मान्धो सूरदासोऽभूत × ×।"

श्री उदयशंकर शास्त्री ने बताया है कि महाप्रभु और सूरदास के मिलन-प्रसंग के पूर्व, किसी नेत्रहीन को 'सूर' या 'सूरदास' कहा जाता था, इसका कोई उल्लेख किसी ग्रंथ में नहीं मिलता। अन्धतासूचक 'सूर' शब्द प्राचीन कोशों में भी नहीं है। अतएव, ऐसा मानना पड़ता है कि नेत्रहीन व्यक्ति के लिये 'सूर' शब्द का प्रचलन महाप्रभु और सूरदास की भेंट के उपरान्त ही हुआ होगा। वार्ता से भी इसका स्पष्टीकरण यों उपलब्ध होता है—"जो जन्मे पाछै नेत्र जाँय तिनकों आँधरा कहियै, सूर न कहियै और ये तौ सूर हैं।"[2] अतः सूर को जन्मान्ध माना जा सकता है।

तथापि, सूर के अन्धत्व के विषय में प्रचुर मतभेद उत्पन्न हुआ है। मिश्रबन्धु, श्यामसुन्दर दास, आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० दीनदयालु गुप्त प्रभृति विद्वान् सूर को जन्मान्ध नहीं मानते। इन विद्वानों का प्रमुख तर्क यह है कि सूर ने रूप-रंग-शृंगार, प्रकृति इत्यादि के जैसे सटीक चित्र अंकित किये हैं, वैसे ललित चित्र उस व्यक्ति के द्वारा अंकित नहीं किये जा सकते जो जन्म से अन्धा रहा हो। अतः उनका मंतव्य है कि सूर सांसारिक सौन्दर्यादि का घनिष्ठ परिचय प्राप्त करने के बाद, जीवन में कभी अन्धे हुए होंगे। इस विषय में एक किंवदन्ती यह प्रचलित है कि किसी रूपवती युवती के द्वारा कूप से पानी पिलाये जाने पर नवयुवक सूर उसके लावण्य पर मुग्ध हो गये जबकि उस युवती के मन में किसी प्यासे व्यक्ति की प्यास बुझाने की शुद्ध रागात्मक भावना थी। अपने मानसिक कालुष्य की आत्मग्लानि से पूर्ण सूर ने उस युवती से चाकू माँगा और अपनी दोनों आँखें फोड़ डालीं।[3] इस प्रकार की घटना असम्भव नहीं मानी जा सकती, किन्तु इसके पीछे कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं। सूरसागर में ऐसे अनेक पद उपलब्ध हैं जिनमें सूर ने अपने अंधे होने का कथन किया है। उदाहरणार्थ कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत हैं—

---

1. डॉ० हरिवंशलाल शर्मा : 'सूरदास' (सम्पादित), 1969, पृ० 13-14
2. 'सूर-सौरभ' (त्रैमासिक),माघ, 2037, पृ० 25
3. वही, पृ० 57-53

"बिप्र सुदामा कियौ अजाची, प्रीति पुरातन जानि।
सूरदास सौं कहा निहोरौ, नैननि हूँ की हानि॥"
"सूरजदास अंध अपराधी सो काहे बिसर्‌यौ।"
"सूर कहा कहै द्विविध आँधरौ, बिना मोल को चेरौ।"
"इह मागौं बार-बार प्रभु, सूर के नयन द्वै रहे, नर देह पाऊँ।"

'सूरनिर्णय' के लेखकों ने ऐसे पद भी उद्धृत किये हैं जिनमें जन्मान्धता का स्पष्ट उल्लेख है, यथा—

"जब तुम भये लेवा देवा के दाता, हमसूँ कछु न सर्‌यौ।
सूर की बिरिया निठुर होइ बैठे, जनम अन्ध कर्‌यौ॥"
"करमहीन जनम कौ आँधौ मोतैं कौन न कारौ।
तीन लोक के तुम प्रतिपालक, मैं तो दास तिहारौ॥"

डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा का तर्क है कि "जन्मान्धता की बात स्पष्ट रूप में न तो सूरदास के किसी स्वकथन से सूचित होती है और न मूल वार्ता के किसी वाक्य से।" अतः उनके काव्य में दृश्य जगत् के प्रचुर यथार्थ वर्णन को देखते हुए, उन्हें "किसी ज मान्ध के द्वारा वर्णित मानने में युक्ति को सर्वथा त्याग देना पड़ेगा।"[1] डॉ० वर्मा की पहली आपत्ति कि जन्मान्धता-सूचक कथन मूल वार्ता अथवा 'सूरसागर' में उपलब्ध नहीं, युक्तिसंगत नहीं मानी जायेगी। 'सूरसागर' की एतद्विषयक पंक्तियाँ अभी उद्धृत की गयी हैं। पुनः ऐसा अंतःसाक्ष्य भी तो नहीं मिलता कि सूर बाद में अन्धे हुए, जन्मान्ध नहीं थे। मूल वार्ता से भी उनके बाद में अन्धे होने का संकेत नहीं मिलता। रह गयी उनके यथार्थ चित्रणों से संलग्न आपत्ति, तो इस विषय में 'सूरनिर्णय' के लेखकों के इस समाधान को तिरस्कृत नहीं किया जा सकता कि "ब्रह्म का साक्षात्कार" करने वाले महापुरुषों को "दिव्यदृष्टि" प्राप्त हो जाती है जिसके प्रमाण भारतीय वाङ्मय में प्रसिद्ध "शुक-संजयादि" हैं। सूर ने भी महाप्रभु से दीक्षा प्राप्त कर लेने के बाद यह दृष्टि पा ली थी। इन विद्वानों के इस तर्क में यथेष्ट शक्ति है कि महाप्रभु से तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के पूर्व सूर ने जो काव्य-रचना की है, उसमें पुराणादि के आधार पर "ईश्वर के माहात्म्य और जीव के अज्ञान आदि से सम्बन्धित विनय के भाव ही व्यक्त किये हैं," उनमें कहीं भी "सृष्टि-सौन्दर्य की उपमा, उत्प्रेक्षा और रंगादि का वर्णन नहीं मिलता।" उलटे, "उनके जिस काव्य को देखकर उनके जन्मान्ध न होने की बात कही जाती है, उस काव्य की रचना उन्होंने ब्रह्म-विज्ञान द्वारा दिव्य-दृष्टि प्राप्त करने के पश्चात् ही की है।"

हमारे सामने जन्मान्ध कवियों के उदाहरण वर्तमान हैं। राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में 'जानकीहरण' नामक काव्य के प्रणेता कुमारदास तथा अलंकारशास्त्र के आचार्य मेधावि रुद्र का उल्लेख किया है जो जन्मान्ध थे। उनका कथन है कि ये दोनों महाकवि प्रतिभा-प्रकर्ष के धनी थे जिस कारण उन्होंने काव्य-सामग्री को आत्मसात् किया था : "प्रतिभा शब्द-समूह को, अर्थों के समुदाय को, अलंकारों एवं सुन्दर उक्तियों को तथा अन्यान्य काव्य-सामग्री को हृदय के भीतर प्रतिभासित करती है। जिसे प्रतिभा

---

1. 'सूरदास' (1950), पृ० 42

नहीं है, उसके लिए प्रत्यक्ष दीखते हुए पदार्थ भी परोक्ष-जैसे प्रतीत होते हैं और प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति के लिए अनेक अदृश्य पदार्थ भी प्रत्यक्ष-से दीखते हैं।"[1]

जन्मान्ध नाभादासजी, प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्दजी इत्यादि अनेक सन्तों के उदाहरण उपलब्ध हैं जिन्होंने मानव-लीलाओं एवम् भावनाओं का 'अनुभव किया हुआ'-सा वर्णन किया है।[2]

वैज्ञानिकों ने भी जन्मान्ध व्यक्तियों के प्रत्यक्षीकरण (पर्सेप्शन) को प्रमाणित किया है। वैज्ञानिक डेकार्टे ने लिखा है कि जन्मान्ध व्यक्ति इतनी पूर्ण शुद्धता से अनुभव प्राप्त करते हैं कि जान पड़ता है कि वे "अपने हाथ से" ही देखते हैं। आर० एल० ग्रेगारी अपनी पुस्तक 'आई ऐण्ड ब्रेन' में जन्मान्ध व्यक्ति के अनुभव की चर्चा की है जो चतुर तथा कार्यकुशल था। यह भी बताया गया है कि सूर ने मधुपुरी (मथुरा) के वर्णन में ध्वनि (कान का विषय) का सहारा लिया है। जन्मान्ध व्यक्ति मुख-ध्वनि को सुनकर वक्ता की मनोदशा, यथा भय, प्रेम आदि का परिचय प्राप्त कर सकता है। अतएव, सूर के ऐसे चित्रणों का रहस्य समझा जा सकता है।

रूपसौन्दर्यादि के चित्रणों से यह अनुमान कि सूर जन्मांध नहीं थे, एक अन्य तर्क से भी दुर्बल बन जाता है। रीतिकालीन देव, बिहारी, मतिराम आदि जन्मान्ध नहीं थे। पुनः सामन्तीय परिवेश में उन्हें वास्तविक मायावी सौन्दर्य देखने का प्रचुर प्रत्यक्ष अनुभव भी प्राप्त था। तथापि, उन्होंने रूप-सौन्दर्य के वैसे ललित, रसपूर्ण चित्र अंकित नहीं किये जैसे 'सूरसागर' में चित्रित हुए हैं। तब, प्रत्यक्ष, साक्षात् प्रेक्षण ऐसे मनोरम वा समृद्ध चित्रों के लिए अनिवार्यतः आवश्यक है, यह नहीं कहा जा सकता। मूल वस्तु है उस सौन्दर्यानुभव में तन्मय हो जाना। जैसा राजशेखर ने कहा है, 'प्रतिभा' काव्य के उत्पादन एवं उत्कर्ष में महत्त्व की भूमिका सम्पन्न करती है। सूर ऐसे ही अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न, प्रतिभाशाली, भक्तकवि हैं। महाप्रभु ने उनके मानस-नेत्रों के सम्मुख हरि-लीला का रहस्य, उसके सम्पूर्ण सौन्दर्य तथा सौरस्य के साथ, उन्मीलित किया था जिसका कथन स्वयं सूर ने ही किया है।[3]

अतएव, सूर जन्मान्ध थे, इसे मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए।[4]

---

1. 'काव्यमीमांसा' (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना), 1954ई०, पृ० 26-27
2. 'सूर-सौरभ,' पंचम संस्करण, पृ० 27
3. 'सूरसागर,' 1791, 1798
4. जन्मान्धता-विषयक निम्न उल्लेख अवहेलनीय नहीं हैं—

"जनम पाछे नेत्र जाँय तिनको आँधरा कहिये, सूर न कहिए, और ये तो सूर हैं।"
(हरिराय)

"जनमत ही हैं नैन-बिहीना। दिव्यदृष्टि देखिहि सुख माना॥"
(रघुराज०)

"जनम अंध दृग ज्योति बिहीना। जननि जनकु कछु हरष न कीना॥"
(मियाँ सिंह)

अध्याय 2

सूर का कृतित्व

सूरसागर

डॉ० दीनदयालु गुप्त ने सूरदास-रचित कहे जाने वाले ग्रंथों की संख्या 24 बतायी है जिसे पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी ने बढ़ाकर 54 कर दिया है। इधर कुछ माह पूर्व, चित्रकूट (बाँदा) के किसी अध्यापक ने समाचार-पत्रों में 'सूर-मंजरी' नाम से एक और ग्रन्थ की सूचना प्रकाशित करायी थी जिसे मिलाकर सूर-कृत ग्रन्थों की संख्या 55 तक पहुँच जाती है। किन्तु, विद्वानों का सामान्य बहुमत सूरदास द्वारा रचित ग्रन्थ तीन ही मानता है: 'सूरसागर', 'सूरसारावली' और 'साहित्यलहरी'। 'सूरसागर' नाम सूरदास के जीवन-काल में ही उनके कीर्तन-पदों के समुच्चय को प्राप्त हो चुका था। महाप्रभु वल्लभाचार्य सूर को 'सूरसागर' कहा करते थे और संभवतः इसी आधार पर उनकी इस महनीय रचना का नाम भी 'सूरसागर' पड़ गया।[1] यद्यपि सूर ने जगह-जगह पर भागवत के अनुसार वर्णन करने की बात कही है, तथापि 'सूरसागर' भागवत का अनुवाद नहीं है, प्रत्युत उस पर ब्रह्मवैवर्त्त, ब्रह्माण्ड, वामन पुराण, गर्गसंहिता इत्यादि का प्रचुर प्रभाव भी परिलक्षित होता है। हम 'सूरसागर' को ही सूर की एकमात्र प्रामाणिक रचना मानते हैं, 'सूरसारावली' तथा 'साहित्यलहरी' को नहीं।

स्वरूप और सम्पादन की समस्या

'सूरसागर' मूलतः कीर्तन-काव्य है। सूर अपने रचित पदों को स्वयं गाया करते थे और कहा जाता है कि वे पुराना पद कभी नहीं गाते थे। किंवदन्ती है कि उन्होंने सवा लाख पदों का प्रणयन किया। वार्ता प्रसंग (3) में केवल "सहस्रावधि" पदों की रचना की बात कही गयी है जबकि वार्ता प्रसंग (10) में कहा गया है कि सूरदास ने एक लाख "कीर्तन प्रकट" किये और शेष पच्चीस हजार श्रीगोवर्धननाथजी ने "सूरस्याम"

---

1. 'वार्ता' प्रसंग (3) में उल्लेख आया है—

"और सूरदास कों जब श्री आचार्यजी देखते, तब कहते—जो भावो—सूरसागर, सो ताको आसय यह जो समुद्र में सगरौ पदार्थ होत है, तैसैं ही सूरदास ने सहस्रावधि पद किये हैं। तामैं ज्ञान-वैराग्य के न्यारे-न्यारे भक्ति भेद अनेक भगवत् अवतार, सो तिन सबन की लीला कौ बरनन कियौ है।" —सूरदास की वार्ता (**मीतल**), पृ० 27

की छाप से पूरे किये ।[1] विद्वानों ने इतनी विशाल पद-राशि की रचना वाली बात पर सन्देह प्रकट किया है, यद्यपि 'सूरनिर्णय' के लेखकों की गणना के अनुसार लाख-सवा लाख पदों की किंवदन्ती प्रमाणित हो जाती है ।[2] इसके विपरीत, डॉ० मुन्शीराम शर्मा ने 'सारावली' के (जिसे वह सूर की प्रामाणिक रचना मानते हैं) "एक लक्ष पदबंद" वाले कथन की परीक्षा करते हुए "पदबंद" से कड़ियों का अर्थ ग्रहण किया है और अधिक-से-अधिक दस हजार पदों के प्रणयन का श्रेय सूर को प्रदान किया है ।[3]

हमारी समझ में सूर-रचित "कीर्तनों" की बहुलता के कारण, सवा लाख की जनश्रुति चल पड़ी होगी । एक विन्दु और भी लक्षणीय है । लोक-व्यवहार की भाषा में 'लाख' की संख्या का प्रयोग वस्तु-विशेष के परिमाण की अधिकता के लिए प्रायः होता है। 'सवा' या 'सवाई' का तो हमारे लोक-प्रचलित धार्मिक कृत्यों में बड़ा महत्त्व स्थापित है । मलमास में शिव के पूजन में सवा लाख "पारथियों" की पूजा का विधान है । 'सूर-सागर' का धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक महत्व, इस प्रकार, सवा लाख वाली किंवदन्ती के मूल में रहा होगा । 'श्रीमद्‌भागवत' में कुल श्लोकों की संख्या अठारह हजार आती है जिसके आधार पर सूर के पद-प्रणयन की बात कही गयी है । लगता है, मूल से भी अधिक श्रेय अनुसर्ता को प्रदान करने के निमित्त 'सूरसागर' के पद-परिमाण को लाख-सवा लाख तक बढ़ा दिया गया होगा जो भक्तों-प्रशंसकों के स्वभाव के अनुकूल ही समझा जायेगा । कन्नड़ के प्रसिद्ध भक्त-कवि पुरन्दर के विषय में जनश्रुति है कि उन्होंने कृष्ण-लीला के चार लाख पद प्रणीत किये ।[4] इस प्रकार भक्त-कवियों की पद-रचना को बढ़ा-चढ़ा कर परिगणित करना-कराना भक्त-परम्परा में प्रतिष्ठित-सा प्रतीत होता है ।

'सूरसागर' की वर्तमान प्रतियों में सात-आठ हजार के आसपास ही पद संगृहीत मिलते हैं । यह भी उल्लेख उपलब्ध है कि बादशाह अकबर ने सूर-रचित पदों की तलाश करायी और यह घोषणा करवा दी कि उन पदों को लाने वाले को "रुपैया और मोहौर" दिये जायेंगे । इस पर अनेक "पंडित कवीस्वर" लोग "चोरी" के पद लाये, किंतु उनका छल प्रकट हो गया और वे लज्जित होकर घर लौट गये ।[5] अतएव, ऐसा विश्वास किया जा सकता है कि 'सूरसागर' के प्राप्त पदों में भी अनेक पद दूसरों के सम्मिलित हो गये होंगे । इसी आलोक में आचार्य शुक्ल की यह टिप्पणी महत्त्वपूर्ण हो सकती है—"सूरसागर वास्तव में एक महासागर है जिसमें हर एक प्रकार का जल आकर मिला है । जिस प्रकार उसमें मधुर अमृत है, उसी प्रकार कुछ खारा, फीका और साधारण जल भी । खारे, फीके और साधारण जल से अमृत को अलग करने में विवेचकों को प्रवृत्त रहना चाहिये ।"[6]

---

1. 'सूरदास की वार्ता' (मीतल), पृ० 53-55
2. 'सूर-निर्णय', पृ० 170-74
3. 'सूर-सौरभ', पंचम संस्करण, पृ० 104
4. डॉ० एन० एस० दक्षिणामूर्ति : 'हिन्दी और तेलुगु के कृष्ण-काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन' (1967), पृ० 46
5. 'सूरदास की वार्ता' (मीतल), पृ० 4
6. 'सूरदास' (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल), पृ० 208

हमारा अनुमान है कि सूर-रचित वास्तविक पद-राशि अब तक अवश्य प्राप्त हो गयी होगी और उनकी कारयित्री प्रतिभा के सम्यक् प्रशंसन के लिए यही आवश्यक है कि सम्प्रति प्रकाशित 'सूरसागर' में से, नीर-क्षीर-विवेक की पद्धति पर, शुद्ध "अमृत" रस को निकाल अलग कर लिया जाय।

'सूरदास' के अध्येताओं के सम्मुख उसके मूल स्वरूप की समस्या अद्यावधि बनी हुई है : वह मूलतः लीलात्मक था अथवा स्कंधात्मक ? कृष्णानन्द व्यासदेव द्वारा सम्पादित 'संगीत राग कल्पद्रुम' के द्वितीय खण्ड के रूप में प्रकाशित सूर के पदों के आधार पर, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, ने सन् 1863 ई० में पहला सुविज्ञात 'सूरसागर' प्रकाशित किया जिसके अनेक संस्करण 1902 ई० तक छपते रहे जो उसकी लोकप्रियता का प्रमाण है। इसमें लगभग साढ़े तीन हजार पद संकलित हैं। यह "लीलात्मक" है, अर्थात् इसमें लीला-क्रम से पद संकलित हुए हैं। तदनन्तर, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, द्वारा राधाकृष्ण-दास के संवादकत्व में दूसरा 'सूरसागर' सन् 1907 ई० में प्रकाशित किया गया। इसमें साढ़े चार हजार पद संकलित हैं। यह 'सूरसागर' "स्कन्धात्मक" है। इसमें कृष्णचरित बारह स्कंधों में संगृहीत है। सम्भवतः यही स्कंधात्मक स्वरूप का पहला 'सूरसागर' है। तदनन्तर, काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने जगन्नाथ प्रसाद 'रत्नाकर' द्वारा पूर्व-सम्पादित अपूर्ण 'सूरसागर' के आधार पर, सन् 1950 ई० में नन्ददुलारे वाजपेयी के सम्पादकत्व में 'सूरसागर' दो खण्डों में प्रकाशित किया। इसके चतुर्थ संस्करण के अनुसार इसमें 4936 पद संकलित हैं और 270 पद संदिग्ध मानकर परिशिष्ट में दिये गये हैं। यह 'सूरसागर' "स्कन्धात्मक" है। साहित्य के विद्वानों तथा विद्यार्थियों के बीच सभा वाले 'सूरसागर' को प्रचुर ख्याति एवं लोकप्रियता मिली है।

किन्तु, सभा वाले 'सूरसागर' में भी विद्वानों ने शीर्षक इत्यादि से सम्बन्धित अनेक दोष प्रदर्शित किये हैं। काँकरौली विद्या विभाग के संचालक कण्ठमणि शास्त्री द्वारा इसमें अनेक प्रक्षिप्त पदों का निर्देश किया गया है। प्रभूदयाल मीतल ने 'हिन्दी अनुशीलन' के एक अंक में इस संस्करण की त्रुटियों का विशद विवेचन किया है।[1]

सभा वाले प्रकाशन के बाद 1965 ई० में जवाहरलाल चतुर्वेदी द्वारा 'सूर-सागर' का प्रथम खण्ड प्रकाशित किया गया। श्रीकृष्ण-जन्म से माखनचोरी तक के केवल 494 पद इसमें संगृहीत हुए हैं। उनके देहावसान के कारण शेष खण्ड प्रकाशित नहीं हुए। प्रकाशित खण्ड का स्वरूप लीलात्मक ही है। इसमें "सूरसागर-मूलपुरुष" का वंश-वृक्ष दिया गया है जिसकी दो शाखाओं के अन्तर्गत पदों के तीन वर्ग निर्दिष्ट किये गये हैं।

इधर हाल में अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, काशी ने 'सूर-ग्रन्थावली' चार खण्डों में प्रकाशित की है जो सटीक है। यह भी लीलात्मक क्रम में संपादित हुआ है। लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, ने भी 'सूरसागर' का अपना पहला खण्ड प्रकाशित किया है। यह भी सटीक है और इसमें सभा वाले स्कन्धानुसारी 'सूरसागर' का ही अनु-सरण किया गया है।

इन सूरसागरों के अतिरिक्त अनेक अन्य 'सूरसागर' भी अतीत में प्रकाशित हुए हैं जो अपूर्ण हैं तथा जिनके पाठ विकृत हैं। मीतलजी द्वारा निर्दिष्ट इन प्रतियों में तेरह

1. 'सूर का श्रृंगार-वर्णन' (लेखक-कृत), प्रथम संस्करण, पृ० 20 (द्वितीय खंड)

लीला-क्रमानुसारी तथा सात कथा-क्रमानुसारी हैं। उल्लेखनीय है कि पहली श्रेणी की प्रतियाँ दूसरी श्रेणी की प्रतियों की तुलना में अधिक प्राचीन दीखती हैं।[1] अतएव, ऐसा प्रतीत होता है कि सूरदास के जीवन-काल तक सूरसागरीय प्रतियों का स्वरूप लीला-क्रमानुसारी ही था।

स्कन्धात्मक स्वरूप का एकमात्र आधार 'चौपाई-बंध' वाली शैली की रचना है जो स्कन्धीय संस्करणों में उपलब्ध होती है। 'चौपाई' छन्द वाले अंश प्रायः पौराणिक वातावरण से व्याप्त हैं। पंडितों ने निर्दिष्ट किया है कि ऐसे बन्धों में अभिव्यक्त विचार सूर की ज्ञात, परिनिष्ठित विचारधारा से भिन्नता रखते हैं। उदाहरणार्थ, द्वितीय स्कन्ध की एक चौपाई में "भक्त-पंथ" के अनुसरण को "अष्टांग जोग" के साथ जोड़ दिया गया है जो भ्रमरगीत-प्रसंग में उपवर्णित सूर की प्रसिद्ध भक्ति-प्रशस्ति के विरोध में पड़ता है।[2] दानलीला से सम्बन्धित एक चौपाई छन्द में कृष्ण की आयु सोलह वर्ष बताई गई है जबकि अनेक पदशैली वाले छन्दों से कृष्ण की व्रजलीलाओं की अधिकतम आयु बारह वर्ष ठहरती है। यद्यपि राधा-कृष्ण की अवस्था-निर्देश में कवि ने पदों में भी सावधानी नहीं बरती है[3], तथापि 16 वर्ष की आयु का उल्लेख इनमें उपलब्ध नहीं होता। यह भी विचारणीय है कि 'चौपाई' छन्दों में ही भागवतानुसार वर्णन करने का उल्लेख प्राप्त है जबकि पद-शैली वाले छन्दों में नहीं। इन अन्तःसाक्ष्यों के आलोक में यही मानना युक्तिसंगत है कि 'सूरसागर' का मूल स्वरूप लीला-क्रमानुसारी था और यह भी कि चौपाई शैली वाले अंश बाद में किसी अन्य व्यक्ति ने जोड़ दिये हैं। इसकी पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि ज्ञात प्राचीनतम प्रतियों में 'चौपाई' वाले छन्द संकलित नहीं हुए हैं।[4]

आन्तरिक साक्ष्यों के अतिरिक्त, ऐसे बाह्य साक्ष्य भी उपलब्ध हैं जिनसे 'सूर-सागर' के स्कन्धात्मक न होने का तथ्य सिद्ध होता है।

दशमस्कंध (भागवत) की लीलाओं का गान ही सूर जैसे भक्त-गायकों का मूल उद्देश्य था। पुष्टिमार्गीय मन्दिरों में कृष्ण की अष्टयाम सेवा का क्रम आचार्य वल्लभ से लेकर आज तक प्रचलित है। यह सेवा पूर्णतः "लीलानुसारिणी" है। सूर 'मंगला' आरती (प्रातःकालीन) के अतिरिक्त अन्य सेवा-क्रमों से सम्बद्ध पद भी बनाकर गाते रहते थे। उनकी दृष्टि मूलतः लीला-विषयिणी थी। उन्होंने 'भागवत' के स्कन्धानुसार पदों का प्रणयन नहीं किया। यदि ऐसी उनकी योजना होती, तो छठे स्कंध का वृत्तासुर-प्रसंग उनके 'सागर' में कैसे छूट जाता, जबकि यह प्रसंग "पुष्टिमार्गीय शरणागति" का मूल प्रसंग है जिसमें भागवती "पोषण-लीला विस्तार से पल्लवित हुई है ?" इन्द्र-अहल्या जैसे "निर्लज्जतापूर्ण तथा अवांछनीय" प्रसंग का उपनिबन्धन भी (जो 'भागवत' में नहीं है) सांकेतिक महत्त्व रखता है, अर्थात् स्कंधानुसार रचना करने वाले सूर इस प्रसंग को छोड़

1. 'सूर का शृंगार-वर्णन' (लेखक-कृत), प्रथम संस्करण, पृ० 18-20 (द्वि० खं०)।

2. सू० सा० (सभा), छं० 21

3. 'सूर का शृंगार-वर्णन', पृ० 302-05

4. 'हिन्दुस्तानी' त्रैमासिक, सूर विशेषांक, (1978), "सूरसागर के मूल स्वरूप की समस्या" शीर्षक निबन्ध।

कर वृत्तासुर-प्रसंग को ही समाविष्ट करते। महाप्रभु द्वारा प्रणीत दशमस्कन्ध की 68 श्लोकों वाली 'अनुक्रमणिका' और उसकी 'सुबोधिनी' टीका से भी "भागवत की स्कन्धात्मक क्रमबद्धता" का समर्थन नहीं होता। प्रतीत होता है, "अर्ध-पौराणिक लोगों" ने 'सूरसागर' को स्कन्धात्मक रूप प्रदान किया होगा। 'सागर' की वर्ण्यवस्तु प्रथमतः भागवत-प्रेरित है, द्वितीयतः "पुराणान्तर-भाषित" है और शेष वल्लभ तथा विट्ठलनाथ के "प्रसाद" अथच "सूर की दिव्य प्रतिभा" की प्रसूति है। "अतः सूर के सागर में न अध्याय हैं, न सर्ग, न स्कन्ध हैं, न सोपान। यह तो ऐसा अखंडित, शाश्वत और मधुर प्रवाह है जो लगभग एक शताब्दी तक निरन्तर चलता ही रहा और इस भावसागर को संतत उद्वेलित करता रहा श्रीमद्भागवत का शीतल-सुखद समीर।"[1]

इन साक्ष्यों से भी प्रमाणित होता है कि लीलात्मक रूप ही 'सूरसागर' का मूल रूप है।

इस सन्दर्भ में हम यह कह देना चाहते हैं कि "प्रायः खण्ड-कथानकों के रूप में" मिलने वाली सूरसागरीय लीलाओं से यह स्थापना नहीं की जा सकती कि 'सूरसागर' 'प्रबन्ध-काव्य' है। हम इसे मूलतः 'कीर्त्तन-काव्य' मानते हैं जिससे यह अभिप्राय निकलता है कि यह मुख्यतया मुक्तकीय गेय पदों का अक्षय्य कोष है। कृष्णचरित से सम्बद्ध होने के कारण थोड़ी-बहुत कथात्मकता का सन्निवेश तो अनिवार्य ही था। 'सागर' में लक्षित "गीतात्मकता और कथात्मकता के अपूर्व संयोग" के विषय में हम कहना चाहेंगे कि "गीतात्मकता सूर की प्रियता एवं प्रेरणा है जबकि कथात्मकता कृष्णचरित-गान करने की उनकी पसन्द का परिणाम है, फोकट का माल है।"

अब प्रश्न है, किस लीलानुक्रम से 'सूरसागर' का सम्पादन किया जाय ? मीतलजी ने "सूरसम्मत" क्रम की बात कही है। हम समझते हैं, मनमौजी गायक भक्त सूरदास का अपना कोई अनुक्रम वांक्षित नहीं था; अन्यों ने उनके कीर्तनों का, सम्भव है, अष्टयाम सेवा-विधि के अनुरूप संकलन किया हो। ऐसा अनुक्रम स्थापित करने में, ज्ञात-अज्ञात भाव से, 'सूरसागर' को गीतात्मक प्रबन्ध-काव्य मानने का लोभ भी असर डालता है। इसी दृष्टि से, विद्वानों ने लीला-पदों में पूर्ववर्णित अथवा वर्ण्य लीलाओं के उल्लेख खोजे हैं और "सूर की गाई हुई लीलाओं के मूल स्वरूप के पुनरुद्धार में पर्याप्त सफलता" मिलने की बात कही है। हमारी राय में ये तमाम सुझाव नितान्त 'अकैडेमिक' दिलचस्पी की उपज हैं। भक्ति का क्रमबद्ध विकास प्रदर्शित करना भी सूर के मधुर 'रस-काव्य' के आस्वादन-हेतु आवश्यक नहीं है। यदि 'सूरसागर' के 'भजनानन्दी' स्वरूप के संरक्षण का पूर्वाग्रह न हो और काव्य-रस की विवृति प्रकाम्य हो, तो हम संलग्न अनुक्रम का सुझाव देंगे। विनय के पदों को प्रारम्भ अथवा अन्त में रखा जा सकता है, यद्यपि हम उन्हें आरम्भ में ही रखना चाहेंगे। राम-कथा वाले पद, अन्य अवतारों से सम्बद्ध पद और अन्यान्य फुटकर प्रसंग परिशिष्ट में संकलित किये जा सकते हैं। 'चौपाई' छन्दों की संदिग्धता अवश्य एक महत्त्वपूर्ण विचार उपस्थित करती है। हम भी इन्हें सन्देहास्पद मानने के हिमायती अपने को महसूस करते हैं। अतएव, साहस के साथ ऐसे अधिकांश

1. 'सूर-ग्रंथावली' (प्रथम खंड), विक्रम परिषद्, भूमिका, द्रष्टव्य।

पद्य-समूह को काट देना ही उचित होगा।[1] जब सूर-नामधारी सोलह कवियों की खोज की जा चुकी है,[2] तब ऐसी छन्द:राशि को किसी अन्य सूरदास के लिए सुरक्षित छोड़ा जा सकता है।

अनुक्रम के अलावा, भ्रष्ट अथवा विकृत पाठ का प्रश्न भी 'सूरसागर' के अध्येताओं के लिए कठिनाई उत्पन्न करता है। लिपिकारों के प्रमाद से पाठ की अनेक गलतियाँ मिलती हैं जिनसे अनेक पदों का अर्थ नहीं खुलता। इस पाठ-संशोधन के हेतु आवश्यक है कि उपलब्ध सभी प्राचीन एवं अर्वाचीन प्रतियों के पाठ का मिलान किया जाय। 'सूरसागर' में अवधी, बुन्देलखंडी, भोजपुरी, पंजाबी, अरबी, फारसी आदि के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। अतएव, पाठ-संशोधन अर्थ-दृष्टि से करने के लिए विभिन्न कोशों का उपयोग भी अपेक्षित होगा। शीर्षकों के उपन्यास में भी पर्याप्त सावधानी वांछनीय है। सबसे महत्त्वपूर्ण है भाषिक प्रयोगों अथवा भाषिक संरचना की विदग्ध दृष्टि। हम समझते हैं, इस दृष्टि के उपयोग से 'सूरसागर' का वर्तमान कलेवर शायद बहुत घट जायेगा और आ० शुक्ल द्वारा निर्दिष्ट "मधुर अमृत" के विपरीत, "खारा, फीका और साधारण जल" बहुत-कुछ निकल जायेगा।

'सारावली' : अप्रामाणिक रचना—अन्तस्परीक्षण

(अ) प्रस्तावना

'सारावली' की कोई प्राचीन मुद्रित अथवा हस्तलिखित प्रति अभी तक प्राप्त नहीं हुई है। वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, तथा नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, से प्रकाशित 'सूरसागरों' के प्रारम्भ में 'सारावली' पहले-पहल छपी। दोनों में इसका नाम "सूर-सागर-सारावली" मुद्रित हुआ है और दोनों में ही इसे सूरदास-रचित 'सूरसागर' के "सवा लाख पदों का सूचीपत्र" बताया गया है। 'सारावली' के छन्द, 1102-1103, में "एक लक्ष पदबन्द" का कथन उपलब्ध है[3] जिससे सामान्य अर्थ यही लिया जा सकता है कि सूर ने एक लाख पद बनाये और उन्हीं का "सार" यह "सारावली" है—"ताको सार सूर सारावलि गावत अति आनन्द।" इस "सार" पद को पकड़ कर ही, अनुमेय है, उसे 'सूरसागर' का "सूचीपत्र" कहा गया होगा।

---

1. "अधिकांश" जानबूझ कर कह रहा हूँ क्योंकि महान् से महान् कवियों की रचनाओं में भी लगातार एक-समान स्तर की उम्मीद नहीं की जा सकती।

2. 'हिन्दुस्तानी' त्रैमासिक, सूर-विशेषांक, पृ० 54

3. "करम जोग पुनि ज्ञान उपासन सबहीं भ्रम भरमायो।
श्रीबल्लभ गुरु तत्व सुनायो, लीला भेद बतायो।।
ता दिन ते हरिलीला गाई, एक लक्ष पद बंद।।
ताकौ सार सूर सारावलि, गावत अति आनंद।।"

('सारावली', 1102-03)

लेकिन, सूचीपत्र वाली बात जब तर्कसंगत नहीं जँची, तब 'सूरनिर्णय' के विद्वान् लेखक-द्वय ने "सार" से "सैद्धान्तिक तत्त्व-रूप" का अभिप्राय ग्रहण किया[1] और आज "सार" से "हरिलीला का सार" (तत्त्व) अर्थ सामान्यतः स्वीकृत हो गया है।[2] यह भी कहा गया है कि जैसे आचार्य वल्लभ ने अपने भक्त-पुत्रों, गोपीनाथजी तथा विट्ठलनाथजी, के हितार्थ 'श्रीमद्भागवत' के सार-रूप में क्रमशः 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' तथा 'त्रिविधलीलानामावली' नामक अत्यन्त संक्षिप्त ग्रंथों की रचना की, वैसे ही "आचार्य की यह संक्षेप-प्रवृत्ति" बहुत अधिक रूप में प्राप्त करने वाले सूरदास ने "सहस्रावधि (लक्षावधि) पद वाले" अपने 'सागर' को भी 'सारावली' के 1107 युग्मों में सिंक्षिप्त कर दिया है।[3] तथापि, 'सूरसागर' से 'सारावली' में भिन्नताएँ देखकर, इन्हीं विद्वानों ने यह संशोधन भी प्रस्तुत किया है कि 'भागवत' की सर्गविसर्गादि दशविध लीलाओं की "व्यवस्थित और संक्षिप्त चर्चा" 'सारावली' में हुई है और इस प्रकार, 'सारावली' 'सूरसागर' का नहीं, श्रीमद्भागवत का सार" है।[4]

वस्तुतः ये तमाम तर्क उन विद्वानों के द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं जो 'सारावली' को सूरदास की प्रामाणिक रचना मानते हैं। लेकिन, जब 'सूरसागर' से इसमें भिन्नताएँ दृष्टिगोचर हुईं, तब जैसे इसे भागवत का सार बताया गया, वैसे-ही विद्वानों ने इसे "सूरसागर का सारांश" रूप एक "स्वतंत्र ग्रंथ" भी बताया है।[5] "स्वतंत्र" रचना वाली बात से प्रस्तुत लेखक भी सहमत है, किन्तु इसे 'सूरसागर' का सार अथवा 'सूरसागर' वाले सूर की रचना मानने के लिए तत्पर नहीं है। 'सारावली' की अप्रामाणिकता सिद्ध करने वाले विद्वानों में डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा तथा डॉ० (स्व०) प्रेमनारायण टंडन के प्रयास उल्लेखनीय हैं। किन्तु, जहाँ डॉ० वर्मा ने 'सारावली' के केवल कतिपय प्रसंगों की 'सूरसागर' से सरसरी तुलना की है, वहाँ डॉ० टंडन ने 'सारावली' तथा 'सूरसागर' के भाषा-विषयक समान दीखने वाले उद्धरणों का ही मूलतः समाश्रयण किया है। विवक्षा यह है कि 'सारावली' की प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता, दोनों पक्षों के पोषकों ने ने उसकी सूक्ष्म तुलना न भागवत से, न 'सूरसागर से ही की है।

इधर 'हिन्दुस्तानी त्रैमासिक' के 'सूर-विशेषांक', 1978, में डॉ० सत्येन्द्र का एक विस्तृत लेख छपा है जिसमें उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि 'सारावली' एक "अव्यवस्थित और जोड़-तोड़ से युक्त कृति" है जिसे एक कवि की रचना नहीं माना जा सकता। समझी गयी पुष्पिकाओं के आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि उसमें

---

1. 'सूर-निर्णय', तृतीय संस्करण, पृ० 75-77

2. 'सूर-सौरभ' (1970), पृ० 125;
'सूर-सारावली' (डॉ० मनमोहन गौतम), व्याख्या भाग, पृ० 180-82

3. डॉ० हरवंशलाल शर्मा द्वारा सम्पादित 'सूरदास' में डॉ० गोवर्धननाथ शुक्ल का लेख, "सूरसारावली के प्रणयन का रहस्य" द्रष्टव्य।

4. 'सूर-ग्रंथावली' (विक्रम-परिषद्), प्रथम खण्ड में डॉ० शुक्ल की भूमिका, पृ० 85, पठनीय।

5. डॉ० दीनदयालु गुप्त : 'अष्ठछाप और बल्लभ-साम्प्रदाय', भाग 1, पृ० 285 (संस्करण, 1970)।

"तीन लघु ग्रंथ" हैं। 'सारावली' की किसी हस्तलिखित प्रति के नहीं मिलने की बात को सत्येन्द्र ने महत्त्वपूर्ण माना है। संवत् 1880 में किया गया 'सूरसारावली' का दयारामजी कृत गुजराती अनुवाद उपलब्ध होता है जिसके पूर्व इस ग्रंथ के अस्तित्व का कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है। वल्लभ-सम्प्रदाय के भंडारों में जहाँ 'सूरसागर' की सं० 1635 वि० की हस्तलिखित प्रति मिल जाती है, वहाँ 'सारावली' का उल्लेख तक नहीं मिलता। अतः, इस दृष्टि से भी डॉ० सत्येन्द्र 'सारावली' को अप्रामाणिक रचना मानते हैं[1], किन्तु उन्होंने भी विवेच्य कृति का सम्यक् अंतरंग परीक्षण नहीं किया है।

हमने प्रस्तुत परिच्छेद में भागवत, ब्रह्मवैवर्त, गर्गसंहिता प्रभृति ग्रंथों के आलोक में 'सारावली' तथा 'सूरसागर' की विस्तीर्ण तुलनात्मक जाँच की है और इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'सारावली' प्रसिद्ध सूरदास की रचना नहीं है।

(आ) परीक्षण

(क) सृष्टि-रचना

तत्त्व-गणना—'सारावली' पुरुष तथा त्रिगुणात्मिका प्रकृति के संग से 28 तत्त्वों के प्रकटीकरण का उल्लेख करती है जिनके नाम ये बताये गये हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश (पंचभूत); शब्द, स्पर्श, गंध, रस तथा रूप (पंचतन्मात्राएँ); मन, बुद्धि, चित्त तथा अंहकार (चार अंतःकरण); प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, तक्षक, धनंजय, देवदत्त, पौण्ड्रक तथा शंख (दस प्राण); राजस, तामस तथा सात्त्विक (तीन गुण); और जीव-ब्रह्म।[2] इस सर्ग-सृष्टि को 'सारावली' ने "खेलते-खेलते" हरि के चित्त में सृष्टि-रचना के विचार आने का परिणाम बताया है।[3] 'सूरसागर' में भी भगवान् की इच्छा के अनुरूप त्रिगुणमयी प्रकृति से महत्तत्त्व; महत्तत्त्व से अहंकार, मन, इन्द्रिय, शब्दादि तन्मात्राओं; तन्मात्राओं से पंचभूतों इत्यादि के उल्लेख के अतिरिक्त, अण्ड की उत्पत्ति आदि का कथन हुआ है।[4] एक अन्य पद में सांख्यानुसार, तनिक अधिक व्यवस्थित वर्णन सर्ग-सृष्टि का उपलब्ध होता है।[5]

'भागवत' के अनेक संदर्भों में सृष्टि-रचना का प्रकरण वर्णित हुआ है। तीसरे स्कन्ध में भगवान् कपिल ने अपनी माता देवहूति से, सांख्यशास्त्र का निरूपण करते हुए, भिन्न-भिन्न तत्त्वों की उत्पत्ति का वर्णन किया है। वहाँ "वैष्णवी माया" अथवा 'प्रधान' संज्ञक त्रिगुणात्मक प्रकृति से पंच महाभूतों, पंच तन्मात्राओं, चार अन्तःकरणों तथा दस इन्द्रियों वाले 24 तत्त्वों के प्रकटीकरण का उल्लेख हुआ है।[6] ये 24 तत्त्व सगुण ब्रह्म के सन्निवेश-स्थान हैं। इनके अतिरिक्त, पच्चीसवाँ तत्त्व 'काल' है जिसे पुरुष अथवा

---

1. 'हिन्दुस्तानी,' सूर-विशेषांक, 1978, पृ० 30-35
2. 'सारावली', छं० 7-10
3. वही, 5
4. 'सूरसागर', 380
5. वही, 394-95
6. 'भागवत' 3/26/10-11

ईश्वर की संहारकारिणी शक्ति बताया गया है। वास्तव में, पुरुष-रूप भगवान् ही "काल" हैं और वही पच्चीसवाँ तत्त्व है।[1] अन्यत्र इन तत्त्वों की क्रमिक उत्पत्ति का वर्णन 'भागवत' में उपलब्ध होता है, किन्तु तत्त्व-संख्या प्रायः सदैव 25 ही बतायी गयी है।[2]

'भागवत' को "प्रस्थान-चतुष्टय" में सम्मिलित करने वाले वल्लभाचार्य ने सृष्टि के आदि में परमतत्त्वभूत 28 तत्त्वों के प्रादुर्भाव का निरूपण किया है। सांख्यशास्त्र में निरूपित तत्त्वों की संख्या 'भागवत' की संख्या 25 से मिलती है। महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि जहाँ सांख्य दार्शनिक दृष्टि से 'विकृत परिणामवाद' का समर्थक है, वहाँ 'भागवत' में 'अविकृत परिणामवाद' को स्वीकृति मिली है जिसे ही वल्लभ ने भी स्वीकार किया है।[3] किन्तु, उन्होंने प्रकृति के तीन गुणों को भी पृथक् तत्त्व मान लिया है और इस प्रकार तत्त्वों की संख्या 28 कर दी है।[4]

'सारावली' का तत्त्व-वर्णन न तो पूर्णतः 'भागवत' से मिलता है, न वल्लभ-मत से ही। शुद्धाद्वैतीय दर्शन में परिगणित तत्त्वों की संख्या अवश्य 28 है जो संख्या 'सारावली' की संख्या से मेल खाती है। लेकिन, 'सारावली' में जहाँ वल्लभ-मतानुसार तीन गुणों को भी तत्त्व माना गया है जो 'भागवत' के विपरीत है, वहीं 'भागवत' में कथित अन्तःकरण के चतुर्विध रूपों को भी तत्त्वों में परिगणित किया गया है जो वल्लभ-दर्शन के विपरीत है। पुनः, 'सारावली' की तत्त्वगणना में दस इन्द्रियों को पूर्णतः छोड़ दिया गया है जो सांख्य 'भागवत' तथा वल्लभ-मत में समान भाव से तत्त्व-रूप में गृहीत हुई हैं। इन्द्रियों के बदले 'सारावली' ने प्राण, अपान प्रभृति दस प्राणों को तत्त्व कोटि में गिनाया है। इस प्रकार, डॉ० दीनदयालु गुप्त का यह कथन कि 'सारावली' की तत्त्वगणना "वल्लभाचार्य के मतानुसार ही" है, भ्रान्तिपूर्ण है।[5]

---

1. भागवत, 3/26/14-18

2. वही, 2/5/23-31; 3/5/25-36; 3/26/10-18; 3/26/21-31; 3/26/41-52

3. दूध का दही बन जाना 'विकृत परिणामवाद' है क्योंकि यहाँ दही पुनः दूध नहीं बन सकता। इसके विपरीत, 'अविकृत परिणामवाद' वह है जिसमें कोई पदार्थ परिणत या अन्य वस्तु में परिणमित होकर भी, पुनः अपने असली, मूल रूप में, आ जाय। 'भागवत' का निम्न श्लोक यही संकेत करता है—

"यथा हिरण्यं स्वकृतं पुरस्तात्
पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य ।
तदेव मध्ये व्यवहार्यमाण
नानापदेशैरहमस्य तद्वत् ॥" (11/28/19)

सोने के कुण्डल, कंगन इत्यादि अनेक आभूषण बनते हैं, किन्तु उनके आभूषण बनने के पूर्व भी सोना था और आभूषण नहीं रहने पर भी सोना बना रहेगा। अतः जब बीच में कंगन, कुण्डल आदि नामों का व्यवहार होता है, तब भी वह सोना ही है; इसी प्रकार जगत् का आदि और अन्त मैं ही हूँ। वस्तुतः मैं ही एक मात्र सत्य-तत्त्व हूँ।' शुद्धाद्वैत में निरूपित "सुवर्णाद्वैत" सही है और यही 'अविकृत परिणामवाद' है। ब्रह्म परिणामी है, किन्तु उसमें मौलिक विकार नहीं आता।

4. 'तत्वदीपनिबन्ध'—सर्वनिर्णयपकरण।

5. 'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय' (1970), द्वि० भाग, पृ० 442

'सूरसागर' के सर्ग-वर्णन का, जैसा पहले कहा है, 'भागवत' से पूर्ण साम्य है। वहाँ न तो तीन गुणों और न ही दस प्राणों को तत्त्व-कोटि में गृहीत किया गया है। इसके विपरीत, दशविध प्राणवायुओं को तत्त्वों में सम्मिलित कर, 'सारावली' ने 'भागवत', वल्लभीय दर्शन तथा 'सूरसागर', तीनों से विलक्षणता अर्जित कर ली है। उसका रचयिता, 'सूरसागर' वाले सूरदास से अवश्य भिन्न व्यक्ति है, क्योंकि सचेष्ट भाव से, ''व्यवस्थित'' रूप में उपनिबद्ध सर्ग-विसर्गादि लीलाओं के वर्णन में सूरदास 'भागवत' अथवा अपने गुरु वल्लभाचार्य के दार्शनिक निरूपणों का उल्लंघन नहीं कर सकते थे।

पांचरात्र की प्रसिद्ध 108 संहिताओं में अन्यतम 'विश्वक्सेन संहिता' में पंच-विंशति तत्त्वों की जो गणना करायी गयी है, उसमें पंचतन्मात्राओं की जगह पंचप्राणों को समाविष्ट किया गया है जिनके नाम ये हैं—प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान। उल्लेख्य है कि यहाँ 'सारावली' के दस प्राणों में से केवल पाँच प्राणों का ही सन्निवेश हुआ है।[1] हमारा अनुमान है कि पांचरात्र संहिताओं में से किसी-न-किसी संहिता में दस इन्द्रियों के बदले दस प्राणों का परिगणन किया गया होगा और वहीं से 'सारावली' के रचयिता ने अपनी तत्त्व-गणना ली होगी। कठिनाई यह है कि यद्यपि ये सभी संहिताएँ या तो छपी नहीं हैं या फिर एक बार छपकर आज अनुपलब्ध हो गयी हैं।

विसर्ग-लीला—''सर्ग'' लीला के अनंतर ''विराट्-पुरुष'' से उत्पन्न ब्रह्मा के द्वारा जो विभिन्न चराचर सृष्टियों का निर्माण होता है, उसे ''विसर्ग'' कहा गया है, जबकि पंचभूतादि की उत्पत्ति ''सर्गलीला'' कही गयी है।[2] 'सारावली' में छन्द 17 से छन्द 34 तक विधाता के होली के सरस खेल-रूप में ''नाना रचना'' करने का वर्णन हुआ है। 'सूरसागर' में भी कई पदों में यह विसर्ग-लीला वर्णित हुई है।[3] 'भागवत' में यह विसर्ग-रचना अत्यन्त विस्तीर्ण रीति से कई स्थलों पर प्रकीर्तित है।[4] सामान्यतः 'सागर' तथा 'सारावली' दोनों के विसर्ग-वर्णन 'भागवत' से साम्य रखते हैं। 'सारावली' का वैशिष्ट्य यह है कि उसमें विधाता का सम्पूर्ण रचना-प्रपंच ''होली के समाज'' के रूप में वर्णित हुआ है। देव-दानव युद्ध में रुधिर की पिचकारियाँ छूटने और लोकपालों, सुर-असुरों प्रभृति को ''फगुवा'' (होली का उपहार) दिये जाने का कथन कर 'सारावली' अपनी होली-रूपक-योजना को प्रांजल बनाती है।

तथापि, प्रस्तुत संदर्भ में 'सारावली' द्वारा वर्णित लोकों का विवेचन अपेक्षित प्रतीत होता है। वह चौदह लोकों का कथन करती है।[5] किन्तु, सत्यलोक, जनलोक,

---

1. ''मूलप्रकृतिमहदहंकाराकाशवायुवह्निवारिवसुन्धरावाक्पाणिपादपायूपस्थ-श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणमनःप्राणापानव्यानोदानसमानजीवाः पञ्चविंशतितत्त्वानि।'' (5/54)

—'विश्वकानेनसंहिता', केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, 1972

2. 'भागवत', 2/9/19
3. 'सूरसागर', 370, 371 तथा 387-394
4. 'भागवत',2/5/33-36; 2/5/38-41; 2/6; 5/1/30-33; 5/2/19-21; 5/4/8-9; 5/16; 5/19; 5/20; 5/24; 5/25।
5. 'सारावली', 17

तपलोक, महःलोक तथा निजलोक—इन पाँच का (जिनमें से चार भागवतानुसार सात लोकों में से हैं) और अतल, वितल, तलातल, महातल, पाताल तथा रसातल—इन छह का ही (जो भागवतोक्त सात अधःलोकों में से हैं) नामोल्लेख वहाँ उपलब्ध है।[1] अधःलोकों में से छह के नाम गिना कर, दूसरी पंक्ति में वह "सातों" का कथन कर देती है, अतः 'सुतल' भी उसका अभिप्रेत माना जा सकता है जिसे मिलाकर सात अधोलोक हो जाते हैं। ऊर्ध्वलोकों में 'सारावली' ने भूलोक, भुवलोक तथा स्वर्लोक का उल्लेख नहीं किया है, अपितु "निजलोक" का कथन कर उसे "ध्रुवराज" (भक्त ध्रुव) के विराजने की स्थली बताया है—"जहँ राजत ध्रुवराज महानिधि, निसदिन रहत असोक।"[2]

सम्बद्ध छन्द का अर्थ डॉ० गौतम ने यह किया है कि सत्यलोक, जनलोक, तपलोक एवं महःलोक भगवान् के 'निजलोक' हैं और यहाँ ध्रुवजी सदानन्द-रूप में सदा निवास करते हैं।[3] किन्तु, भागवत से इस अर्थ का अनुमोदन नहीं मिलता। भागवत के एक संदर्भ में यह उल्लेख आया है : "भूः, भुवः तथा स्वः, ये ही तीन लोक भगवान् के जीवों के भोगस्थान हैं; जो निष्काम कर्म करते हैं, वे महः, तपः, जनः तथा सत्य लोकों को प्राप्त करते हैं जो "ब्रह्मलोक", अर्थात् ब्रह्मा के लोक हैं।"[4] विवक्षा यह है कि ये चारों भगवान् के निम्न लोक नहीं हैं, जैसा डॉ० गौतम समझते हैं।

एक अन्य प्रसंग में इन लोकों का यों उल्लेख आया है : समस्त लोक भगवान् के एक पादमात्र (अंशमात्र) हैं और उन अंशभूत लोकों में समस्त प्राणी निवास करते हैं। भूलोक, भुवर्लोक तथा स्वर्लोक के ऊपर महर्लोक है। उसके भी ऊपर जन, तपः एवं सत्य लोक हैं जिनमें क्रमशः अमृत, क्षेम तथा अभय का नित्य निवास है। जन, तपः एवं सत्य, इन तीन लोकों में ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ एवं संन्यासी निवास करते हैं। दीर्घकालीन ब्रह्मचर्य से रहित गृहस्थ भूलोक, भुवर्लोक तथा स्वर्लोक के भीतर ही निवास करते हैं।[5] विष्णुधाम के विषय में यह उल्लेख उपलब्ध होता है : "प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्र, इन आठ प्रकृतियों के सहित दस इन्द्रियाँ, मन तथा पंचभूत, इन सोलह विकारों से मिलकर निर्मित ×××× ब्रह्माण्ड जिसमें परमाणु के समान स्थित है और जिसमें ऐसी करोड़ों ब्रह्माण्ड-राशियाँ हैं, वह उन प्रधानादि समस्त कारणों का कारण अक्षरब्रह्म कहलाता है और यही पुराण-पुरुष परमात्मा श्री विष्णु भगवान् का श्रेष्ठ धाम है।"[6]

इन उपर्युक्त उल्लेखों को मिलाकर देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सत्य, जनः, तपः एवं महः— ये लोक भगवान् के "निजलोक" नहीं हैं। इनमें तो ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ एवं संन्यासी ही निवास करते हैं। ध्रुवराज को अन्ततः वैकुण्ठ या विष्णुलोक मिल गया था जो भगवान् का निजधाम नित्य दिव्यधाम है, क्योंकि ध्रुव दिव्य विमान पर बैठकर त्रिलोकी को पार कर सप्तर्षिमंडल से भी बहुत ऊपर, 13 लाख योजन ऊपर, भगवान् विष्णु के नित्यधाम में पहुँच गये थे।[7] यह दिव्यधाम या भगवान् का निजलोक

1. सारावली, 22
2. वही, 22
3. 'सूरसारावली', व्याख्या भाग, पृ० 8
4. भागवत, 3/10/89
5. वही, 2/6/18-19
6. वही 3/11/39-41
7. भागवत, 4/12/32-35

ध्रुवलोक से भी उच्चतर, ऊपर अवस्थित है और इसे ही उनका "परमपद" भी कहा गया है। यथा—

"अथ तस्तात्परतस्त्रयोदशलक्षयोजनान्तरतो यत्तद्विष्णोः परमं पदभिवदन्ति यत्र ह महाभागवतो ध्रुव औत्तानपदिरग्निनेन्द्रेण प्रजापतिना कश्यपेन धर्मेण च × × × × उपवर्णितः।"[1]

अतएव, यदि 'सारावली' सत्यलोक, जनलोक प्रभृति को भगवान् का "निज-लोक" कहती है, तो वह भागवतीय मान्यता से अनभिज्ञ समझी जायेगी। और, यदि उसने सत्यलोक, जनलोक, तपलोक तथा महर्लोक, इन चार का ही उल्लेख कर, उसी साँस में भगवान् के निजलोक का कथन कर दिया है, जैसा प्रस्तुत लेखक समझता है, तब निश्चय ही, उन सप्त ऊर्ध्वलोकों के कथन में लापरवाही बरती गयी है। उसे केवल इनके नाम गिनाना अभीष्ट था, किन्तु वह यह भी नहीं कर सकी।

(ख) अवतार-वर्णन

हयग्रीवावतार—'भागवत' की दशविध लीलाओं में अवतार-वर्णन का अपना महत्त्व है जिसे "ईशकथा" कहा गया है।[2] 'सारावली' के अवतार-वर्णन का प्रायः 'भागवत' तथा 'सूरसागर' से साम्य है। 'भागवत' के अनुसार हरि के असंख्य अवतार हुआ करते हैं; ऋषि, मुनि आदि भगवान् के अंशावतार हैं जबकि श्रीकृष्ण स्वयं अवतारी, अर्थात् भगवान् ही हैं—"एते चांशकलाः पुंसः कृष्णास्तु भगवान् स्वयम्।"[3] वैसे ही, 'सागर' तथा 'सारावली' का भी भगवान् के अवतारों की अगणेयता में विश्वास है और कृष्ण को वे पूर्णावतार मानते हैं।[4]

अन्यान्य अवतारों का प्रसंग छोड़कर, हम वर्तमान विवेचन में केवल दो अवतारों का परीक्षण करना चाहते हैं : पहला, 'हयग्रीवावतार' और दूसरा, 'नृसिंहावतार'।

'सारावली' में शंखासुर द्वारा चारों वेद चुराये जाने तथा भगवान् के हयग्रीव-रूप धारण कर उसे मारने और वेदों के उद्धार करने का वर्णन आता है।[5] 'सूरसागर' में हयग्रीवावतार का उल्लेख मात्र हुआ है, उसका वर्णन नहीं।[6] भागवत का कथन है कि हयग्रीव अवतार में भगवान् ने मधु-कैटभ नामक असुरों का संहार कर, उनके द्वारा चुराये गये वेदों का उद्धार किया।[7] महाभारत में भी मधु-कैटभ द्वारा वेदों के अपहरण तथा विष्णु द्वारा हयग्रीव-रूप में उनके उद्धरण की कथा वर्णित हुई है।[8] शंखासुर के

1. भागवत, 5/23/1
2. 'भागवत' 2/10/5
3. वही, 1/3/26-28
4. 'सूरसागर' 379; 'सारावली', 353
5. 'सारावली', 89-90
6. 'सूरसागर', 379
7. भागवत, 11/4/17; 7/9/37
8. पौराणिक कोश, पृ० 547

विषय में भागवत में उल्लेख आया है कि पंचजन नामक एक दैत्य शंखरूप धारण कर समुद्र में निवास करता था जिसे, इस अनुमान से कि उसने उनके गुरु-पुत्र को चुरा लिया होगा, कृष्ण ने जल में प्रवेश कर मार डाला और उसके शरीर का शंख (पांचजन्य) बना लिया। यह पंचजन ही शंखासुर था।[1] किन्तु, इस प्रसंग में उसके द्वारा वेदापहरण का उल्लेख नहीं है। भागवत में हयग्रीव-संज्ञक एक दैत्य का कथन हुआ है जो प्रलयकाल में सोये ब्रह्मा के मुख से निकली हुई श्रुतियों को चुरा कर पाताल में ले गया था; भगवान् ने लीला-मत्स्य-रूप में उसे मारकर श्रुतियाँ ब्रह्मा को लौटा दी थीं।[2] 'देवीभागवत' में भी हयग्रीव नामक एक असुर की कथा आती है जो महामाया से यह वर प्राप्त कर कि "हयग्रीव" (घोड़े की गर्दन वाले) के अतिरिक्त अन्य कोई उसका वध नहीं कर सकेगा, देवादि को कष्ट देने लगा था जिस कारण, भगवान् विष्णु ने हयग्रीवावतार लेकर उसका वध किया।[3] इन सन्दर्भों से प्रतीत होता है कि 'सारावली' ने श्रीमद्भागवत आदि से व्यतिरिक्त एवं किसी अन्य पौराणिक स्रोत से इस अवतार का वर्णन किया है। 'सूर-सागर' में कथा आयी है कि शंखासुर ने वेदों का अपहरण कर लिया था और ब्रह्मा की स्तुति पर भगवान् ने मत्स्य रूप धारण कर उसे मारा और वेदों का उद्धार किया।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि सूर ने किसी-न-किसी पुराण से ही यह प्रसंग ग्रहण किया होगा जहाँ मत्स्यावतार के संदर्भ में शंखासुर का उल्लेख आया होगा।[5] 'सारावली' ने हयग्रीवावतार के साथ शंखासुर को जोड़ दिया है जिसका समर्थन मेरी जानकारी में कहीं उपलब्ध नहीं होता। अतः यदि उसका रचयिता सूरसागर के रचयिता से भिन्न व्यक्ति माना जाय, तो इसमें आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

नृसिंहावतार—यह अवतार प्रह्लाद की रक्षा के लिए हुआ था। 'सूरसागर' तथा 'सारावली' दोनों में प्रह्लाद-कथा के सूत्र भागवत से संगृहीत हुए हैं। एक अन्य उभयनिष्ठ विन्दु यह है कि इन दोनों रचनाओं में प्रह्लाद की राम-भक्ति का स्पष्ट कथन किया गया है जबकि भागवत में राम-भक्ति का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। प्रह्लाद के राम-प्रेम का प्रसंग दोनों रचनाकारों ने 'नरसिंह-पुराण' से लिया है जहाँ बालक प्रह्लाद नृशंस पिता से कहता है—

"रामनामजपतां कुतो भयम्।
सर्वपापशमनैकभेषजम्॥
पश्य तात मम गात्रसन्निधौ।
पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना॥"

'सारावली' की एक अन्य विशेषता प्रह्लाद द्वारा नवधा भक्ति के साथ "प्रेमलच्छना" को जोड़ा जाना है।[6] 'सूरसागर' में वर्तमान प्रसंग में न नवधा भक्ति

---

1. भागवत, 10/45/40-41
2. वही, 8/24/61
3. पौराणिक कोश, पृ० 546-47
4. सूरसागर, 443-44
5. पौराणिक कोश, पृ० 484
6. सारावली, 116

का और न "प्रेमलच्छना" का कथन हुआ है। भागवत में प्रह्लाद ने अपने पिता से नवधा भक्ति का अवश्य निवेदन किया है, किन्तु वहाँ "प्रेमलक्षणा" का उल्लेख नहीं है।[1] विद्वानों ने दर्शित किया है कि वल्लभाचार्य ने, भागवत की 'सुबोधिनी' टीका में श्रवण-कीर्तनादि को 'साधनभक्ति' के नव प्रकार बताकर, "प्रेमरूपा" को दसवीं भक्ति बताया है जिसे ही "प्रेमलक्षणा" कहा गया है।[2] इन पंडितों ने यह मत भी व्यक्त किया है कि 'सूरसागर' में इसे ही "सुधासार-भक्ति" कहा गया है।[3] यह कथन यहाँ परीक्ष्य है।

'सूरसागर' में कपिलदेव-अवतार के संदर्भ में भक्ति का निरूपण उपलब्ध होता है। भक्ति-विषयक प्रश्नोत्तर खण्ड से उद्धृत निम्न पंक्तियाँ अवलोक्य हैं—

"माता, भक्ति चारि प्रकार। सत रज तम गुन सुद्धा सार।

× × ×

सुद्धा भक्ति मोंहिं कौं चाहै। मुक्ति हूँ कौं सो नहिं अवगाहै।"[4]

डॉ० गुप्त ने अपने प्रसिद्ध शोधग्रंथ में 'वेंकटेश्वर' प्रेस में छपे 'सूरसागर' में प्राप्त एतत्संबंधी पंक्तियों को उद्धृत किया है जिनमें "सुद्धा सार" की जगह "सुधा सार" छपा है।[5] उसका अर्थ यह है कि "सुधा-भक्ति करने वाला भक्त मुक्ति को भी नहीं चाहता।"[6] डॉ० गुप्त ने इस प्रकरण में भागवत से कपिल द्वारा अपनी माता को दिया गया उपदेश भी उद्धृत किया है जिसमें तामसी, राजसी एवं सात्त्विकी के अतिरिक्त चौथी भक्ति को निष्काम वा "निर्गुण" कहा गया है जो किसी प्रकार की मुक्ति की अभिलाषिणी नहीं है -

"लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुकाव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णान्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥" (भाग० 3/29/7-12)

तब, भागवत की चौथी भक्ति मोक्ष का तिरस्कार करने वाली अहैतुकी 'निर्गुणा' है। डॉ० गुप्त ने वेंकटेश्वर प्रेस वाले 'सूरसागर' का पाठ स्वीकार कर, इस 'निर्गुणा' को ही "सुधा-सार" भक्ति मान लिया है और दशधा-भक्ति-परम्परा की दसवीं "प्रेमा-भक्ति" का इसमें अन्तर्भाव कर लिया है जो उनके मनोनुकूल पड़ता था। यहाँ

1. भागवत, 7/5/23
2. 'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय', भाग 2, द्वितीय सं०, पृ० 521
3. वही, पृ० 545
4. 'सूरसागर' (सभा संस्करण), पद 394
5. 'सूरसागर' (वेंकटेश्वर), 1957, पृ० 52 (भक्ति-प्रश्न)
6. 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय', 539

विचारणीय यह है कि सूर का अभिप्राय सचमुच क्या है ? सभा वाले 'सूरसागर' से उपर्युद्धत लम्बे पद के 'चतुर्विध भक्ति' खण्ड में निम्न पंक्तियाँ आती हैं—

"तमोगुनी रिपु मरिबौ चाहै। रजोगुनी धन कुटुंबऽवगाहै।
भक्त सात्त्विकी सेवैं संत। लखैं तिन्हैं मूरति भगवंत।

× × ×

निर्गुन मुक्तिहुँ कौं नहिं चहै। मम दरसन हीं तैं सुख लहै।"[1]

वर्तमान उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि तमोगुणी, रजोगुणी एवं सात्त्विकी भक्ति के अतिरिक्त, सूरदास 'निर्गुणा' भक्ति को चौथी भक्ति मानते हैं जिसका अभ्यासी भक्त "सुमुक्त" कहलाता है और भगवान् के दर्शन में ही सुख प्राप्त करता है। भागवत के ऊपर उद्धृत श्लोकों में चौथी भक्ति को,जिसे अहैतुकी अव्यवहित 'निर्गुण' भक्ति कहा गया है, वही सूर को भी अभिप्रेत है—यह 'सूरसागर' (सभा) के ऊपर वाले उद्धरणों से प्रमाणित हो जाता है। अतएव, वेंकटेश्वर प्रेस वाले संस्करण से जो पंक्तियाँ डॉ० गुप्त ने उद्धृत की हैं, उनमें "सुधा सार" पाठ गलत है जिसे सभा वाले 'सूरसागर' में "सुद्धासार" बना कर ठीक ही किया गया है। अवधातव्य यह है कि वेंकटेश्वर प्रेस वाली प्रति में भी आलोचना कर, 'देवहुती प्रश्न सुगम उपाय' शीर्षक के अन्तर्गत, चार प्रकार की भक्ति-गणना में चौथी को "निर्गुणा" ही कहा गया है।[2] अतएव, इससे यह सिद्ध होता है कि सूर को चौथी भक्ति भागवतानुसारिणी 'निर्गुणा' ही है जिसे ही "सुद्धा सार" अथवा "शुद्धा सार" कहा गया है। इस प्रकार भी, वेंकटेश्वर प्रेस वाले 'सूरसागर' में आया पाठ, "सुधा सार", गलत प्रमाणित होता है। अतः, "शुद्धा सार" या "सुद्धा सार" पाठ ही सही माना जायेगा।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि 'भागवत' में "प्रेमलक्षणा" का शब्दशः उल्लेख नहीं हुआ है, यद्यपि "प्रेमाभक्ति" के तत्त्वों का उसमें भूरिशः उपग्रंथन मिलता है। सूर ने स्वयं 'भागवत' को "प्रेम-भक्ति की खानि" बताया है।[3] यतः वल्लभाचार्य ने "दशधा भक्ति" का निरूपण किया है और सूर के अष्टछापीय सहयोगी परमानन्द ने भी "दसधा भक्ति' का वर्णन कर, दसवीं में "अविरल प्रेम" की विद्यमानता मानी है।[4] अतः डॉ० गुप्त, जो 'सारावली' को सूर की प्रामाणिक रचना मानते हैं, "सुधा सार" अथवा "सुधा भक्ति" को सही पाठ मानकर, सूर के संबंध में भी 'प्रेमलक्षणा' नाम्नी चौथी भक्ति, सहज भाव से मान बैठे हैं। अतएव, विवक्षा यह है कि 'सारावली' की दशधा भक्ति में परिगणित "प्रेमलच्छना" न 'भागवत' का कथन है, न सूर का। 'गर्गसंहिता' में अवश्य "प्रेमलक्षणा" विशेषण का कई स्थलों पर प्रयोग हुआ है।[5] यह भी उल्लेखनीय

1. 'सूरसागर' (सभा), 394
2. 'सूरसागर' (वेंक०), पृ० 54
3. 'सूरसागर' (सभा संस्करण), 619
4. 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय', द्वि० भाग, पृ० 453
5. 'गर्गसंहिता:' गोलोक खण्ड, 15/11; मथुरा खण्ड, 14/33, 20/25 आदि।

है कि 'संहिता' में निरपेक्ष भक्तों की पद्धति का वर्णन करते समय, नवधा भक्ति के प्रसंग में ही 'प्रेमलक्षणा' का उल्लेख उपलब्ध होता है जो 'सारावली' से मिलता है। अतएव 'सारावली' का प्रस्तुत प्रसंग 'संहिता' से गृहीत माना जायेगा और उसका रचयिता 'सूरसागर' का रचयिता नहीं होगा।

(ग) कृष्णावतार

कृष्ण-जन्म—कृष्ण के प्रादुर्भाव से संबद्ध विवरणों का परीक्षण यहाँ हमारा अभीष्ट है। शिशु कृष्ण के वसुदेव द्वारा यमुना पार कर नन्दगृह में पहुँचाये जाने तथा यशोदा के गर्भ से उत्पन्न योगमाया के साथ उनके विनिमय किये जाने के वृत्त का 'सारावली' तथा 'सूरसागर' दोनों में ही भागवत से साम्य है। 'सारावली' की दो उपमाएँ यहाँ उल्लेखनीय हैं। श्रीकृष्ण का देवकी के गर्भ से सोलह कलाओं से पूर्ण चन्द्र के समान प्रकट होना तथा यमुना का समुद्र के राम को दिये मार्ग के समान, वसुदेव को मार्ग देना।[1] ये उपमाएँ भागवत में उसी प्रकार आयी हैं,[2] जबकि ये 'सूरसागर' में उपलभ्य नहीं। आगे जलपूरित यमुना के उमड़ने तथा पीछे सिंह के गरजने का उल्लेख, जो सारावली तथा 'सूरसागर' दोनों में प्राप्त है, भागवत में नहीं आया है। पुनः, 'सारावली' में हरि को पालने में पौढ़ा कर वसुदेव के गोकुल ले जाने का उल्लेख है, जबकि सूरसागर एवं भागवत में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। 'गर्ग-संहिता' में श्रीकृष्ण को हिण्डोले अथवा झूलने में बैठाकर ले जाने का कथन अवश्य आया है।[3]

श्रीकृष्ण की जन्मतिथि आदि के विषय में भागवत में केवल रोहिणी नक्षत्र एवं "निशीथ" का उल्लेख प्राप्त है।[4] 'सारावली' में अष्टमी, बुधवार, रोहिणी नक्षत्र तथा अँधेरी रात का कथन है जबकि 'सूरसागर' में भादौं की अँधेरी रात, अष्टमी तिथि, रोहिणी नक्षत्र का उल्लेख हुआ है।[5] ब्रह्मवैवर्त में भाद्रपद की अष्टमी, अर्धरात्रि, रोहिणी नक्षत्र तथा जयन्ती योग का उल्लेख उपलब्ध है।[6] 'गर्गसंहिता' में श्रीकृष्ण के प्रादुर्भाव-काल का स्पष्ट कथन हुआ है, यथा—

"भाद्रे बुधे कृष्णपक्षे धात्रर्क्षेहर्षणे वृषे।
कर्णेष्टभ्यामर्धरात्रे नक्षत्रेशमहोदये।
अन्धकारावृत काले देवक्यां शौरिमन्दिरे।
आविरासीद्हरिः साक्षादरण्यामध्वरेग्निवत्।"[7]

---

1. 'सारावली', 363, 376
2. भागवत, 10/3/8; 10/3/50
3. 'गर्गसंहिता', गोलोक खण्ड 11/44
4. भागवत, 10/3/7
5. सूरसागर, 622, 629, 630
6. ब्रह्मवैवर्त, द्वि० खंड (श्रीराम शर्मा), पृ० 64
7. 'गर्गसंहिता', गोलोक खण्ड, 11/23-24

—भाद्रपद मास, बुधवार, कृष्णपक्ष की अष्टमी, रोहिणी नक्षत्र, हर्षण योग, वृष लग्न, अर्धरात्रि (जब चन्द्रमा का उदय भी हो गया था), जब सम्पूर्ण लोक तिमिराच्छन्न था—ऐसे समय वसुदेव के सौरिगृह में देवकी के गर्भ से साक्षात् हरि का प्रादुर्भाव हुआ, जैसे काष्ठ से अग्नि उत्पन्न होती है।

इस प्रकार, कृष्ण कवियों ने कृष्ण जन्म के मास, तिथि, वार आदि का जो कथन किया है, वह 'गर्गसंहिता' के आधार पर, न कि ब्रह्मवैवर्त के आधार पर जैसा समझा गया है।[1] सूर आदि अष्टछापी कवि इस विषय में 'संहिता' के उपकृत प्रतीत होते हैं। 'सूरसागर' में कृष्ण की हुंकार से यमुना के श्रीकृष्ण का रहस्य समझने तथा वसुदेव को थाह देने का उल्लेख हुआ है।[2] गुजराती कवि प्रेमानन्द ने भी ऐसा कथन किया है।[3] हमारा अनुमान है कि ये दोनों भक्त कवि यहाँ किसी-न-किसी पौराणिक परम्परा के ऋणी हैं। शिशु कृष्ण तथा शिशु योगमाया के परस्पर विनिमय के सन्दर्भ में उल्लेख्य है कि 'भागवत', 'ब्रह्मवैवर्त', 'हरिवंश' तथा 'गर्गसंहिता' में कृष्ण ने ही नन्द को ऐसा परामर्श दिया है। 'सूरसागर' में इसी परम्परा का पालन लक्षित होता है, जबकि 'सारावली' में देवकी ने वसुदेव से नवजात शिशु को गोकुल ले जाने का अनुरोध किया है।[4]

वसुदेव के मार्ग-भयों के विषय में 'सारावली' का कथन है कि आगे से सिंह गरजता आ रहा था।[5] 'सूरसागर' में, एक पद में सिंह के पीछे तथा एक में आगे गरजने का उल्लेख उपलब्ध होता है।[6] हमें ऐसा कथन अब तक अन्यत्र नहीं मिला है। 'गर्ग-संहिता' में अवश्य एक उल्लेख मिलता है जिसमें यमुना को "सिंहसर्पादिवाहिनी" कहा गया है।[7] यदि इस कथन से इन जैसे कवियों ने सिंह-गर्जन वाला विन्दु ग्रहण किया हो, तो इसमें कोई आपत्ति नहीं दीखती, यद्यपि ऐसी हालत में सिंह का गरजना रात्रि में आगे की ओर होना चाहिए, पीछे की ओर नहीं।

एक-दो अन्य टिप्पणियाँ भी यहाँ आवश्यक प्रतीत होती हैं। 'सारावली' में कहा गया है कि हरि स्वयं वृषभानु तथा नन्द के रूप में अवतरित हुए थे।[8] 'भागवत' तथा 'सूरसागर' में ऐसा उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। 'देवीभागवत' में यह कथन अवश्य आया है कि वृषभानु नारायण के अंशावतार थे।[9] इससे जान पड़ता है कि 'सारावली' ने प्रस्तुत कथन भागवतादि से नहीं, अपितु 'देवीभागवत' से लिया होगा।

---

1. 'गुजराती और ब्रजभाषा कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन' (डॉ० जगदीश गुप्त), पृ० 80
2. 'सूरसागर', 623
3. 'गुजराती और ब्रजभाषा कृष्णकाव्य', पृ० 81
4. 'सारावली', 371
5. वही, 372
6. 'सूरसागर', 622, 623
7. 'गर्गसंहिता' गोलोक खण्ड, 11/48
8. 'सारावली', 362
9. 'पौराणिक कोश', पृ० 476

(घ) श्रीकृष्ण-कथा

जन्मोत्सव—कृष्ण-जन्मोत्सव के वर्णन में 'सारावली' तथा 'सूरसागर' के वर्णन प्रायः समान हैं और 'भागवत' से अनुप्रेरित हैं। ढाढ़ी के दान दिये जाने, उपनंद, धरानंद इत्यादि से सम्बन्धित डॉ० वर्मा की आपत्तियों का सही उत्तर डॉ० गौतम ने दिया : ये प्रसंग 'सूरसागर' में भी वर्णित हुए हैं।[1] पुनः, यशोदा के नारछेदन का उल्लेख 'सूरसागर' में उपलब्ध है जबकि 'भागवत' अथवा 'सारावली' में नहीं। सूर ने यह कथन या तो लोकजीवन से गृहीत किया होगा, या 'ब्रह्मवैवर्त' से प्रभावित रहे होंगे—"विच्छेद नाडीं बालस्य हर्षाद् गोप्यो जयं जगुः।"[2]

"खिलौने लाने-हेतु" नंद के मथुरा जाने का उल्लेख जो 'सारावली' में उपलब्ध है, उसे उसके रचयिता ने भागवतेतर किसी अन्य स्रोत से ग्रहण किया है क्योंकि 'भागवत', 'विष्णुपुराण', 'गर्गसंहिता' जैसे ग्रन्थों में नन्द के मथुरा-गमन का प्रयोजन कंस को वार्षिक कर चुकाना बताया गया है। एक अन्य टिप्पणी भी यहाँ आहूत प्रतीत होती है : 'सारावली' में वसुदेव के लिए "आनकदुन्दुभि" संज्ञा का प्रयोग हुआ है।[3] 'भागवत' तथा 'विष्णुपुराण' में यह नाम प्रयुक्त है।[4] लेकिन, 'सूरसागर' के रचयिता का इस विशिष्ट प्रयोग के प्रति कोई आकर्षण लक्षित नहीं होता। यदि वही 'सारावली' का भी रचनाकार होता, तो अपने मूल ग्रन्थ में इस नामधेय-विशेष को कथमपि नहीं छोड़ सकता था।

पूतना-वध—पूतना-वध तथा शकटासुर-वध की चर्चा अपेक्षित जान पड़ती है। पूतना-वध के संदर्भ में, 'सारावली' में पूतना के मृत शरीर के ग्वालों द्वारा काठ में आग लगाकर जलाये जाने का कथन आया है।[5] 'सूरसागर' में यह उपलब्ध नहीं होता। 'भागवत' में उल्लेख है कि व्रजवासियों ने परशु से पूतना का शरीर टुकड़े-टुकड़े काटकर काठ पर उसे रख कर जला दिया।[6] ब्रह्मवैवर्त में भी पूतना के शव के नन्द द्वारा जलाये जाने का कथन हुआ है।[7] ऐसा माना जा सकता है कि 'सारावली' ने यह वृत्त 'भागवत' से ग्रहण किया है। 'सूरसागर' में इस शव-दाह की कोई चर्चा नहीं है— 'विष्णुपुराण', 'हरिवंश' आदि में भी यह उपलब्ध नहीं। मेरी समझ से, 'सूरसागर' का प्रस्तुत वर्णन 'भागवत' से अधिक अन्य पौराणिक स्रोतों से गृहीत हुआ है, क्योंकि पूतना का शव-दाह महत्त्वपूर्ण विन्दु माना जायेगा और सूर भागवतीय वृत्त को स्वीकार करने पर इसे 'सूरसागर' में परित्यक्त नहीं कर सकते थे। डॉ० गौतम की यह

---

1. 'सूरदास' (डॉ० वर्मा), पृ० 91-92; 'सूरसारावली' (डॉ० गौतम), आलो० भाग, पृ० 21; 'सूरसागर', 633, 636, 642
2. 'ब्रह्मवैवर्त', द्वि० खंड (श्रीराम शर्मा), पृ० 82
3. 'सारावली', 413
4. 'भागवत', 10/6/32, 'विष्णु', 4/14/13-14, आदि—'आनकदुन्दुभि' बड़े नगाड़ों को कहते हैं। वासुदेव के जन्म पर देवताओं ने बड़े नगाड़े बजाये थे। इस कारण, वसुदेव "आनकदुन्दुभि" कहलाते हैं। —पौराणिक कोश, पृ० 45
5. 'सारावली' 418
6. 'भागवत', 10/6/33
7. ब्रह्मवैवर्त, द्वि० खं० (श्रीराम शर्मा), पृ० 91

सफाई स्वीकार्य नहीं हो सकती कि "लीला-ग्रंथ" होने के कारण इसका विवरण 'सूर-सागर' में नहीं दिया जा सकता था जबकि अनेक असुरों के वर्णन से 'सागर' का "लीलाग्रन्थत्व" बाधित नहीं हुआ ।[1] 'सारावली' के "दीन्हीं फूँक काठ तन वाको" से पूतना के "काष्ठ-तन" का अर्थ-ग्रहण भी हास्यास्पद है, जैसा डॉ० वर्मा और डॉ० गौतम दोनों ने किया है।

शकटासुर-वध—इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि 'भागवत' में शकट-नामक कोई असुर वर्णित नहीं हुआ है। वहाँ शकट छकड़े (गाड़ी) के लिए आया है जो शिशु कृष्ण के चरण-स्पर्श से भंजित हो गया था ।[2] 'हरिवंश' में भी ऐसा ही उल्लेख उपलब्ध है ।[3] किन्तु, 'सूरसागर' तथा 'सारावली' दोनों ही शकट को असुर मान लेते हैं। गुजराती के नरसी तथा प्रेमानंद ने भी कंस द्वारा प्रेषित शकटासुर का वर्णन किया है ।[4] 'गर्गसंहिता' में कथा आयी है कि हिरण्याक्ष के उद्धत पुत्र उत्कच को लोमश ऋषि ने शाप दे दिया कि वह देहरहित हो जायेगा, किन्तु बाद में आशीर्वाद दिया कि वैवस्वत-मन्वन्तर में वह श्रीकृष्ण के चरण-स्पर्श से मुक्तिलाभ करेगा। उसी से अनुप्रेरित होकर उत्कच उस शकट में आकर बैठ गया और शिशु कृष्ण के चरणों के संस्पर्श से मुक्ति प्राप्त की ।[5] जान पड़ता है, शकटासुर वाला प्रसंग इसी कथा से उद्भावित हुआ होगा। यह टिप्पणी यहाँ अपेक्षित है कि न तो 'सूरसागर' और न 'सारावली' ही किसी एक स्रोत से अनुप्राणित है। ऐसी कथाएँ भक्त-समाज में प्रचलित रही होंगी और इन दोनों ने उन्हें समान भाव से, वहीं से ग्रहण किया होगा।

कृष्ण का नामकरण—कृष्ण की शिशु-लीलाओं का वर्णन 'सूरसागर' तथा 'सारावली' दोनों में समान रीति से प्रायः भागवतानुयायी दृष्टिगोचर होता है। तथापि एक-दो उल्लेख यहाँ आवश्यक प्रतीत होते हैं। 'सारावली' में वसुदेव द्वारा प्रेषित गर्ग मुनि ने कृष्ण-बलराम का नामकरण किया है जबकि 'सूरसागर' में गर्ग ने स्वयं आकर केवल कृष्ण की कुण्डली बनायी है[6] और वहाँ वस्तुतः नामकरण जैसा प्रसंग वर्णित नहीं है। 'सारावली' का नामकरण-प्रसंग 'भागवत' से अनुप्राणित है ।[7] 'सूरसागर' के लग्न-शोधन में कृष्ण की जन्म-घड़ी का सूक्ष्म उल्लेख उपलब्ध है, यथा--विभावन संवत्, भाद्र-पद की अष्टमी, तिथि कृष्ण-पक्ष, बुधवार, रोहिणी नक्षत्र, अर्धरात्रि, हर्षण योग, वृष लग्न, उच्च के अर्थात् उदित चन्द्रमा ।[8] यह कथन पूर्वोद्धृत 'गर्गसंहिता' के कृष्ण के जन्म-काल-विषयक कथन से पूर्णतः साम्य रखता है। किन्तु, नामकरण वहाँ भी हुआ है जबकि उसे 'सूरसागर' में छोड़ दिया गया है। पुनः 'सूरसागर' में ज्योतिष का स्पष्ट जन्मांग-वर्णन

---

1. 'सूरसारावली', व्याख्या भाग, पृ० 70
2. 'भागवत', 10/7/6-7
3. 'हरिवंश' (श्रीराम शर्मा), प्रथम खंड, पृ० 266-67
4. गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य, पृ० 84
5. 'गर्गसंहिता', गोलोक खण्ड, 14/11-23
6. 'सारावली', 430-32; 'सूरसागर', 703-04
7. 'गर्गसंहिता' में भी गर्गाचार्य वसुदेव द्वारा भेजे गये हैं। (लेखक)
8. सूरसागर, 704

यहाँ उपलब्ध होता है जो भागवत में नहीं है। अतः 'सारावली' का कवि जहाँ भागवत के समीप है, वहाँ 'सूरसागर' का कवि अन्य पौराणिक स्रोत का अधमर्ण प्रतीत होता है।

कालिय-लीला—कालियनाग-लीला 'सारावली' में केवल एक छन्द में वर्णित हुई है जिसमें कहा गया है कि हरि कालीनाग को नाथ कर ले आये, गायों-ग्वालों को जीवन-दान दिया और उसके सिर पर कमल का बोझ लादकर कंस को मथुरा भेज दिया।[1] 'सूरसागर' से मिलान करने पर प्रतीत होता है कि उसमें वर्णित दो प्रसंगों 'कालीदह-जलपान' तथा 'कमल-पुष्प मँगाना' को 'सारावली' में परस्पर मिला दिया गया है। 'सूरसागर' की पहली कथा में, कालियनाग के संसर्ग से विषाक्त बने यमुना-जल के पीने से गायें तथा ग्वालबाल मूर्च्छित पड़े थे, किन्तु "प्रभु" ने अपनी "अमृतभरी दृष्टि" से उन्हें जीवित कर दिया।[2] इस कथन में 'गर्गसंहिता' की छाया परिलक्षित होती है। वहाँ कालिय-लीला के प्रारंभ में गायों तथा गोपों के यमुना का विषमय जल पीने से मर जाने और श्रीकृष्ण की अमृतमयी दृष्टि से पुनर्जीवित होने का यों उल्लेख आया है—"तदाताञ्जीवयामास दृष्ट्या पीयूषपूर्णया"। "दृष्ट्या पीयूषपूर्णया" एवं "अमृत दृष्टि भरि चितए"[3] में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव वर्तमान है।

कालीदमन वाली कथा में कृष्ण के कालियनाग के नाथने एवं कंस के पास उस दह में उगे कमल-कुसुमों के भेजने का अनुवृत्त वर्णित हुआ है। 'कालीदह-जलपान' वाली कथा 'सूरसागर' में केवल छह पदों में तथा दूसरी 'कमल-पुष्प मँगाना, कालीदमन लीला' शीर्षक से 69 पदों में विस्तारपूर्वक उपवर्णित है: अंतिम पद सं० 1207 में 226 पंक्तियाँ या चरण ग्रथित हुए हैं।[4] इस प्रकार 75 पदों के सूरसागरीय अनुवृत्त का सार केवल दो पंक्तियों में प्रस्तुत करना सचमुच सारावलीकार की संक्षेप-कला का प्रशस्त उदाहरण माना जायेगा। परन्तु कालीनाग के सिर पर कमलों का बोझ लादकर उसी के द्वारा उन फूलों को कंस के पास भिजवाना सर्वथा नयी सूझ है जिसका अनुमोदन अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता। इस विषय में सूरसागर की 'कालीदमन-लीला' का सावधान अवलोकन आवश्यक है।

'सूरसागर' की वर्तमान लीला में कृष्ण के कालियदह में कूदने का मूलतः एक प्रयोजन प्रदर्शित हुआ है। वह है—यमुना के एक दह में से निकालकर जिसमें कालीनाग निवास करता है, कमल-पुष्पों को पहुँचाने के लिए पत्र द्वारा प्रेषित आदेश का परिपालन जिसके पृष्ठ में उस विषैले नाग द्वारा कृष्ण के प्राणापहरण की कामना सन्निहित है।[5] नन्दादि की चिन्ता के निराकरणार्थ कृष्ण गेंद खेलने का बहाना निकाल लेते हैं। श्रीदामा की गेंद यमुना के कालिय-दह में गिर जाती है और उसे निकालने के लिए "कोमल तन" वाले कृष्ण उस दह में कूद पड़ते हैं और वहाँ पहुँचते हैं जहाँ वह दुर्द्धर्ष नाग सो रहा है। उरग-नारियाँ उन्हें देख भयाकुल हो जाती हैं। किन्तु निर्भीक कृष्ण नाग की पूँछ पर

---

1. सारावली, 473
2. वही, 1119, 1122
3. सूरसागर, 1119
4. सूरसागर, पद सं० 1139-1207
5. वही, 1140, 1156 इत्यादि।

लात मार कर उसे जगाते हैं; भीषण घात-प्रतिघात के बाद कालिय को नाथते हैं और अन्ततः उसके फणों पर नृत्य करते हुए, उसके ऊपर कमल-पुष्पों को लादकर यमुना-तट पर प्रकट हो जाते हैं।[1] निम्नोद्धृत दो पंक्तियाँ समग्र व्याख्यान को आलोकित करती हैं—

"कंस कारन गेंद खेलत, कमल कारन आइयाँ।"

× × ×

(तब) "लादि पंकज कढ्या बाहिर, भयौ ब्रज मनभावना।" (1195)

कालिय-दमन की कथा भागवत के अतिरिक्त विष्णु, पद्म, हरिवंश, ब्रह्मवैवर्त इत्यादि में भी वर्णित हुई है। लेकिन, सूर ने इस सामान्य कथा में कन्दुक-क्रीड़ा एवं कंस द्वारा कमल-कुसुमों के मँगवाने के तथ्य सूरसागरीय वृत्त में गुंफित कर दिये हैं। कृष्ण के शरीर फुलाने से सर्प की देह टूटने, उसके बड़े-बड़े फणों पर चढ़कर उनके कलापूर्ण नृत्य करने, उरग-नारियों के कालिय की प्राणरक्षा के हेतु विनय इत्यादि के विन्दु भागवत से ही गृहीत हुए हैं।[2] विष्णु तथा हरिवंश पुराण में भागवत से लगभग मिलती कथा आयी है।[3] ब्रह्मवैवर्त में निबद्ध 'कालिय-दमनाख्यान' की एक विशेषता यह है कि उसमें यमुना-तट पर "कालीय मन्दिर" की अवस्थिति का उल्लेख हुआ है जहाँ कृष्ण ने गोप बालकों के साथ क्रीड़ा की थी। उसी समय गायों ने विषाक्त जल पी लिया जिससे वे मर गयीं। कृष्ण ने उन्हें जीवित कर दिया और स्वयं "सर्प-भवन" में कूद पड़े और नाग के मस्तक पर खड़े होकर उसका दमन किया।[4] 'गर्गसंहिता' में भी लगभग ऐसी ही कथा वर्णित है। वहाँ भी "सर्पमन्दिर" का उल्लेख हुआ है और सुरभियों तथा गोपों के विषाक्त जल पीने से मरने तथा कृष्ण द्वारा उन्हें पुनर्जीवित करने का वैसा ही कथन उपलब्ध है।[5]

भास के नाटक 'बालचरित' में दामोदर (कृष्ण) के कालियनाग के सिर पर हल्लीसक नृत्य करने[6] तथा यमुना-जल से पुष्प निकाल कर गोप-कन्याओं को प्रदान करने का उल्लेख आया है।[7] इस नाटक में दामोदर का यह कथन भी उपलब्ध है कि उनके पैर से नागेन्द्र के सिर पर चिह्न अंकित हो गये हैं जिन्हें देखकर गरुड़ उसे अभयदान दे देगा।[8] 'बालचरित' के इन कथनों से प्रतीत होता है कि कालिय-कुण्ड में कमलों के उगने और कृष्ण द्वारा नागदमन के समय उन पुष्पों के पानी से बाहर लाये जाने की कोई परम्परा वर्तमान रही होगी जिसे काली के मस्तक पर कृष्ण के नृत्य करने के पौराणिक

---

1. सूरसागर, 1180, 1181, 1182 इत्यादि।
2. भागवत, 10/16/24-53
3. विष्णु पु० 5/7; हरि० पु०, प्र० खं० (श्रीराम शर्मा), पृ० 285-90
4. 'ब्रह्मवैवर्त', द्वि० खंड (शर्मा), पृ० 139-41
5. गर्गसंहिता, वृन्दावन, 9/19
6. 'भास के नाटक' (अनुवादक—डॉ० मनोहरलाल गौड़), पृ० 35
7. वही, पृ० 37
8. वही, 36

उल्लेखों से मिलाकर सूर ने इस प्रसंग को कंस के साथ शृंखलित कर दिया है। गुजराती कवि प्रेमानन्द ने भी कमल लाने की बात का संकेत किया है और गेंद खेलने का सूर-जैसा वर्णन किया है।[1] ऐसे संदर्भों के विषय में हमारा अभिमत है कि इन तमाम वर्णनों की कुंजी तभी खुलेगी जब तमाम पुराणों-उपपुराणों, तेलुगु-तमिलादि अन्य भारतीय भाषाओं में उपलब्ध कृष्ण-कथा का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय। तब तक किसी प्रकार की अंतिम स्थापना करना उचित एवम् तर्कसम्मत नहीं होगा।

वर्तमान विवेचन में एक टिप्पणी आवश्यक प्रतीत होती है। डॉ० गौतम ने 'सारावली' तथा 'सूरसागर' में एक साम्य एवं 'सूरसागर' तथा 'भागवत' में एक वैषम्य प्रदर्शित किया है। लेकिन, यह ज्ञातव्य है कि 'सारावली' में कमल-पुष्प नाग के सिर पर रखकर कंस के पास पहुँचाये गये हैं जबकि 'सूरसागर' में ऐसा नहीं है। वहाँ कृष्ण दह के भीतर से कमलों को कालिय के सिर पर रखकर पानी के ऊपर प्रकट होते हैं,[2] किन्तु वह "पुष्प-भार" सहस्र शकटों में गोपों द्वारा विपुल "दधि-भार" तथा "माखन-भार" के साथ कंस के पास पहुँचाया गया है।[3] अतएव, डॉ० गौतम की एतद्विषयक सादृश्य-शोध निरर्थक है। पुनः, उनका यह कथन भी भ्रान्तिजन्य है कि 'सूरसागर' में काली को कंस के पास भेज दिया गया है, जबकि 'भागवत' में कृष्ण द्वारा उसे समुद्र में लौट जाने का आदेश दिया गया है।[4] यह सही है कि 'भागवत' में कालिय के दमन के अनंतर, कृष्ण ने उसे रमणकद्वीप वाले सागर में लौट जाने का निर्देश दिया है जहाँ से वह गरुड़ के भय-वश भाग आया था और उस यमुना-ह्रद में निवास करने लगा था।[4] 'सूरसागर' में भी काली को कृष्ण द्वारा रमणकद्वीप वाले समुद्र में वापस जाने का आदेश दिया गया है जहाँ से वह गरुड़ के भय से पलायित होकर यमुना के दह में रहने लगा था। 'सूरसागर' में यह भी उल्लेख है कि यतः काली की देह नृत्य करते समय कृष्ण के चरण-चिह्नों से अंकित हो गयी थी, अतः अब गरुड़ द्वारा उसके भक्षण का भय निरस्त हो गया है—

"चरन चिन्ह दरसन करत, महि रहिहै तुव पाइ।
उरग द्वीप को करि बिदा, कह्यौ करौ सुख जाइ।" (1207)

× × ×

"सागर बास दियौ काली कौ सूरदास बलिहारी।" (1194)

ये उल्लेख 'भागवत' से पूर्णतः मिलते हैं।[6] अतएव, डॉ० गौतम का उपर्युक्त कथन भ्रान्तिजन्य है।

कंस-वध—दावानल-पान, व्योमासुर-वध प्रभृति संदर्भ 'सारावली' तथा 'सूर-सागर' दोनों में समान रीति से वर्णित हैं और प्रायः 'भागवत' से मिलते हैं। कंस-वध के संबंध में उल्लेखनीय यह है कि कंस के केश पकड़ कर कृष्ण के उसे यमुना-तट तक घसीटने

1. 'गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य', पृ० 103
2 'सूरसागर', 1195, 1198, 1200, 1207
3. वही, 1201, 1202, 1203, 1205 इत्यादि।
4. 'सूरसारावली', व्याख्या-भाग, पृ० 82
5. 'भागवत', 10/16/60-53
6. 'भागवत', 10/16/63, 10/17/12

का उल्लेख 'भागवत' में उपलब्ध नहीं होता। विष्णु, हरिवंश पुराण आदि भी इस विषय में मौन हैं। किन्तु, 'सारावली' तथा 'सूरसागर' दोनों में इसका कथन मिलता है। इन पुराणों में केवल कंस के केश-कर्षण तथा वध का उल्लेख आया है, यमुना-तीर तक उसके घसीटे जाने का नहीं। 'सारावली' कंस-वध की तिथि इत्यादि का भी वर्णन करती है जो 'सूरसागर' में उपलब्ध नहीं। केश-कर्षण वाले वृत्त के लिए ये दोनों रचनाएँ किसी एक ही स्रोत का अधमर्ण प्रतीत होती हैं। लेकिन, तिथि, नक्षत्रादि का कथन, जो भागवत में भी प्राप्य नहीं है, 'सारावली'कार को 'सूरसागर' के रचयिता से पृथक् कर देता है। 'सूरसागर' में भी, यह सही है, तिथियों का कथन हुआ है, जैसा पूर्व उल्लिखित है, किन्तु एक ही प्रसंग में, भागवतेतर दो विन्दुओं में से एक रचना में केवल एक का ग्रहण तथा एक का परित्याग और दूसरी रचना में दोनों के ग्रहण से, इन दोनों के एक ही रचयिता होने की 'थीसिस' को अनुमोदन नहीं मिलता।

उद्धव-व्रजगमन—दशमस्कंध पूर्वार्द्ध में सन्निविष्ट, 'सारावली' का एक प्रकरण 'उद्धव-व्रजगमन' के विशेष विवेचन की अपेक्षा है। 'सारावली' में निम्न पंक्तियाँ आयी हैं—

"उद्धव भक्त बुलाय संग ले हरि इकांत यह भाख्यो।
ब्रजबासिन लोगन सों मैं तो अंतर कछु नहिं राख्यौ॥
सुर गुरु शिष्य बुद्धि में उत्तम, यदुकुल कहत प्रमान।
मंत्री भृत्य सखा मो सेवक, यातें कहत सुजान। (545-546)

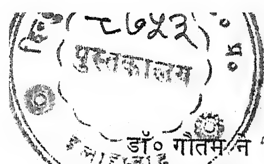
—"उद्धव भक्त, देवताओं के गुरु बृहस्पति के शिष्य, बुद्धि में उत्तम, यदुकुल में प्रमाण माने जाने वाले, कृष्ण के मंत्री, भृत्य एवं सखा हैं। कृष्ण ने एकान्त में कहा कि मैंने 'व्रजवासी लोगों से कोई अन्तर नहीं रखा' है।"

'सारावली' का यह अवतरण 'भागवत' के निम्न श्लोक का अनुवाद है—

"वृष्णीनां प्रवरो मंत्री कृष्णस्य दयितः सखा।
शिष्यो बृहस्पतेः साक्षार्युद्धवो बुद्धिसत्तमः।
तमाहु भगवान् प्रेष्ठं भक्तुमेकान्तिनं क्वचित्।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रपन्नार्तिहरो हरिः। (10/46/1-2)

स्पष्ट है कि 'सारावली' तथा 'भागवत' दोनों में उद्धव समशील हैं। इस परिप्रेक्ष्य में 'सूरसागर' के उद्धव पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है। संबद्ध पदों में सूर ने उद्धव को भयंकर योगी, प्रेमरस-भंजक, काठ-जैसे निठुर, कृष्ण के अभिन्न सखा तथा पूर्ण ज्ञानी बताया है।[1] अन्य शब्दों में, 'सूरसागर' का उद्देश्य उद्धव के चरित्र की निष्ठुरता, प्रेमरस-विरोधिता तथा पूर्ण ज्ञानगर्विता को उभारना रहा है। यह महत्व की बात नहीं कि यहाँ भी उद्धव कृष्ण के अंतरंग वयस्य हैं। अभीष्ट विन्दु यह है कि "हंस काग कौं संग भयौ।"[2]

1. 'सूरसागर', 4032, 4030, 4038, 4043
2. वही, 4036



डॉ० गौतम ने "मोकूँ लाड़ लड़ायो" वाले कथन[1] से यह निष्कर्ष निकाला है कि 'सारावली' का प्रणेता उद्धव को "ज्ञानी से भक्त" बनाना चाहता है।[2] 'सूरसागर' के लिए उद्धव के भक्त होने या नहीं होने का तथ्य महत्वपूर्ण नहीं है, प्रत्युत उद्धव के स्वभाव की ज्ञानसिद्ध नीरसता एवं शुष्कता को रेखांकित करना उसका प्रयोजनीय है। वहाँ कृष्ण ने उद्धव के व्रज-प्रेषण का उद्देश्य निर्भ्रान्त शब्दों में व्यक्त किया है—

"प्रेम भजन न नैंकु याकैं, जाइ क्यों समझाइ।
सूर प्रभु मन यहै आनी, ब्रजहिं देउँ पठाइ॥"[3]

अतएव, विवेच्य प्रसंग में 'सूरसागर' तथा 'सारावली' का दृष्टिकोण 'बिल्कुल एक ही है'[4]—ऐसा समझना तर्कसंगत नहीं है।

भ्रमरगीत—भ्रमरगीत-प्रसंग में 'सूरसागर' के कवि का मूल मन्तव्य रहा है—योग-ज्ञान बनाम प्रेम की प्रतिद्वन्द्विता प्रदर्शित कर, अन्ततः प्रेम की विजय का निरूपण। 'भागवत' में भी, यद्यपि वहाँ कृष्ण के दार्शनिक संदेह सुनकर गोपियों ने उनका प्रतिवाद नहीं किया है, अन्तिम विश्लेषण में वहाँ भी प्रेमा-भक्ति को मौन विजय प्रदर्शित की गयी है। ऐसा प्रेम जिसके सामने मोक्ष भी निरादृत है: "मङ्गलाचरितैर्दानैः रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे।"[5]

'सारावली' के उद्धव व्रज की गुल्म-लताओं में जन्म ग्रहण करने की अभिलाषा व्यक्त करते हुए, केवल इतनी प्रार्थना करते हैं— "उद्धव कहत सदा मोहि दीजे चरन रेनु ब्रजनारी।"[6]

अतएव, यह समझना कि 'सारावली' में 'सूरसागर'की भाँति उद्धव "परिवर्तित होकर" लौटे हैं[7], तर्क-प्रतिष्ठित नहीं होगा। वस्तुतः 'सारावली' के उद्धव में किसी 'परिवर्तन' का आधार ही विद्यमान नहीं है। वहाँ 'सूरसागर' की तरह ज्ञान-प्रेम अथवा निर्गुण-सगुण की प्रतिद्वन्द्विता का वह वातावरण चित्रित नहीं जो 'सूरसागर' की विशेषता है: वहाँ तो बिल्कुल 'मैकैनिकल' रीति से 'भागवत' के प्रमुख बिन्दुओं को उभारा गया है।

इस प्रसंग में उल्लेखनीय तथ्य एक यह है कि 'सूरसागर' तथा 'सारावली' दोनों में कृष्ण ने नंद अथवा गोपियों के लिए उद्धव को पत्र दिया है। ज्ञातव्य है कि 'भागवत' अथवा 'ब्रह्मवैवर्त' में पत्र-प्रेषण का उल्लेख उपलब्ध नहीं है। इसके लिए दोनों विवेच्य रचनाएँ 'गर्गसंहिता' की उपकृत हैं जिसमें नंद, राधा तथा विभिन्न कोटि की गोपियों के

---

1. 'सारावली', 547
2. 'सूरसागर', व्याख्या भाग, पृ० 94-95
3. 'सूरसागर', 4031
4. 'सूरसारावली, व्याख्या भाग, पृ० 95
5. 'भागवत', 10/47/67
6. 'सारावली', 578
7. 'सूरसारावली', व्याख्या, पृ० 101

लिए कृष्ण ने सैकड़ों पत्र उद्धव को दिये हैं ।[1] इतना ही नहीं, भ्रमरगीत-प्रसंग में भागवत की अन्तर्ध्वनि को परिवर्तित अथवा परिमार्जित करने का जो श्रेय 'सूरसागर' के रचयिता को दिया गया है, उसके लिए भी सूर तथा उन जैसे अन्य कृष्ण-कवि 'संहिता' के अधमर्ण हैं। 'सूरसागर' में विवेच्य संदर्भ में गोपियों ने नाना प्रकार के उपालंभों तथा व्यंग्योक्तियों की जो धारासार वर्षा की है, उसके प्रस्फुट सूत्र 'संहिता' में उपलब्ध होते हैं ।[2] "मधुपुरी कितनी दूर है जो तुम नहीं आये"—राधा का यह कथन[3] और "लज्जा छोड़कर यशोदा ने कपाटों के पास खड़ी हुई प्रिय पुत्र की बातें सुनीं जिससे उसके नेत्रों से जल तथा स्तनों से दूध बहने लगा"[4], "गोपियों के रोने से उनके नेत्र-निर्गत आँसुओं के प्रवाह से तत्काल वृन्दावन में एक लीलासरोवर भर गया"[5]—इन-जैसे कथन 'सूरसागर' में चित्रित भ्रमरगीत-प्रसंग की कारुणिकता के पूर्व-सूचक हैं। हिन्दी अथवा भारतीय कृष्ण-काव्य 'भागवत' के अतिरिक्त 'गर्गसंहिता' का कितना ऋणी है, इधर विद्वानों का ध्यान अद्यापि नहीं जा सका है।

रुक्मिणी-परिणय—कृष्ण की राजलीलाओं में रुक्मिणी-विवाह की चर्चा अपेक्षणीय है। इस विवाह के वर्णन में 'सूरसागर' तथा 'सारावली' में भिन्नता परिलक्षित होती है। 'सूरसागर' का सम्पूर्ण वृत्त मूलतः 'भागवत' से मिलता है—इस छोटे-से अन्तर के साथ कि 'सूरसागर' में रुक्मिणी ने विप्र के द्वारा कृष्ण को पत्री भी भिजवायी है जबकि 'भागवत' में पत्र का उल्लेख नहीं है और केवल मौखिक संदेश-प्रेषण की बात कही गयी है।[6] 'सारावली' में रुक्मिणी के पिता राजा भीष्म तथा श्रीकृष्ण दोनों के बीच नारद मध्यस्थ की भूमिका निभाते हैं और दोनों तरफ से विवाह की स्वीकृति प्राप्त करते हैं। 'सूरसागर' में इस नारदीय भूमिका का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है। रुक्मिणी के कुल-देवी के मंदिर में पूजनार्थ जाने और वहाँ कृष्ण द्वारा उसके अपहरण का वृत्त 'भागवत', 'सूरसागर' तथा 'सारावली' तीनों में समानरूपेण उपनिबद्ध है।

'ब्रह्मवैवर्त' में राजा भीष्मक ने पुरोहित शतानंद से रुक्मिणी-विवाह की चर्चा की है जिस पर शतानंद ने भीष्मक से मथुरा में उग्रसेन के लिए एक विप्र द्वारा परिणय-प्रस्ताव की पत्रिका भिजवायी है।[7] 'गर्गसंहिता' में भीष्मक तथा कृष्ण के बीच मध्यस्थ-रूप में नारद से पहल करने, रुक्मिणी के कृष्ण को पत्र देने और उत्तर में कृष्ण के रुक्मिणी को पत्र भेजने का उल्लेख किया गया है।[8] पत्रों का विनिमय यहाँ भी विप्र के माध्यम से हुआ है, जबकि 'भागवत' में विप्र भेजने का कथन है, किन्तु पत्र-प्रेषण का

1. 'गर्गसंहिता', मथुरा खण्ड, 15/41
2. वही, मथुरा, 17/8, 17/11, 17/33, 18/11, 18/20
3. वही, मथुरा, 20/13
4. वही, मथुरा, 14/17
5. वही, मथुरा, 16/5
6. 'भागवत' 10/52; 'सूरसागर', 4785-4806
7. 'ब्रह्मवैवर्त', द्वि० एवं० (श्रीराम शर्मा), पृ० 389
8. 'गर्गसंहिता', श्री द्वारका खंड, 4/3-15.

नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेमिक अथवा वैवाहिक प्रसंगों में पत्रों के आदान-प्रदान की परम्परा 'गर्गसंहिता' से चली होगी जिसका अनुगमन सूर-जैसे कवियों ने किया है।

वर्तमान व्याख्यान में 'सारावली' ने नारद की मध्यस्थता का ग्रहण तो किया है, लेकिन विप्र अथवा विप्र द्वारा पत्रिका भेजने का उल्लेख नहीं किया है। हमारी समझ में नारद की पहल वाला विन्दु महत्त्वपूर्ण है। कुलदेवी वाला प्रसंग भी 'संहिता' में उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त, 'सारावली' में रुक्मिणी के कमला (लक्ष्मी) का अवतार होने का जो कथन आया है,[1] वह भी 'गर्गसंहिता' में उपलब्ध होता है—"रुक्मिणी तत्सुता जाता श्रियो मात्रातिसुन्दरी।"[2] अतएव, हमारा अनुमान है कि 'सारावली' में प्रस्तुत अनुवृत्त 'संहिता' से ग्रहण किया गया है, यद्यपि कृष्ण-रुक्मिणी की परिणय-तिथि दोनों में किञ्चिद् भिन्न पड़ती है। अथवा, 'सारावली' ने यह कथा किसी अन्य स्रोत से ही ली होगी जहाँ से उसने उसकी तिथि भी ले ली है। 'सूरसागर' तथा 'सारावली' का रचयिता एक ही होता तो एक ही व्याख्यान दो स्रोतों से न लिया होता, अथवा उसके विवरणों में भिन्नता नहीं आयी होती।

कृष्ण के अन्य विवाहों का वर्णन 'सारावली' तथा 'सूरसागर' दोनों में समान रूप से 'भागवत' से गृहीत हुआ है। किन्तु, जाम्बवती की विवाह-तिथि जो 'सारावली' में दी गयी है, उसका अनुमोदन हमें अन्यत्र नहीं मिला है। 'सारावली' की तिथि-निर्देश वाली प्रवृत्ति को हलके ढंग से उपेक्षित नहीं किया जा सकता। आखिर, यह प्रश्न बना ही रहता है कि उसे ये तमाम तिथियाँ कहाँ से मिलीं। 'भागवत' में तिथि-विषयक ऐसी तत्परता लक्षित नहीं होती, जबकि विद्वानों ने 'सारावली' को भागवतीय लीलाओं का सार बताया है।

कुरुक्षेत्र-मिलन—कुरुक्षेत्र-मिलन का प्रसंग 'सारावली' में 'भागवत' से संक्षेपतः गृहीत हुआ है। सूर्यग्रहण के अवसर पर भीष्म, कर्ण, युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र आदि कौरव-पाण्डवों के और नारद, गौतमादि ऋषि-मुनियों के हरि-दर्शनार्थ कुरुक्षेत्र में एकत्र होने का जो कथन 'सारावली' में उपलब्ध है,[3] वह भागवतानुसार ही है।[4] अतः डॉ० गौतम की यह टिप्पणी कि 'सारावली' में इतने राजाओं तथा ऋषियों का नाम "कदाचित्" "कृष्ण का बड़प्पन" सिद्ध करने के निमित्त गिनाया गया है,[5] तथ्यपूर्ण नहीं है। 'सूरसागर' में कृष्ण ने सूर्यग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र-गमन को व्रजवासियों से मिलने का निमित्त बनाया है और दूत भेज कर उन्हें वहाँ बुलाया है। 'भागवत' तथा 'सारावली' में यह प्रयोजन वर्णित नहीं है। निश्चित ही, 'सूरसागर' यहाँ किसी अन्य स्रोत से प्रभावित है और उसका रचयिता 'सारावली' के रचयिता से भिन्न है।

---

1. 'सारावली', 623
2. 'गर्गसंहिता', द्वारका, 4/3-15
3. 'सारावली', 712-15
4. 'भागवत', 10/82/24-27; 10/84/3-5
5. 'सूरासारावली', व्याख्या भाग, पृ० 118

(ङ) निकुंज-लीला

कृष्ण का द्वारका से लौटना—दशम स्कंध उत्तरार्द्ध के अल्प गौण प्रसंगों को छोड़कर,'सारावली' में वर्णित निकुंज-लीला वाले संदर्भों का ही परीक्षण हमारा अब अभीष्ट होगा। इस प्रसंग में सर्वाधिक ध्यानाकर्षक तथ्य है, कृष्ण का बलराम एवं उद्धव को साथ लेकर द्वारका से वापस लौटना और व्रज की गोपियों के साथ पुरानी विहार-लीलाओं को दुहराना—

"बलमोहन फिरि ब्रजहिं पधारे, ऊधो को सँग लीन्हें।
दीन्हों बास चरन रज गोपिन, गुल्मलता रस भीने।" (868)

डॉ० व्रजेश्वर वर्मा ने इस महत्वपूर्ण विन्दु को 'सारावली' की "अपनी अद्भुत एवं स्वतंत्र उद्भावना" कहकर उपेक्षित-सा कर दिया है।[1] पुनः, "बल-मोहन" के "मथुरा" से व्रज लौटने के उनके कथन में उनका अभिप्राय क्या है, समझ में नहीं आता क्योंकि कृष्ण वर्तमान प्रसंगों में मथुरा से नहीं, अपितु द्वारका से लौटे हैं। डॉ० वर्मा की इस टिप्पणी का परिष्कार डॉ० गौतम ने उतने ही हलके ढंग से यह कह कर लिया है कि "जो लीलाएँ गोकुल में रहते हुए 'सूरसागर' में वर्णित हैं, वे भागवत में न होने के कारण पहले नहीं कही गयी हैं। अतः कथा-शृंखला को जोड़ने के लिए कृष्णजी बलराम और उद्धव के साथ द्वारका से व्रज लौटते हुए कहे गये हैं।"[2] लेकिन, वास्तविकता यह है कि 'सारा-वली'कार ने यहाँ भागवतेतर परम्परा का अनुसरण किया है जिसमें कृष्ण-कथा विप्रलंभ के सरिता-कूलों को तोड़कर, अखण्ड संभोग के पीयूष-पयोनिधि में पर्यवसित हो गयी है। 'भागवत' में कुरुक्षेत्र-मिलन के पश्चात् कृष्ण के गोप-गोपियों से पुनः मिलने का कोई अनुवृत्त वर्णित नहीं है, यद्यपि बलराम के पुनर्व्रजागमन का प्रसंग वहाँ तथा 'सूरसागर' में भी अवश्य उपलब्ध है।[3] 'सूरसागर' में 'भागवत' के अनुसार ही, कृष्ण ने व्रजवासियों को अध्यात्म-ज्ञान देकर लौटा दिया है।[4] राधा-माधव-मिलन की परिणति भी अध्यात्म की इसी रहस्यमयी ध्वनि के साथ हुई है—

"राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव, माधव राधा, क्रीट-भृंग गति ह्वै जु रही।।
माधव राधा के रंग राँचे, राधा माधव रंग रई।
माधव राधा प्रीति निरंतर, रसना करि सौ कहि न गई।।
बिहँसि कह्यौ हम-तुम नहिं अंतर, यह कहि कै उन ब्रज पठई।
सूरदास प्रभु राधा माधव ब्रज बिहार नित नई-नई।।" (4910)

अर्थात्, इस आध्यात्मिक मिलन के पश्चात् राधा व्रज में वापस भेज ही दी गयी है। किन्तु, ऐसी बात नहीं कि 'सूरसागर' का रचयिता कृष्ण-कथा की सम्प्रयोगनिष्ठ

1. 'सूरदास' (1950), पृ० 94
2. 'सूरसारावली', आलोचना भाग, पृ० 23
3. 'भागवत', 10/65/1-32; 'सूरसागर', 4818
4. 'सूरसागर', 4912

परम्परा से पूर्णतः अनभिज्ञ हो, क्योंकि बलराम के पुनर्व्रजागमन के सन्दर्भ में उसने उनसे गोपियों को यह आश्वासन दिलाया है—

"यह सुनि हलधर धीरज धारि। कह्यौ आइहैं हरि निरधारि॥
जब बल यह संदेस सुनायौ। तब कछु इक मन धीरज आयौ।" (4818)

तथापि, 'सूरसागर' अन्ततोगत्वा विप्रलंभ-काव्य ही रह गया है क्योंकि सूर अपने गुरुवर्य वल्लभ की भागवतीय परम्परा का मूलतः अतिक्रमण नहीं कर सकते थे।

'ब्रह्मवैवर्त' में राधा-कृष्ण-कथा को सुख-पर्यवसायी बना दिया गया है। 'श्रीदामा-राधा कलह' के प्रसंग में बताया गया है कि राधा के साथ श्रीदामा का एक बार कलह हो गया जिसमें राधा ने श्रीदामा को शंखचूड़ राक्षस बन जाने का शाप दिया और तब श्रीदामा ने राधा को यह शाप दिया कि तुम व्रज में 'व्रजांगना होकर भूतल में विचरण करो।'[1] इस अभिशाप से त्रस्त होकर, राधा ने जब कृष्ण से भविष्यत् वियोग-दुःख का निवेदन किया, तब उन्होंने उसे आश्वासन दिया कि, "हे सुन्दरी ! मुझसे तुम्हारा भावी विच्छेद सौ वर्ष तक चलेगा। उस अवधि के व्यतीत हो जाने पर तुम्हारा मेरे साथ अहर्निश संयोग रहेगा। तब मैं पुनः तुम्हारे साथ व्रज में आऊँगा। ××××××× तुम्हारे साथ वहाँ वन में पुनः वास होगा; पुनः माता-पिता एवम् गोपियों का शोक-सम्मार्जन होगा। इस प्रकार, इस भूमि का भार अपहरण कर, तुम्हारे तथा गोपियों के साथ इसी गोलोक में मेरा आगमन होगा।"[2] इस आश्वासन का पालन 'ब्रह्मवैवर्त' में श्रीकृष्ण द्वारा किया गया है।

रासक्रीड़ा की पुनरावृत्ति--मथुरा से पुनः व्रज पधारने और गोपियों तथा राधा के साथ पुनः रासक्रीड़ा करने का वृत्तान्त 'गर्गसंहिता' में विस्तारपूर्वक वर्णित उपलब्ध होता है। उद्धव के साथ कृष्ण नन्दग्राम में आये हैं और वृन्दावन में कार्तिकी पूर्णिमा की रात में राधा तथा अन्य गोपियों के साथ यमुना के समीप पुनः रासलीला रचायी है। राधा के साथ कृष्ण के अन्तर्धान होने, गोपियों के विरह-दुःख के अनुमान से पुनः प्रकट होने तथा रासक्रीडा पुनः करने और ब्राह्ममूहूर्त्त में 'नन्दभवन' में लौट जाने का प्रस्तुत सन्दर्भ में वर्णन हुआ है। गोपादिकों के अनुरोध पर कृष्ण ने उन्हें आश्वासन दिया है कि मैं महीने-महीने तुम लोगों को देखने व्रज में आऊँगा—"मांस प्रत्यागमिष्यामि युष्मां-द्रष्टुं बचो मम।"[3]

'ब्रह्मवैवर्त' की भाँति 'संहिता' में भी श्रीदामा के राधा को दिये शाप का वृत्त उपनिबद्ध है। एक सौ वर्ष व्यतीत हो जाने पर, राधा चैत्र मास के सूर्य-पर्व पर कदली-वन से सिद्धाश्रमतीर्थ में स्नान-हेतु आयी है। उस अवसर पर आठों पट्टमहिषियों तथा सोलह हजार रानियों के साथ श्रीकृष्ण भी उस महातीर्थ में पधारे हैं। तदनन्तर, वैशाख की पूर्णिमा को प्रदोष-काल में रामेश्वरी राधा, अन्य गोपांगनाओं तथा अपनी सभी पत्नियों के साथ उन्होंने वृन्दावनीय "रास-पद्धति" पर रासलीला की है।[4] 'संहिता'-कार का वर्णन है—

---

1. 'ब्रह्मवैवर्त', द्वि० ख० (श्रीराम शर्मा), पृ० 16
2. वही, पृ० 53-54
3. 'गर्गसंहिता', मथुरा खण्ड, अध्याय 19
4. वही, श्रीद्वारका खण्ड, अध्याय 16-18

"यावतीर्गोपिकाः सर्वा यावती राजकन्यकाः।
तावद् रूपधरो रेजे एकः कृष्णोर्द्वयोर्द्वयोः।।
तालवेणुमृदङ्गानां कलकण्ठैः सखीजनैः।
वलगुनूपुरकाञ्चीनां मिश्रशब्दो महानभूत्।।"[1]

"जितनी गोपियाँ तथा जितनी राजकन्यकाएँ थीं, उतने ही रूप एक कृष्ण के हो गये। तब दो-दो स्त्रियों के बीच एक-एक कृष्ण दिखायी पड़े। मृदंग, मंजीर और वीणा के शब्दों, मनोहर कंठवाली सखियों के शब्दों तथा नूपुरों-मेखलाओं के मधुर शब्दों के परस्पर मिलने से महान् ध्वनि-संगम प्रादुर्भूत हो गया।"

सिद्धाश्रम में सम्पन्न रासलीला के पश्चात् कृष्ण समस्त रानियों, राधा तथा गोपीजनों के सहित द्वारका में लौट आये हैं।

श्रीदामा के शाप की अवधि व्यतीत हो जाने पर, कृष्ण द्वारा वृन्दावन में रास रचाने का वृत्तान्त अश्वमेध-खंड में भी निबद्ध है। अनिरुद्ध तथा शिव के युद्ध में सन्दर्भ में भगवान् कृष्ण उद्धवादिकों के साथ व्रज में आये हैं। वहाँ उन्होंने विरहिणी राधा के अनुरोध पर हेमन्तर्तु के प्रथम मास की पूर्णिमा में वृन्दावन में पुनः यमुना-तट पर स्थित निकुंज में रास-लीला की है। असंख्य गोपवनिताएँ—कुछ मुग्धा, कुछ मध्या, कुछ प्रगल्भा—रासेश्वरी राधा के साथ नाना हावभावपूर्वक रासनृत्य करने लगती हैं। जितनी गोपियाँ थीं, उतने ही रूप धारण कर कृष्ण उनके साथ रमण करने लगते हैं।[2]

पुनः प्रारम्भिक वृन्दावनीय रास की पद्धति दुहरायी जाती है। कृष्ण के साथ विहार से तृप्तीभूत गोपियाँ "मानवती" होकर कृष्ण के प्रति, उनकी सौन्दर्य-लिप्सा को लेकर अनेकधा "कुवाक्य" कहने लगती हैं और अपने सौन्दर्य पर अति अभिमान करने लगती हैं—"हम जैसी सुन्दरियाँ देवांगनाएँ भी नहीं हैं। हमने कटाक्षों से कामी कृष्ण को वश्य कर लिया है। अहो ! जिस हंस ने केवल मोती चुगे हैं, वह अन्य वस्तु कैसे भक्षण कर सकता है? मोती सर्वत्र नहीं, मानसरोवर में ही मिलते हैं। वैसे ही, सुन्दरियाँ सर्वत्र नहीं, इस व्रज में ही हैं।"

इन "कुवाक्यों" को सुनकर कृष्ण राधा के साथ अन्तर्धान हो गये हैं जिससे विरह-मग्न तरुणियाँ वन-वन में कृष्ण को खोजने लगीं और वन-देवताओं, हरिणों, मयूरों आदि से बिखरी अलकों वाले "किरीटी" कृष्ण का पता पूछने लगी हैं।[3] बाद को, राधा भी मान करने पर कृष्ण द्वारा परित्यक्त कर दी गयी है। उसका विलाप सुनकर, अन्य गोपवनिताएँ उसके पास पहुँचती हैं। कृष्ण भी दयार्द्र होकर प्रकट होते हैं और तब कदलीवन में रास उल्लासपूर्वक सम्पादित होती है। हेमन्तर्तु की वह रात क्षणवत् व्यतीत हो गयी है और गोपों को उस रास का पता तक नहीं चला है, क्योंकि उन्होंने अपनी पत्नियों को अपने पास सोयी हुई समझा है।[4]

1. 'गर्गसंहिता', श्रीद्वारका खण्ड, 18/15-16
2. वही, अश्वमेध, 42/1-42
3. वही, अश्वमेध, 44/10-16
4. वही, अश्वमेध, 46/21-52

यहाँ उल्लेख्य है कि 'वृन्दावन खण्ड' में जिस पहली रास का वर्णन हुआ है, उसमें छह महीने की रात होने का कथन हुआ है।[1] इस एक विन्दु को छोड़कर अन्य सभी परवर्ती रासें प्रारंभिक रास की पद्धति का ही अनुसरण करती हैं—जो वासंती रास है और वैशाख शुक्ला पंचमी की चन्द्रिकोज्ज्वल विभावरी में सम्पन्न हुई है। 'ब्रह्मवैवर्त' में पहली रास चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को चन्द्रोदय के पश्चात् वृन्दावन में हुई है[2] और पुनः "प्राणेश्वरी" राधा के साथ, कृष्ण के चौदह वर्ष तक रास रचाने का व्याख्यान हुआ है।[3]

अतएव, यह प्रमाणित है कि 'सारावली' का व्रज-पुनरागमन वाला प्रसंग उसके रचयिता की "स्वतंत्र उद्भावना" नहीं, अपितु एक भिन्न परम्परा का अनुसरण है।

दानलीला—निकुंज-लीलाओं में दानलीला का निश्चित महत्त्व है। प्रायः सभी कृष्ण भक्त-कवियों ने इसका वर्णन किया है। किन्तु, 'भागवत', 'ब्रह्मवैवर्त' आदि में यह लीला वर्णित नहीं है। 'गर्गसंहिता' में इस लीला के बीज उपलब्ध होते हैं। वहाँ कृष्ण "गोप-देवता" (नारी) का रूप धारण कर राधा के प्रेम की परीक्षा लेने जाते हैं और कृष्ण की निन्दा करने लगते हैं—"हे राधे ! गोवर्धन पर्वत की मनोहर 'संकोच' गली में होकर मैं दही बेचने जाती थी। मार्ग में नन्द-पुत्र ने मुझे रोक लिया। वंशी तथा बेंत लिये हुए उस निर्लज्ज ने मेरा हाथ पकड़ लिया और कहने लगा : 'अरी ! यहाँ मेरा कर लगता है, उसे देकर जाओ।' इस तरह वह मुझसे कर माँगने लगा। तब मैंने कहा : 'गोरस-लम्पट ! तुम्हें मैं कर नहीं दूँगी। तब उसने मेरी दही-भरी मटकी फोड़ दी और दही पीकर मेरी चादर ले पर्वत-कन्दरा में छिप गया। हे प्यारी ! मैं 'विमना' हो गयी हूँ। जाति का गोप; वर्ण में काला; न धनी, न वीर; न सुन्दर, न शीलवान्। तुमने क्या सोच कर उस निर्मोहन कृष्ण में मन लगाया है ? उसे शीघ्र छोड़ दो।"[4]

'संहिता' में अन्यत्र वस्तुतः दानलीला का वर्णन आया है—"एक समय गोपियों का झुंड दही बेचने निकला। उनके नूपुरों का शब्द सुनकर अनंगमोही कृष्ण ने आकर उनका मार्ग रोक लिया। वंशी बजाते, बेंत लिये, वे गोपों के साथ उनके सामने खड़े हो गये और बोले, हे प्रियाओ ! यहाँ मुझे देय कर का धन चुकाओ। तब गोपियाँ बोलीं : 'तुम रस-लम्पट हो; हम तुम्हारे माता-पिता के साथ तुम्हें बंधन में डलवा देंगी।' यह सुनकर भगवान् बोले : 'कंस का भय मत दिखाओ। मैं उसकी चुटिया पकड़ कर गिरिराज-भूमि में खींच लाऊँगा।' ऐसा कहकर, कृष्ण ने गोपियों से दही के बर्तन छीन लिये और भूमि पर पटक दिये। × × × × × तदनंतर, कृष्ण कदंब के पत्तों का दोना बना कर दही खाने लगे। वही स्थान 'द्रोणक्षेत्र' कहलाता है।"[5]

---

1. 'गर्गसंहिता', वृन्दावन, अध्याय 16-21
2. संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्त पुराणांक, 'कल्याण', वर्ष 37, सं० 1, पृ० 444
3. वही, पृ० 493
4. 'गर्गसंहिता', वृन्दावन खंड, 14/14-18
5. वही, गिरिराज खण्ड, 7/15-23

उपर्युद्धृत अवतरणों से प्रमाणित होता है कि भागवत-भिन्न होते हुए भी, कृष्ण-काव्य में दानलीला जैसी माधुर्य-लीलाओं की परम्परा विद्यमान थी और इसलिए उन्हें सूर अथवा अन्य किसी कवि की मौलिक उद्‌भावना बताना युक्तिसंगत नहीं है।

'सारावली' में दानलीला वर्णित हुई है। किन्तु, 'सूरसागर' में इस लीला की योजना स्वयं कृष्ण ने बनायी है जबकि 'सारावली' में यह ललिता एवं चन्द्रावली के सहयोग से नियोजित हुई है। पुनः 'सूरसागर' में शृंगार रस की जो अतिशय मादन-धारा प्रवाहित है, उसका नितान्त अभाव 'सारावली' में लक्षित होता है। "नित्य विहार" का वर्णन 'सारावली' की एक प्रमुख प्रेरणा बनायी गयी है और दानलीला को उस "मंदिर का प्रवेश-द्वार" कहा गया है।[1] तब, 'सारावली' के रचयिता समझे जाने वाले सूर ने अपने पूर्वरचित 'सागर' की गहरी माधुर्य-धारा को इतनी विरल, इतनी पतली कैसे बना दिया, जबकि 'सारावली' का प्रणयन 'सिद्धान्त-निरूपण' के उद्देश्य से किया गया ?

मानलीला—दानलीला के समान मानलीला की चर्चा भी 'गर्गसंहिता' में आयी है।[2] 'सूरसागर' तथा 'सारावली' दोनों में यह लीला प्रकीर्तित हुई है। इस प्रसंग में इतना ही ध्यानाकर्षण अलम् है कि 'सारावली' में, कृष्ण के हृदय में पड़े "हरि-नख" (बघनखे) में अपनी परछाँही देखकर राधा मान कर लेती है, जबकि 'सूरसागर' में उपवर्णित चार मानलीलाओं में से एक में राधा, कृष्ण के हृदय में अपनी परछाँही देखकर मानवती होती है और अंतिम 'बड़ी मानलीला' में मान-भंग के अंतिम क्षणों में कृष्ण के उर में पड़ी मणिमाला में अपनी छाया देखकर, वह पुनः रुष्ट हो गयी है। "मणि-दर्पण" के उपयोग के पश्चात् सूर परवर्ती, सोद्देश्य-प्रणीत, संक्षिप्त रचना में उसके बदले बघनखे का प्रयोग करेंगे, जबकि बघनखा शिशुओं का आभूषण है—नितान्त अनर्गल बात प्रतीत होती है।

होली-वर्णन—होली-वर्णन 'सारावली' का सर्वाधिक प्रशंसित प्रसंग है, क्योंकि होली-रूपक से सृष्टि-विकास का वर्णन उसकी सर्वोपरि उपलब्धि माना गया है। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि इस भागवतातिरिक्त, किन्तु लोकप्रिय लीला का ललित चित्रण 'गर्गसंहिता' में उपनिबद्ध हुआ है। उस "होलिकोत्सव" में राधा मान छोड़कर, कृष्ण के साथ होली खेलती है। चन्दन, अगरु, कस्तूरी आदि रंगों से भरी पिचकारियों तथा गुलाल से भरी पोटलियों के साथ, होली के गीत तथा गालियाँ गाती हुई, धरती तथा आकाश को अबीर की मुट्ठियों से लाल करती हुई, गोपियाँ कृष्ण को चारों ओर से घेर लेती हैं और उनके मुख पर रंग लपेटती हुई, अबीर-गुलाल की वर्षा से उन्हें भिगो

1. 'सूरसारावली, व्याख्या-भाग, पृ० 139
2. 'गर्गसंहिता', वृन्दावन, 2/38; विश्वजित् खंड, 26/8

देती हैं। देवता पुष्पों की वृष्टि करते हैं और राधा-कृष्ण की वैसी शोभा होती है, जैसी श्याम घटा की शोभा बिजली से होती है।[1]

प्रायः सभी कृष्णभक्त-कवियों ने न्यूनाधिक परिमाण में राधा-कृष्ण की वसंत-क्रीड़ा में होली का प्रकीर्तन किया है। 'गर्गसंहिता' में उपलब्ध होलिकोत्सव-वर्णन से इन कवियों को होली-गान की प्रेरणा तथा परम्परा मिली होगी—ऐसा माना जा सकता है क्योंकि 'संहिता' से उन्हें इस लोक-प्रचलित लीला को राधा-कृष्ण की मधुर लीलाओं से जोड़ने में शास्त्रीय आधार मिला होगा। एक विन्दु ध्यातव्य यह है कि तमाम लोकोत्तर प्रसंगों के बावजूद, हमारी लोक-चेतना का पौराणिक चेतना में अथवा पौराणिक चेतना का हमारी लोक-चेतना में प्रगाढ़ सम्मिश्रण हो गया है। इस कारण, कृष्ण की लीला-गान-परम्परा में दो अथवा दो से अधिक भक्तकवियों के वर्णनों में घनिष्ठ साम्य दृष्टिगोचर होता है या हो सकता है। अतएव; यदि 'सारावली' तथा 'सूरसागर' के कतिपय वर्णन समान दीखते हैं तो उस आधार पर इनके रचयिताओं का एकीकरण कथमपि तर्कसंगत नहीं होगा।

'सारावली' में उपलब्ध एक-दो उल्लेखों की चर्चा यहाँ अपेक्षित प्रतीत होती है। उसमें "रतनचौक" में होली खेलने तथा कृष्ण के ग्वाल-बालों सहित सिंहद्वार पर बैठने का कथन हुआ है, जबकि ये महत्त्व के उल्लेख 'सूरसागर' में उपलब्ध नहीं हैं। इन तथा इन जैसे कतिपय अन्य शब्दों के 'सारावली' में प्रयोग उसके रचयिता पर "साम्प्रदायिक छाप" का साक्ष्य तो प्रस्तुत कर सकते हैं,[2] लेकिन इसी कारण, वह 'सूरसागर' का

1. "अथ मानवती राधा मानं व्यक्त्वा समुत्थिता।
सखीसंघैः परिवृता प्रकर्तुं होलिकोत्सवं॥
श्रीखण्डागरुकस्तूरीहरिद्राकुंकुमद्रुमैः।
पूरिताभिर्दृतीभिश्च संयुक्तास्ता व्रजाङ्गनाः॥
रक्तहस्ताः पतिवस्त्राः कूजन्नूपुरमेखलाः।
गायन्त्यो होलिकागीतिर्गालीभिर्हास्यसंधिभिः॥
आवीरारुणचूर्णानां मुष्टिभिस्ता इतस्ततः।
कुर्वन्त्यश्चारुणं भूमिं दिगन्तं चाम्बरं तथा॥
× × × × × ×
तनमुखञ्च विलिम्पत्योऽथाबीरारुणवृष्टिभिः।
कुंकुमाक्तदृतीभिस्तमार्द्री चक्रुर्विधानतः॥
× × × × × ×
राधया शुशुभे तत्र होलिकाया महोत्सवे।
वर्षासन्ध्याक्षणे कृष्णः सौदामिन्या घनो यथा"।
—'गर्गसहिता', माधुर्यखण्ड, 12/8-22

2. 'सूरदास' (सं० हरवंशलाल शर्मा) में संकलित डॉ० गोवर्धननाथ शुक्ल का निबंध, "सारावली के प्रणयन का रहस्य", पृ० 84

सूरदास होगा—ऐसी कल्पना दुर्बल तथा असंगत है। पुनः, 'सारावली' होली-प्रसंग में राधा-कृष्ण विवाह का कथन करती है,[1] जबकि 'सूरसागर' में प्रस्तुत विवाह रासलीला के मध्य हुआ है।[2] एक ही कवि इस महत्वमय प्रसंग को भिन्न-भिन्न संदर्भों में सन्निविष्ट नहीं करेगा। गुजराती के प्रसिद्ध कवि नरसी ने होली-विषयक वसंत-पंचमी के एक पद में राधा-कृष्ण विवाह का वर्णन किया है।[3] अतएव, यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी कि 'सारावली' ने होली के मध्य राधा-कृष्ण का परिणय कराकर, नरसी वाली किसी भिन्न परम्परा का अनुसरण किया है और इस कारण उसका रचयिता 'सूरसागर' के रचयिता से भिन्न व्यक्ति है।

संकर्षण के वदन से अग्नि-निस्सरण—होली-रूपक का आकर्षण 'सारावली' के रचयिता के मानस में इतना घनीभूत है कि संकर्षण के मुख से निकली अग्नि के भागवतीय उल्लेख को भी वह अपने मनोनुकूल रूपान्तरित कर लेता है, यथा—

"संकर्षन के बदन अनल ते उपजी अगिनि अपार।
सकल ब्रह्मांड तुरत तेज सों मानो होरी दई पजार।" (1100)

'श्रीमद्भागवत' में प्रलय के संदर्भ में संकर्षण के वदन से अग्नि के निकलने का उल्लेख हुआ है, सृष्टि-रचना के संदर्भ में नहीं। निम्न श्लोक द्रष्टव्य है—

"त्रिलोक्यं दह्यमानायां शक्तया संकर्षणाग्निना।
यान्त्यूष्मणा महर्लोकाज्जनं भृगवादयोऽर्दिताः॥
तावत्त्रिभुवनं सद्यः कल्पान्तैधितसिन्धवः।
प्लावन्त्युत्कटाटोप चण्डवातैरितोर्मयः॥"

—भागवत, 3/11/29-30

"इस अवसर पर तीनों लोक संकर्षण के मुख से निकली अग्नि-रूप भगवान् की शक्ति से जलने लगते हैं। अतः उसके ताप से व्याकुल होकर भृगु आदि मुनिगण महर्लोक से जनलोक में चले जाते हैं। इतने में सातों समुद्र प्रलयकाल के प्रचण्ड पवन से उमड़ कर, अपनी उत्ताल तरंगों से त्रिलोकी को डुबो देते हैं।"

डॉ० गौतम के अनुसार, 'सारावली' के रचयिता का उपर्युद्धृत छन्द में तात्पर्य यह है कि "भगवान् के ही संकर्षण-रूप से सृष्टि-रूपी होली का प्रसार हुआ और सारे ब्रह्माण्ड की सृष्टि हुई। सारावली के आरम्भ में जो सृष्टि-वर्णन है, वह होली के रूप में प्रस्तुत है। उसी को पुनः सारांश रूप में यहाँ कहा गया है।"[4] इस व्याख्या को स्वीकार करने पर स्वभावतः यह शंका उत्पन्न होती है कि जब पौराणिक परम्परा में भगवान्

---

1. 'सारावली', 1065-66
2. 'सूरसागर', 1689-1695
3. 'गुजराती और ब्रजभाषा कृष्णकाव्य', पृ० 117-18
4. 'सूरसारावली', व्याख्या भाग, पृ० 180

संकर्षण अथवा शेष प्रलयकालीन संहार का प्रतिनिधित्व करते हैं, तब 'सारावली' के रचयिता प्रसिद्ध सूरदास ने इस शास्त्रीय परम्परा को विपर्यस्त कैसे कर दिया ? पंडितों ने 'सारावली' के वर्तमान रूपक की कल्पना को आचार्य वल्लभ के "वैश्वानरावतार" होने की ख्याति से अनुप्राणित माना है। पुष्टिमार्ग "वैश्वानर-प्रवर्तित अग्निमार्ग (प्रेमाग्नि वाला)" हो सकता है और "चराचरात्मक सृष्टि" के वियोगाग्नि में दह्यमान होने की कल्पना भी स्वीकार की जा सकती है।[1] लेकिन संकर्षण की वदनाग्नि से, जिसकी चरितार्थता प्रलयकाल में ही उत्पन्न है, इस प्रेम-रूपी "अग्नि-मार्ग" की कौन-सी संगति, कैसे बैठती है ? संकर्षण की मुखाग्नि का उल्लेख न कर, 'सारावली' में यदि वैदिक "वैश्वानर" की पोषणप्रियता की सांकेतिक व्यंजना हुई होती, तो हमें कोई आपत्ति नहीं होती। किन्तु संकर्षण की मुखाग्नि से सृष्टि-विस्तार की कल्पना अनोखी है। तब, निसर्गत: यह प्रश्न उठता है कि क्या यह भी कोई शास्त्रविरोधी परम्परा थी जिसका अनुसरण 'सारावली' के प्रणेता ने किया है अथवा यह केवल उसकी "मौलिकता" की साहसपूर्ण सनक का परिणाम है ? आचार्य वल्लभ-कृत 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' तथा 'सारावली' में वर्णन का सादृश्य प्रदर्शित किया गया है।[2] किन्तु 'सहस्रनाम' में उल्लिखित भागवतेतर "पुराणान्तरभाषितं" वाले प्रसंगों में भी होली-रूपक का संकेत नहीं मिलता।

'तत्त्व-गणना' में दश प्राणों के 'सारावली'कार द्वारा सम्मिलित किये जाने के संदर्भ में मैंने दिखाया है कि पंचरात्रीय 'विश्वकसेन संहिता' में पाँच प्राणों को तत्त्वों में समाविष्ट किया गया है। इससे, जैसा पहले कहा है, यह अनुमान ग्राह्य प्रतीत होता है कि 'सारावली' का रचियता पाँच रात्रागम-सम्मत मान्यताओं से अभिज्ञ था। वर्तमान प्रसंग में, पंचरात्रीय अपर संहिता, 'सात्वत-संहिता', में भगवान् अथवा भगवान् के व्यूहात्मक स्वरूपों के वर्णन में प्राप्त कतिपय उल्लेखों का कथन हमें आहूत प्रतीत होता है—

"पद्मराग समानेन ते जाता समनन्तरम्। उदेति दक्षिणस्यां वै प्रभुस्संकर्षणात्मना॥
धर्मांशुरश्मिसन्तप्त-शत धामाधिकेन तु। रूपेण पश्चिमान्यां च व्यक्तम् प्रद्युम्नसंज्ञया॥"
(4/9-10)

× × ×

"स्वदेह तेजस्सम्भूत ज्वालामण्डलमध्यगाः।" (4/16)

इन उद्धरणों में उपलब्ध तेज, "धर्मांशुरश्मिसन्तप्त" इत्यादि और 'तेजस्सम्भूत ज्वालामण्डल' जैसे पदों से इस अनुमान की पुष्टि होगी कि 'सारावली'कार ने ऐसी संहिताओं में निबद्ध ऐसे उल्लेखों से संकर्षण की वदनाग्नि से सकल ब्रह्माण्डों के प्रज्वलित अथवा प्रोद्भासित होने की कल्पना ग्रहण की होगी। इस अनुमान की कुछ अधिक पुष्टि अग्रलिखित श्लोकों से होती है—

---

1. 'सूरदास' (सं० हरवंशलाल) में डॉ० गोवर्धननाथ शुक्ल का निबंध, "सूर सारावली के प्रणयन का रहस्य", पृ० 81

2. वही, पृ० 81

"मकाराद्यो विसर्गान्तो यत्र पृथ्वी गणस्स्वयम् ।
कालवैश्वानरस्साक्षान्मार्तण्डा युतसन्निभः ।।
ज्वालाऽयुतसहस्त्राढ्यो वर्णान्तो भगवान् स्थितः ।
आमध्यात्प्राथिपर्यन्तं नमोन्तावर्णसन्ततिः ।।"

यहाँ भगवान् को 'कालवैश्वानर' बताते हुए, साक्षात् हज़ारों मार्तण्ड की द्युति धारण करने वाला और करोड़ों ज्वालाओं से संयुक्त बताया गया है ।

विवक्षा यह है कि यदि 'सारावली' के प्रणेता को शास्त्रविरोधी परम्परा का अनुसर्ता न माना जाय, तो उसकी शास्त्र-परतंत्रता की पुष्टि के लिए पंचरात्र-संहिताओं का अध्ययन अपेक्षित भासित होता है । वर्तमान प्रसंग के अवलोकन से भी इस मान्यता का अपलाप होता है कि 'सूरसागर' वाले सूर ने 'सारावली' का प्रणयन किया ।

वर्तमान प्रसंग में एक अन्य विन्दु भी विचारणीय है । निकुंज-लीलाओं में होली की वह भूयसी महिमा प्रतिष्ठित नहीं है जो रास, दान एवं रतिरमण वाली गोप्य लीलाओं के साथ जुड़ी है । होली तो 'कुंजलीला' मात्र है, 'निकुंज-लीला' नहीं । 'कुंजलीला' में वह गोप्यता अथवा अंतरंगता नहीं होती जो 'निकुंज-लीला' को विशेषित करती है । सखियों का जालरन्ध्र से राधा-कृष्ण की रहःकेलियों का दर्शन करना निकुंज-लीला के रूप को सही ढंग से परिभाषित करता है । व्रज की निकुंज-लीला का वर्णन 'सारावली' की 'अपनी मौलिकता' माना गया है ।[1] तब, उसकी अपर, कदाचित् अधिक महत्त्वमयी समझी जाने वाली, होली-रूप में सृष्टि-वर्णन की सहयोगी, मौलिकता को पहली मौलिकता के साथ सहयोजित करना कठिन प्रतीत होता है ।

यहाँ एक और टिप्पणी आहूत है । कृष्ण की माधुर्य-लीलाओं में 'रासलीला' का सर्वोपरि महत्त्व स्थापित है । 'श्रीमद्भागवत' की 'रासपञ्चाध्यायी' पर अनेक टीकाएँ तथा भाष्य प्रणीत हुए हैं क्योंकि पाँच अध्याय 'भागवत' के "पंचप्राण" माने जाते हैं ।[2] तब, आश्चर्य का विषय उत्पन्न होता है कि 'भागवत' का "सैद्धान्तिक सार" प्रस्तुत करने वाली 'सारावली' ने इस केन्द्रीय "रस-लीला"[3] का केवल दो-तीन छन्दों में सरसरी तौर पर उल्लेख मात्र ही कर क्यों संतोष कर लिया, उसका विशद 'वर्णन' क्यों नहीं किया ?[4] प्रसिद्ध सूरदास रासलीला की इतनी उपेक्षा नहीं कर सकते थे । सृष्टिरचना के नव निरूपण में 'रास-तत्त्व' (नृत्य-तत्त्व) का होली की अपेक्षा अधिक रमणीय नियोजन हो सकता था जिसमें शास्त्रीयता एवं लोकसुलभता दोनों का मणिकांचन-संयोग निष्पक्ष हुआ होता । 'सूरसागर' के सूरदास के मन में, वह भी परिपक्व वार्धक्य में, यदि किसी नवसिद्धान्त-निरूपण का मोह आया होता, तो 'श्रीमद्-भागवत' अथवा पुष्टिमार्गीय परम्परा में प्रतिष्ठित मूलभूत दार्शनिक तत्त्वों की परिधि का अतिक्रमण कथमपि उनके लिए लोभनीय नहीं सिद्ध हुआ होता ।

---

1. 'सूरदास' (सं० हरवंशलाल) में डॉ० गोवर्धननाथ शुक्ल का निबंध, "सूर-सारावली के प्रणयन का रहस्य", पृ० 81

2. 'भागवत', 10/29-33

3. "नीरस कवि न कहै रस रीति । रसिकहिं रस-लीला पर प्रीति ।।"
—'सूरसागर', 1798, रास-वर्णन ।

4. 'सारावली' 477, 726, 1008

(छ) निष्कर्ष

"श्री बल्लभ गुरु तत्त्व सुनायौ" इत्यादि वाले कथन 'सारावली' के रचयिता को 'सूरसागर' के रचयिता से अभिन्न मानने के पक्ष में महत्वपूर्ण प्रमाण माने गये हैं। किन्तु हमने प्रस्तुत गवेषणा में जिन तथ्यों का उन्मीलन किया है, उनसे प्रमाणित होता है कि 'सारावली'कार कोई अन्य सूरदास था जिसका भी 'ब्रह्म-सम्बन्ध' वल्लभाचार्य अथवा उनके वंशजों से रहा होगा।[1] जैसा ऊपर दिखाया गया है, 'सूरसागर' में भी भागवतेतर पुराणों इत्यादि से प्राप्त लीला-विवरण उपनिबद्ध हुए हैं और 'सारावली' में भी। किन्तु, यदि एक ही लीला अथवा प्रसंग के विवरण इनमें भिन्न-भिन्न उपलब्ध होते हैं, तो इन दोनों के एक ही रचयिता माने जाने में तर्कसंगत आपत्ति उपस्थित होती है। हमने पूर्व के अनुच्छेदों में ऐसे कतिपय प्रसंगों का सूक्ष्म परीक्षण किया है। पुनः, जहाँ 'सारावली' वल्लभ सम्प्रदाय अथवा भागवत में प्रतिष्ठित दार्शनिक परम्परा का उल्लंघन करती है, वहाँ तो यह अनुमान भी खंडित हो जाता है कि उसके प्रणेता ने वल्लभाचार्य से लीला-तत्त्व की दीक्षा ली होगी। सर्वाधिक महत्वशाली तथ्य, जो 'सारावली' के रचयिता को 'सूरसागर' के रचयिता से सर्वथा भिन्न ठहराता है, 'सारावली'कार का कृष्ण-कथा को संयोग-पर्यवसायी बना देना है जिस तथ्य का, संबद्ध सूत्रों अथवा परम्परा की जानकारी के अभाव में, विद्वानों ने मनचाहा समाधान निकाल लिया है।

अब, प्रश्न उठता है : 'सारावली' का रचयिता कौन है ? नागरीदास ने सूरदास-नामधारी एक व्रजवासी लड़के का उल्लेख किया है जो दो तुकवाले होली के 'भँड़ौए' बनाया करता था और जिसे 'गुसाईं जी ने भगवत्-यश वर्णन करने की सलाह दी।[2] नागरीदास का कविता-काल अठारहवीं शती का पूर्वार्द्ध माना गया है। गोस्वामी हरिरायजी का समय, 'भाव-प्रकाश' के प्रणयन के आधार पर, अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का प्रथम चरण माना जा सकता है। अतएव, नागरीदास द्वारा उल्लिखित 'श्री गुसाईं जी' का आशय स्पष्टतः गोस्वामी हरिराय से है। होली के 'भँड़ौए' बनाने में कुशल इस सूरदास ने, गुसाईं जी के निर्देश पर, 'सारावली' का प्रणयन किया और अपनी निजी प्रियता के अनुसार, होली के रूपक के व्याज से सृष्टि का वर्णन भी प्रस्तुत कर दिया होगा—इस अनुमान को प्रेरणा मिलती है। कवित्व-कला में वह निष्णात नहीं था, किन्तु वह चतुर एवम् बहुश्रुत अवश्य रहा होगा और 'सूरसागर' की पदावली से परिचित

---

1. 'सूर'-नामधारी सोलह कवियों की खोज की जा चुकी है (द्रष्टव्य : 'सूर विशेषांक', 'हिन्दुस्तानी', पृ० 54)। डॉ० सत्येन्द्र ने एक मार्क की बात और कही है कि सूरदास ने अपने लिए स्वयं "कवि" शब्द का प्रयोग कहीं नहीं किया है, किन्तु 'सारावली' के आरंभ में ही "सूर कवि" की छाप है और जहाँ-जहाँ "सूरज" छाप उसमें आयी है, उसके साथ "कवि" शब्द जुड़ा हुआ है जो "कुछ अद्भुत-सी बात" है। द्रष्टव्य : 'सूर विशेषांक', पृ० 34। डॉ० सत्येन्द्र के इस कथन में जान प्रतीत होती है, यद्यपि अपने को "कवि" कहने वाले 'सारावली'कार ने कवि-सुलभ वैदग्ध्य, रचना-कौशल अथवा "तद्विदाह्लादकारित्व" का परिचय नहीं दिया है जो 'सूरसागर' का निजी वैशिष्ट्य है। —लेखक

2. 'नागर-समुच्चय' (ज्ञानसागर प्रेस), पृ० 212—डॉ० व्रजेश्वर वर्मा द्वारा उद्धृत, 'सूरदास' (1979), पृ० 34 पर।

भी। इस सूरदास की दो तुक वाले भँड़ौए की रचना और 'सारावली' में प्रयुक्त दो पंक्तियों वाले छन्दों के निबंधन में जो सादृश्य दृष्टिगोचर होता है, क्या उसे पूर्णतः संयोग की बात ही माना जाय ?

असलियत जो भी हो, इतना निश्चित है कि "पुष्टिमार्ग के जहाज" प्रसिद्ध सूरदास 'सारावली' के रचयिता नहीं हैं।

साहित्य-लहरी

(क)

परिचय—'साहित्य-लहरी' एक "चमत्कारपूर्ण रीति-काव्य" है। इसकी रचना 'दृष्टिकूट' पदों में हुई है। 'दृष्टिकूट' वह रचना है जिसमें श्लेष, यमकादि अलंकारों तथा अनेकार्थवाची विशिष्ट शब्दों के प्रयोग से, वाचक अर्थ की अपेक्षा, किसी रूढ़ अर्थ अथवा प्रसंग का द्योतन किया गया होता है। ऐसी रचना को भागवत में "वाचःकूट" कहा गया है। श्री प्रभुदयाल मीतल के अनुसार ऐसी रचना किसी विशिष्ट उद्देश्य से की जाती है।[1]

'साहित्य-लहरी' में कुल 118 पद हैं जिनमें से 110 को मीतलजी ने मूल ग्रंथ के अंतर्गत और शेष 10 को परिशिष्ट (1) में रखा है। इसे सामान्यतः नायिका-भेद की रचना समझा गया है, किन्तु यह वास्तव में मुख्यतया अलंकार-ग्रंथ है। नायिका-भेद केवल प्रारंभ के 37 पदों में उपलब्ध है, जबकि अलंकारों का उल्लेख आदि से अन्त तक मिलता है। इस ग्रंथ की एक बड़ी विशेषता यह है कि इसके 107 पदों में वर्णित काव्यांगों का नामोल्लेख भी उनमें कर दिया गया है। 108वाँ पद 'साहित्य-लहरी' के प्रणयन-काल का सूचक है—

"मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरीनंद कौ लिखि, सुबल संबत पेख ॥
नंदनंदन मास, छै तें तीन त्रितिया बार।
नंदनंदन जनम ते है बान सुख आगार ॥
त्रितिय रिच्छ, सुकर्म जोग, बिचारि 'सूर' नवीन।
नंदनंदन दास हित 'साहित्य लहरी' कीन।"

मीतलजी ने इस दृष्टिकूट पद का यों अर्थ किया है—

शब्दार्थ—मुनि=सात। पुनि=फिर। रसन=जिह्वा (रसना)=एक। रस=छह। दसन गौरी नंद कौ=(दसन=दाँत, गौरीनंद=पार्वती-पुत्र=गणेश; गणेश के एक दाँत है) एक। मुनि पुनि × × ×संबत पेख (7, 1, 6 और 1 अंकों को उलटकर पढ़ने से)=संवत् 1617। नन्दनन्दन मास=वैशाख महीना। छै तें ही त्रितिया=अक्षय

1. 'साहित्य-लहरी' (सम्पा० प्रभुदयाल मीतल), 1961, भूमिका भाग, पृ० 2

तृतीया। बार नन्दनन्दन जनम तें है बान (नन्दनन्दन=कृष्ण; उनके जन्म का वार अर्थात्, दिन बुधवार; बान=वाण=5, अर्थात् बुधवार से पाँचवाँ वार)=रविवार। त्रितिय रिच्छ (त्रितिय=तीसरा, रिच्छ=नक्षत्र; तीसरा नक्षत्र)=कृत्तिका नक्षत्र। सुकर्म जोग सुकर्म योग। नन्दनन्दन दास हित=कृष्ण के भक्तों के लिए।

भावार्थ—1617 सुबल संबत् के वैशाख मास की अक्षय तृतीया, सुखदायी बुधवार, कृत्तिका नक्षत्र, सुकर्म योग में सूरदास ने नये विचार (के रूप में) 'साहित्य-लहरी' की रचना कृष्णभक्तों के लिए की।

उपर्युक्त पद तथा उसके अभिप्रेत अर्थ को देखने से साहित्य-लहरी के दृष्टिकूटों का जटिल स्वरूप समझा जा सकता है।

सूरसागर में भी 100 दृष्टिकूट उपलब्ध होते हैं—और यह आश्चर्य का विषय है कि उनमें से एक भी 'साहित्य-लहरी' में सन्निविष्ट नहीं है। मीतलजी के कथनानुसार यह सोद्देश्य स्वतंत्र ग्रंथ है जिसका विषय 'भक्ति' है। ग्रन्थ के अन्त में, लेखक के वंश का परिचायक लंबा पद उपलब्ध होता है जिसकी प्रारंभिक पंक्ति है—"प्रथम ही प्रथ जगा तें भे प्रगट अद्भुत रूप"। उल्लेख्य है कि यह पद दृष्टिकूट नहीं है। मीतलजी ने बड़े मनोयोग से 'साहित्य-लहरी' को सूर की प्रामाणिक रचना प्रमाणित करने का प्रयास किया है।

(ख)

डॉ० व्रजेश्वर वर्मा ने 'साहित्य-लहरी' की अप्रामाणिकता के संबंध में प्रायः पुष्ट तर्क दिये हैं जिनका सारांश निम्नांकित है—

सूरदास की वास्तविक प्रेरणा कृष्ण-भक्ति है जो प्रस्तुत ग्रन्थ में प्राप्य नहीं। इसकी प्रेरणा साहित्य-कला का प्रदर्शन है। 'सूरसागर' के कूटों में प्रमुख वर्ण्य विषय राधा-कृष्ण का नखशिख तथा प्रणय है, जबकि 'साहित्य-लहरी' में ऐसी स्थिति नहीं है। 'सूरसागर' तथा 'साहित्य-लहरी' के दृष्टिकूटों में भाषा-शैली का भेद भी लक्षित होता है। सबसे आश्चर्य की बात है कि हरिराय के 'भाव-प्रकाश' में इस ग्रन्थ का कोई उल्लेख नहीं है।[1]

डॉ० वर्मा की आपत्तियों का विद्वत्तापूर्ण उत्तर मीतलजी ने 'सूर-निर्णय' और स्व-संपादित 'साहित्य-लहरी' की भूमिका में दिया है। लेकिन, उनके तर्क विश्वासोत्पादक नहीं हैं। विवेच्य रचना, राधा-कृष्ण का उल्लेख होने पर भी, 'भक्तिरस' की संवाहिका नहीं है। जैसा डॉ० सत्येन्द्र ने कहा है, "हित साहित्य-लहरी" पद उसी प्रकार का है, जैसा "हित तरंगिणी।" इसका अर्थ यह हुआ कि कवि साहित्यशास्त्र का ग्रंथ लिख रहा है, भक्ति का नहीं। पुनः यह प्रश्न भी स्वाभाविक रीति से उठ रहा है कि यदि विवेच्य ग्रन्थ की रचना संवत् 1607 या 1617 में[2] हुई तो उस समय सूर 72 या 82 वर्ष के रहे होंगे। इस अवस्था में ऐसा रीति-ग्रन्थ प्रणीत करने की क्या आवश्यकता सूर को प्रतीत

---

1. 'सूरदास', चतुर्थ संस्करण, पृ० 90-99

2. उल्लेखनीय है कि भिन्न-भिन्न विद्वानों ने प्रथम दो पंक्तियों का कूटार्थ 1617 के अतिरिक्त सं० 1607, 1627 और 1677 भी किया है।

हुई ? कुछ पंडितों का कथन है कि नन्ददासजी को शिक्षा देने के निमित्त सूर ने इसका प्रणयन किया। 'वार्त्ताओं' से यह संकेत अवश्य मिलता है कि विट्ठलदासजी ने नन्ददास को छह महीने सूरदास के साथ रहने का परामर्श दिया था। किन्तु, नन्ददास को शिक्षा देने वाली कोई बात 'लहरी' में नहीं है। पुनः, यदि सूर ने ऐसा व्यवस्थित अलंकारशास्त्र का ग्रन्थ लिखा और अन्त में पुष्पिका-रूप "मुनि पुनि रसन" वाला पद जोड़ दिया, तो आरम्भ की पुष्पिका क्यों नहीं लिखी ? सरदार कवि और भारतेन्दुजी से पूर्व की कोई प्रति उपलब्ध नहीं है। सरदार कवि द्वारा 'साहित्य-लहरी' की टीका लिखी मिलती है।[1] भारतेन्दु ने बाद में अपनी टिप्पणियों सहित उसे प्रकाशित कराया था। गो० हरिराय जी के 'भावप्रकाश' अथवा 'अन्यत्र' भी वार्ताओं में कहीं 'साहित्य-लहरी' का उल्लेख नहीं मिलता। वंश-विषयक पद को मीतलजी समेत अनेक विद्वानों ने प्रक्षिप्त माना है। तब क्या पूरी रचना अप्रामाणिक नहीं मानी जा सकती ?[2]

हम 'साहित्य-लहरी' को मूलतः इस कारण सूर की रचना नहीं मानते कि इस प्रकार "साहित्यिक क्रीड़ा" का प्रयास सूर अपने वार्धक्य में नहीं कर सकते थे। वर्तमान काल में 'हरिऔध' जी ने अवश्य बुढ़ापे में 'रसकलश' जैसा ग्रन्थ लिखा, किन्तु हरिऔध सूरदास नहीं थे और न ही सूरदास 'हरिऔध' थे। 'सूरसागर' में उपलब्ध कूटों का एक भी पद 'साहित्य-लहरी' में नहीं मिलने का भी अर्थ है। कोई लेखक या कवि इतना सचेष्ट नहीं रह पाता कि उसके वाक्यों की पुनरावृत्ति बिल्कुल ही उसकी रचनाओं में न मिल सके, "रस-रीति" का गान करने वाले "कृष्ण-सखा" सूरदास ऐसा जटिल, श्रमसाध्य ग्रन्थ, वह भी वार्धक्य में, कथमपि नहीं लिख सकते थे।

अतएव, 'सारावली' के समान, 'साहित्य-लहरी' को भी प्रसिद्ध सूरदास की रचना नहीं माननी चाहिए।

———

1. सरदार कवि ललितपुर-निवासी हरिजन कवि के पुत्र थे। वे जाति के ब्रह्म-भट्ट थे और काशी-नरेश महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह के आश्रित कवि होने के कारण काशी में रहते थे। वे काव्यशास्त्र के भी अच्छे जानकार थे। ('सा० ल०'—संपा० मीतल, भूमिका, पृ० 30)।

2. हिन्दुस्तानी त्रैमासिक, सूर विशेषांक, 1978, पृ० 37-40

अध्याय 3

सूर की साधनात्मक पीठिका

(क) श्रीमद्भागवत की प्रेरणा

सूर के आविर्भाव-काल में 'ब्रज' प्रदेश कृष्णोपासना के अनेक सम्प्रदायों का केन्द्र बन गया था। श्वेताश्वतर उपनिषद् में सर्वप्रथम "भक्ति" शब्द का प्रयोग श्रद्धा-समवेत भावना के अर्थ में हुआ था।[1] कालान्तर में वही भक्ति "प्रेमैकरूपा" बन गयी[2] और वह 'श्रीमद्भागवत' पुराण के सर्वातिशायी प्रभाव में पल्लवित-पुष्पित हुई। 'भागवत' को भगवान् की साक्षात् "वाङ्मयी मूर्ति" कहा गया है[3] और उसके माहात्म्य-वर्णन में सहृदय भक्तजनों का इस प्रकार प्रबोधन हुआ है—"हे रसिक-भावुक-वृन्द! भागवत वेद-रूप कल्पवृक्ष का परिपक्व फल है। शुकदेव-रूप शुक के मुख का संयोग होने से अमृत-रस से परिपूर्ण है। इसमें रस-ही-रस है। यह इसी लोक में सुलभ है। जब तक शरीर में चेतना रहे, तब तक आप लोग बारंबार इसका पान करें।"[4] "रसालय" भागवत, अतएव, इन समस्त ब्रजकृष्ण-सम्प्रदायों की साधना का स्रोत रहा है। कलियुग के पाखण्डियों से अंग-भंग-ग्रस्त 'भक्ति' वृन्दावन में आकर ही तो परमसुन्दरी युवती बन गयी थी—

"वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी।
जाताहं युवती सम्यक्प्रेष्ठरूपा तु साम्प्रतम्।"[5] —श्वेता०, 6/22

(ख) कृष्णोपासना में राधा

किन्तु, कृष्णोपासना वाले सम्प्रदायों की साधना और साहित्य में श्रीराधा का जो सातिशय महत्त्व स्थापित है, उसके लिए 'भागवत' से व्यतिरिक्त इतर दग्रंथों की अधमर्णता स्वीकार करनी पड़ेगी। धार्मिक साहित्य में जयदेव के 'गीतगोविन्द' और लीलाशुक बिल्वमंगल के 'कृष्णकर्णामृत' में राधा कृष्ण की प्रधान वल्लभा के रूप में प्रतिष्ठित हुई हैं। उनसे भी पहले, 'गर्गसंहिता' और 'ब्रह्मवैवर्त' जैसे पुराणों में राधा-कृष्ण की केलियों का प्रचुर वर्णन उपलब्ध है। 'पद्मपुराण' के पातालखण्ड में वृन्दावन के माहात्म्य के साथ राधा-कृष्ण के युगल-ध्यान का वर्णन हुआ है। 'स्कन्दपुराण' में राधिका

---

1. "तस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिताऽस्यार्थाः प्रकाशन्तें महात्मनः॥" —श्वेता०, 6/22
2. 'श्रीसद्भागवत' (गीता प्रेस), माहात्म्य-खंड, 3/68
3. वही, 3/62
4. वही, 6/80
5. वही, 1/50

को श्रीकृष्ण की "आत्मा" बताया गया है। 'वायु', 'वाराह' आदि पुराणों और कतिपय तंत्रग्रन्थों तथा 'राधातापनी', 'गोपालोत्तरतापनी' प्रभृति उपनिषदों में भी राधा-तत्व का प्रकीर्तन उपलब्ध है।

इस प्रसंग में उल्लेखनीय यह है कि शैव-शाक्त आगमों में जैसे "शक्ति" का निरूपण उपलब्ध होता है, वैसे ही वैष्णव आचार्यों के निरूपणों में भी राधा को भगवच्छक्ति के रूप में मान्यता मिली है। यहाँ हमें चैतन्य-सम्प्रदाय तथा वल्लभ-सम्प्रदाय में पल्लवित "शक्ति-तत्त्व" का संक्षिप्त विवेचन अभीष्ट है।

कारण अथवा वस्तु में कार्य उत्पन्न करने का अपृथक्सिद्ध धर्म विशेष "शक्ति" है। अन्य शब्दों में, कारण में कार्योत्पादन का अन्तर्भूत सामर्थ्य "शक्ति" कहलाता है। शाक्त ग्रन्थों में कहा गया है कि यह शक्ति परम-शिव में अध्युष्ट है और शक्ति के बिना शिव शव के तुल्य हैं। इसी शक्ति को "देवी", "महादेवी", "कामकला", "त्रिपुरसुन्दरी" प्रभृति नामधेयों से व्याख्यात किया गया है।

चैतन्य के गौड़ीय सम्प्रदाय में भगवान् की अनन्त शक्तियों में "अन्तरंगा", "तटस्था" और "बहिरंगा" का निरूपण किया गया है। 'अन्तरंगा' को "स्वरूपशक्ति" भी कहा जाता है। भगवान् की "तटस्थाशक्ति" असंख्य जीव हैं। ये तन्वतः भगवान् के सजातीय हैं। विकार से युक्त प्रकृति—महत्तत्व, महाभूतादि—भगवान् की "बहिरंगा" शक्ति है जो जड़ है जिसे शास्त्रों में "पादविभूति" कहा गया है।

"अन्तरंगा" किंवा "स्वरूप" शक्ति तीन प्रकार की बतायी गयी है—"संधिनी", "संवित्" और "ह्लादिनी"। भगवान् सत् + चित्+आनन्द, 'सच्चिदानन्द' हैं; और ये तीन शक्तियाँ क्रमशः इन्हीं तीन रूपों से संलग्न हैं—अर्थात्, भगवान् के सदंश (सत् अंश) से "संधिनी", चिदंश (चित् अंश) से "संवित्" और आनन्दांश (आनन्द अंश) से "ह्लादिनी" का सम्बन्ध है। जैसे एक ही अग्नि में दाहकता, पाचकता एवम् प्रकाशकता, तीनों मिथोविलक्षण शक्तियाँ पायी जाती हैं, वैसे ही एक ही भगवान् में ये तीनों शक्तियाँ युगपत् विद्यमान रहती हैं।

गौड़ीय सम्प्रदाय में श्रीराधा भगवान् की "ह्लादिनी" (आनन्दप्रदायिनी) शक्ति बतायी गयी हैं जिसका वे अपने 'चिदंश' से भोग करते हैं। अर्थात्, भगवत्-लीला में उनका चिदंश भोक्ता और आनंदांश भोग्य बनता है। किन्तु, भोग करने के लिए एक नहीं, दो की अपेक्षा होती है। अतएव जब भगवान् को अपने भोग्य के भोगने की इच्छा होती है, तब वे अद्वितीय होकर भी दो रूप धारण करते हैं, जैसे उपनिषदों का कथन है—

"स वै नैव रेमे। तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीय मैच्छत्। सहैतावानास। यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ, स इसमेथात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्च पत्नीचाभवताम्।"

अर्थात्, रिरंसा उत्पन्न होने पर भगवान् ने अपने को पति-पत्नी दो रूपों में अभिव्यक्त किया, क्योंकि अकेले वह रमण नहीं कर सकता था। चैतन्य-सम्प्रदाय में महाप्रभु गौरांग (चैतन्यदेव) को राधा-कृष्ण का संयुक्त अवतार माना जाता है।

वल्लभ-सम्प्रदाय में भी भगवान् की तीन प्रकार की शक्तियाँ मानी गयी हैं, "सर्वभवन सामर्थ्य", "मोहिनी" और "क्रिया"। पहली शक्ति भगवान् के सदंश से संबद्ध है जिसका अभिप्राय है कि भगवान् में सब कुछ हो जाने का सामर्थ्य है। दूसरी

"मोहिनी" शक्ति 'चिदंश' का व्यामोहन करती है जिस कारण वह "व्यामोहिका" भी कहलाती है। इसी के सहारे सम्पूर्ण सृष्टि टिकी हुई है। इसके वशीभूत होकर "चिद्-ब्रह्म" अर्थात् जीव को स्वरूप की विस्मृति हो जाती है और वह प्राणों को ही अपना निज स्वरूप समझने लगता है। यही "अविद्या माया" कहलाती है। "क्रिया" का तात्पर्य स्पष्ट है।

उल्लेखनीय है कि वल्लभ ने राधा-तत्त्व का कोई उपबृंहण नहीं किया है। किन्तु, 'सुबोधिनी' टीका में 'भागवत' के एक श्लोक की व्याख्या में यह स्वीकार किया है कि राधा भगवान् की "राधस्" नामक "सिद्धि" है; "सिद्धि" भी है और "शक्ति" भी है जिसके साथ भगवान् अपने धाम में रमण करते हैं।[1] अन्यान्य विद्वानों ने 'भागवत' के "अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः" (90/30/28) में प्राप्त "अनयाराधितो" से राधा का अभिप्राय ग्रहण किया है जो दूरारूढ़ कल्पना जान पड़ता है।

'ब्रह्मवैवर्त' में राधा को "अयोनिसम्भवां देवी मूल प्रकृतिरीश्वरी" कहा गया है और इसी "रामेश्वरी" राधा से गोपीजन की उत्पत्ति बतायी गयी है।[2] वहाँ भगवान् ने राधा से अपने अभेद का कथन किया है।[3] 'राधातापिनी' में भी राधा-कृष्ण के एकत्व का निरूपण उपलब्ध है—

"ये यं राधा यश्चकृष्णो रंसाब्धि-
र्देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाभूत्।
देहो यथा छायया शोभमानः
शृण्वन् पठन् याति तद्धाम शुद्धम्।"

उपरिगत विवेचन से स्पष्ट है कि 'भागवत' में किसी स्पष्ट उल्लेख के अभाव में भी, अन्यान्य ग्रंथों में राधा को कृष्ण की सर्वश्रेष्ठ "शक्ति" तथा "सिद्धि" के रूप में भूरिशः प्रतिष्ठित किया गया है और जैसे शाक्तों ने शक्ति तथा परमेश्वर के ऐक्य का निरूपण किया है, वैसे ही वैष्णवों ने भी राधा और कृष्ण का अविच्छेद्य संयोग स्थापित किया है।

---

1. "नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां
विदूरकाष्ठाय मुहुर्कुयोगिनाम्।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः॥" (2/4/14)

"काचिद्भगवतः सिद्धिरास्ति राधस्-शब्द-वाच्या। न तादृशो सिद्धिः क्वचिदन्यत्र, नवा ततोऽप्यधिका। तया सिद्धया भगवान् स्वगृह एव रमते। तच्च अक्षरात्मकं ब्रह्म" इत्यादि। —भागवत : 'सुबोधिनी'

2. "बभूव रमणी रम्या रामेशी रमणोत्सुका।
बभूव गोपीसंघश्च राधाया लोमकूपतः॥" —ब्रह्मवैवर्त

3. "त्वं मे प्राणाधिके राधे त्वं परा प्रेयसीवरां।
यथा त्वं च तथाहं च भेदो नास्त्यावयोर्ध्रुवम्।" —वही

(ग) मधुरभावोपेत विभिन्न सम्प्रदाय

'भागवतशास्त्र' की कथा द्वारा "उज्ज्वल ज्ञानयज्ञ" का प्रसार करने वाले सम्प्रदायों में **निम्बार्क सम्प्रदाय** सर्वाधिक प्राचीन है। इस सम्प्रदाय की भक्ति का मूलतत्त्व श्रीराधा-कृष्ण के 'युगल स्वरूप' की उपासना है। यह मानता है कि राधा-कृष्ण अद्वय परमतत्त्व हैं जो क्रीड़ा के निमित्त आनंद तथा आह्लाद, इन दो रूपों में प्रकट होते हैं।

निम्बार्कीय साधना की प्रमुख विशेषता है—भक्ति-तत्त्व में "सखी-भाव" तथा "नित्यविहार" की उपासना का समावेश। इस सम्प्रदाय के सभी आचार्य कालान्तर में राधाजी की सखी-सहचरी समझे जाने लगे। सखी-भाव की मान्यता का आधार यह है कि राधा-कृष्ण की निकुंज-लीला में श्रीराधा की सखी-सहचरियों का ही प्रवेशाधिकार है, नित्यविहार की रसोपासना सखी-भाव से ही की जा सकती है। इस उपासना का यों परिभाषण किया गया है—"नित्यविहार श्रीराधा-माधव की अनन्य आनन्दमयी, अलौकिक सुखपूर्ण, सतत, शाश्वत रतिक्रीड़ा है जो नित्य वृन्दावन-धाम की दिव्य कंचनमय भूमि, विमल वृक्षों से आच्छादित, सुरंग, पत्र-पुष्प-फल-परिवेष्टित, कंकनाकार यमुना-कूलवर्तिनी सुरभित निकुंजों में अनवरत रूप से चलती रहती है।××× सहचरी-रूप जीवात्माएँ निकुंज-रन्ध्रों से इस नित्यविहार का दर्शन करती रहती हैं।××× नित्यविहार श्रीश्यामा-श्याम के अप्राकृत प्रेम का परिणाम है जो काम से कोसों दूर है। तात्त्विक दृष्टि से श्रीराधा-माधव उस आदि, अनादि एकरस परब्रह्मस्वरूप के युगल विग्रह हैं। नित्यविहार के लिए ही वे युगल स्वरूप धारण करते हैं। सहचरी-वृन्द भी उन्हीं परब्रह्म की अंशभूत हैं, परन्तु प्राकृत-विकृति के कारण उनसे भिन्न प्रतीत होती हैं। प्रिया-प्रियतम के समस्त आनन्द-भोग सहचरी-जन की प्रसन्नता के लिए हैं।××× नित्यविहार में श्रीश्यामा-श्याम का नित्यकिशोर-रूप ही ग्राह्य है। किशोरीजी का यह रूप उनकी अवस्था का परिचायक है, न कि उनके दाम्पत्य-भाव का।"[1]

इस सम्प्रदाय में राधा स्वकीया मानी गयी हैं।

निम्बार्क-सम्प्रदाय के अनंतर महाप्रभु द्वारा प्रवर्तित चैतन्य-सम्प्रदाय का वृन्दावन से घनिष्ठ संबंध है। कृष्णदास कविराज द्वारा रचित 'चैतन्य-चरितामृत' में इस गौड़ीय सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का सुन्दर निरूपण हुआ है। इस मत के अनुसार श्रीकृष्ण ही परमतत्त्व हैं और उनकी अनंत शक्तियाँ हैं।

गौड़ीय भक्ति-तत्त्व में भगवान् श्रीकृष्ण को सर्वोपरि महत्व दिया गया है। इसमें "भगवान् श्रीकृष्ण एकमात्र आराध्य हैं और उनका धाम वृन्दावन है। उनकी आराधना का आदर्श ब्रज-गोपियों की उपासना है। श्रीमद्भागवत प्रमाण-ग्रंथ है और प्रेम ही जीव का परम पुरुषार्थ है।"[2] श्रीकृष्ण का प्रेम जिस साधन से प्राप्त होता है, उसे "साधन-भक्ति" कहा गया है। कृष्णदास कविराज का कथन है कि नवधा-भक्ति का आचरण इस

---

1. 'ब्रज के धर्म-सम्प्रदायों का इतिहास', भाग 2 (प्रभुदयाल मीतल), 1968, पृ० 346

2. वही, पृ० 324

साधन-भक्ति का 'स्वरूप-लक्षण' है और कृष्ण-प्रेम का प्राकट्य उसका 'तटस्थ-लक्षण' है।"[1]

चैतन्य-सम्प्रदाय में हरि-संकीर्तन को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। भगवान् के नाम-रूप का उच्च स्वर से गायन ही 'कीर्तन' है। 'साधन-भक्ति' दो प्रकार की मानी गयी है—वैधी तथा राग। श्रीकृष्ण के प्रति बलवती तृष्णा के उत्पन्न हुए बिना, केवल शास्त्रों के आदेश-पालन के निमित्त ही, उनका भजन करना "वैधी भक्ति" है और श्रीकृष्ण में बलवती तृष्णा द्वारा उनसे अहेतुक, अर्थात् निष्काम प्रेम करना "राग भक्ति" है। साहित्य-जगत् का शृंगार गौड़ीय भक्ति में "मधुर रस" की अभिधा से मंडित हुआ है जिसके भी संभोग तथा विप्रलंभ नामक दो भेद किये गये हैं। भक्तों को संयोग की अपेक्षा वियोग में ही अधिक रसानंद उपलब्ध होता है। इसी कारण, चैतन्य तथा उनके अनुयायी भक्तजन विप्रलंभ रस के साधक रहे हैं। इस भक्ति-सम्प्रदाय में राधा तथा गोपियाँ परकीया मानी गयी हैं।

गौड़ीय विद्वानों ने माधुर्य-भक्ति में परकीयाभाव को अतिशय महत्व प्रदान किया है। उनका तो यहाँ तक कथन है कि परब्रह्म श्रीकृष्ण के अवतार का प्रमुख कारण परकीयाभाव में रसास्वादन करना ही था, अधर्म का नाश और धर्म की स्थापना तो गौण कारण है। गौणीय भक्ति-तत्त्व पर बंगाल के शक्ति-तंत्र और महायानादि बौद्ध सम्प्रदायों की साधना-पद्धतियों का भी प्रभाव स्पष्ट परिलक्ष्य है।

रसिकाचार्य श्रीहितहरिवंश द्वारा परिवर्तित **राधावल्लभ-सम्प्रदाय** का मूलाधार प्रेमतत्त्व है जिसे उन्होंने "हित" शब्द से अभिहित किया है। वृन्दावन के नित्य निकुंजों में निरंतर प्रेम-क्रीड़ारत श्रीराधा-कृष्ण के युगल स्वरूप को हरिवंशजी ने "राधा-वल्लभ" संज्ञा प्रदान की है। यद्यपि "निकुंज-विहार" में राधा-कृष्ण का समान योग माना गया है, तथापि उनके प्रेम-रस की निष्पत्ति के लिए 'रसेश्वरी' श्रीराधाजी को प्रमुखता प्रदान की गयी है। निम्बार्क द्वारा भक्तिक्षेत्र में राधा-कृष्ण की जिस युगलोपासना को महत्व दिया गया था, उसी का अतीव विकसित एवं माधुर्य-मंडित स्वरूप राधावल्लभीय भक्ति-साधना है जिससे निकुंज-विहार की रसोपासना ही सर्वातिशायी तत्त्व स्वीकार की गयी है।

यों तो सभी ब्रजस्थ धर्म-सम्प्रदायों में प्रेम की मान्यता है, तथापि राधावल्लभीय साधना में प्रेम का स्वरूप विलक्षण एवं अधिक व्यापक है। प्रेम अथवा "हित" यहाँ एकमात्र परात्पर तत्व है और भगवान्, भक्त तथा भक्ति—सभी इसी के विविध नामरूप हैं। इस प्रकार, प्रेम का ही लीला-विलास इस सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है और प्रेम ही परमाराध्य भगवत्-तत्त्व है। इस प्रेमोपासना में "तत्सुख" की भावना प्रमुख है। प्रेमी और प्रेमास्पद परस्पर एक-दूसरे की परितृप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। राधा की समस्त चेष्टाएँ माधव को प्रसन्न करने में और माधव की सभी चेष्टाएँ राधा को आनंदित करने में नियोजित होती हैं। राधा-माधव वस्तुतः एक ही हैं, केवल बुद्धि के लिए दो देह धारण किये हुए हैं।

---

1. **'ब्रज के धर्म-सम्प्रदायों का इतिहास'**, भाग 2 (प्रभुदयाल मीतल), 1968, पृ० 325

"नित्यविहार" के तीन विधायक तत्त्व राधा-कृष्ण, सखी-सहचरी तथा श्रीवृन्दावन हैं। 'युगल' के मिले बिना अकेले श्रीकृष्ण अथवा श्रीराधा से रस की निष्पत्ति नहीं हो सकती; तथापि हितहरिवंशजी राधा को अपने प्राणों की एकमात्र सर्वस्व मानते हैं। इस सम्प्रदाय की सखी-सहचरियों में विलक्षणता यह है कि इनमें श्रीकृष्ण के प्रति कान्ता-भाव लेशमात्र भी नहीं है। राधा-कृष्ण को नित्यविहार में निरंतर लीन देखना ही उनकी एकमात्र आकांक्षा है। वे सुख की अपेक्षा राधा-कृष्ण के सुख की कामना से ही अनुप्राणित रहती हैं। यह "तत्सुख-भाव" उन्हें स्वसुख की कामना करने वाली गोपियों से पृथक् कर देता है। ललिता, विशाखा, चंपकलता प्रभृति आठ सखियाँ प्रमुख बतायी गयी हैं। इसी प्रकार, वृन्दावन राधा-कृष्ण का नित्य निकुंज-धाम है और इसी से, नित्य-विहार-रस को "वृन्दावन-रस" भी कहा गया है।

राधा-वल्लभीय साधना का भक्त समस्त विधि-निषेधों से मुक्त होकर राधा के चरणारविन्द की अनन्य उपासना में तल्लीन रहता है और राधा-कृष्ण के केलिकुंज की चाकरी करना ही अपना एकान्त लक्ष्य मानता है। जैसे अन्य रस-साधनाओं में, वैसा ही हितजी की साधना में भी, भक्त अपने 'सिद्ध' अथवा 'दिव्य' देह का अनुसंधान करती है और अपने को राधा-कृष्ण की रूप-यौवनमयी सखियों के परिकर की एक सुन्दर सदस्या के रूप से समझता है। हितजी स्वकीया-परकीया भाव को अलग-अलग अपूण मानते हैं। इनके मतानुसार, प्रेम वहाँ पूर्णत्व प्राप्त करता है जहाँ स्वकीया-परकीया का बोध न होकर, नित्य मिलन में भी विरह की ललक की उत्कंठा वर्तमान रहे।

अंतिम महत्त्वपूर्ण साधना-सम्प्रदाय हरिदासी सम्प्रदाय है जिसके प्रवर्त्तक रसिक-प्रवर, संगीताचार्य स्वामी हरिदास हैं। इस उपासना-मार्ग में परात्पर प्रेम-तत्व-रूप "श्रीश्यामा-कुंजविहारी" के "नित्यविहार" की मान्यता है। उसके अनुसार, नित्य निकुंज में प्रवेश करने और नित्यविहार के सुखानुभव करने का अधिकार केवल राधाजी की सखियों को है, अतः भक्तजन भी सखी-भाव की उपासना से ही उस दिव्य प्रेमलीला-रस की अनुभूति द्वारा जीवन को सार्थक बना सकते हैं। इसी मान्यता के कारण, रसो-पासना का यह मार्ग "सखी-सप्रदाय" कहलाता है। राधावल्लभीय तथा हरिदासी सम्प्र-दायों के "सखी-भाव" में प्रायः समानता है।

(घ) वल्लभ-सम्प्रदाय

प्रस्तुत संदर्भ में वल्लभ-सम्प्रदाय का उल्लेख भी आहूत प्रतीत होता है। प्रायः समझा जाता है कि आचार्य वल्लभ ने राधा-तत्त्व को मान्यता नहीं दी और उनके बाद, उनके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ के काल में राधा को महत्त्व मिला तथा पुष्टिमार्ग में माधुर्य-भाव की उपासना प्रवर्तित हुई। यह कथन भ्रान्तिपूर्ण है। इसमें संदेह नहीं कि महाप्रभु ने परब्रह्म श्रीकृष्ण को परमाराध्य माना और 'ठाकुर-सेवा' में 'बाल-भाव' को प्रमुखता दी। किन्तु, उन्होंने राधा की अवहेलना की—ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है। 'पुरुषोत्तमसहस्रनाम' में रसरूप कृष्ण का स्मरण माधुर्यमूर्ति राधा के साथ किया गया है। 'श्रीकृष्णप्रेमामृत' स्त्रोत में प्राप्त "राधावरुन्धनरतः", "राधिकारतिलम्पटः" प्रभृति विशेषणों से प्रमाणित होता है कि वल्लभ ने ही पुष्टि-सम्प्रदाय में राधा को प्रतिष्ठित किया था। उन्होंने राधा को कृष्ण से अभिन्न उनकी "स्वरूपाशक्ति" अथवा "सिद्धि-शक्ति" माना है और उसे प्रायः "स्वामिनी" संज्ञा से उल्लिखित किया है। मात्र वात्सल्य-

भक्ति को मान्यता देने का प्रवाद जो महाप्रभु के साथ जुड़ा है, वह तर्कप्रतिष्ठित नहीं है। उनकी 'ठाकुर-सेवा' में अवश्य वात्सल्य-भक्ति को प्रधानता मिली है, लेकिन उपासना में भक्ति के अन्यान्य रूपों के साथ, उन्होंने 'माधुर्य-भक्ति' को भी सम्मिलत किया है। उनके रचित 'मधुराष्टक'[1] तथा 'परिवृढाष्टक स्त्रोतों में और रासपंचाध्यायी की 'सुबोधिनी' टीका में श्रीकृष्ण के माधुर्य-मंडित स्वरूप एवम् पुष्टि-सम्प्रदाय की माधुर्य-भक्ति का उल्लेख मिलता है। अष्टछाप के सर्वाधिक वयोवृद्ध कवि कुंभनदास, जिन्होंने सबसे पहले दीक्षा ली थी, निकुंज-लीला-विषयक पदों के गान से श्रीनाथजी का कीर्तन करने लगे थे और ऐसे ही पदों को सुनकर आचार्य ने यों प्रसन्नता व्यक्त की थी—"कुंभनदास ! निकुंज-लीला-संबंधी रस कौ अनुभव भयौ।××× तिहार बड़े भाग्य हैं जो प्रथम प्रभु तुमको प्रमेय बल कौ अनुभव बताये, तासों तुम सदा हरि-रस में मगन रहोगे।" उल्लेख्य है कि माधुर्य-भक्ति में निमग्न रहने वाले कुंभन ने वात्सल्य-भक्ति का कोई भी पद नहीं रचा।

इन सब प्रमाणों से सिद्ध होता है कि पुष्टि-सम्पदाय में माधुर्य-भक्ति का प्रचलन वल्लभाचार्य द्वारा ही प्रवर्तित किया गया था, यद्यपि गोस्वामी विट्ठलनाथ के समय में राधा का महत्व बहुत बढ़ गया।[2]

1· इस लघुग्रंथ में श्रीकृष्ण तथा उनके समस्त अनुषंगों को आठ श्लोकों में "मधुर" बताया गया है। वे श्लोक 'रस-माधुरी' प्रकरण में हमने प्रस्तुत पुस्तक में उद्धृत किये हैं। —लेखक

2. 'ब्रज के धर्म-सम्प्रदायों का इतिहास', भाग 2, पृष्ठ 177-79

अध्याय 4

सूर की भक्ति-माधुरी

(क)

भक्ति का स्वरूप—ईश्वर ने परम अनुरक्ति को 'भक्ति' कहा गया है।[1] वह भगवान् में "परमप्रेमरूपा" तथा "अमृतस्वरूपा" है।[2] मधुसूदन सरस्वती के अनुसार, "भगवदाकाराकारिता" चित्तवृत्ति ही 'भक्ति' है। 'शिवानंदलहरी' में भक्ति का स्वरूप अधिक प्रांजल रीति से निरूपित हुआ है—"जैसे अंकोल वृक्ष मूल वृक्ष से, सुई चुम्बक से, साध्वी अपने पति से, लता वृक्ष से, सरिता समुद्र से जा मिलती है, वैसे ही जब चित्त-वृत्तियाँ भगवान् के चरण-कमलों से मिल कर सदा के लिए स्थित हो जाती हैं, तब उसी की 'भक्ति' कहते हैं।"[3] अर्थात्, चित्तवृत्तियों का भगवान् में स्थिर भाव से संलग्न हो जाना ही 'भक्ति' है। वल्लभाचार्य ने वैष्णव साधकों की भक्ति का और अधिक सटीक परिभाषण किया है—"भगवान् के माहात्म्य-ज्ञान से संवलित, भगवान् में सुदृढ़ एवं सर्वातिशायी स्नेह 'भक्ति' कहलाता है जिससे ही 'मुक्ति' संभव है।"[4]

भक्ति के आचार्यों ने भगवत्-स्नेह की उत्पत्ति के लिए 'तत्वबोध' को आवश्यक माना है जो विद्या के द्वारा अविद्या की निवृत्ति से ही प्रादुर्भूत होता है। भक्ति के पंचविध सोपानों का निरूपण किया गया है, यथा—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। तत्वबोध अथवा स्वरूप-साक्षात्कार के साथ 'शान्त' भक्ति की स्थिति मानी

---

1. "सा परानुरक्तिरीश्वरे"। —'शांडिल्यभक्तिसूत्र'

2. "सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। अमृतस्वरूपाच।" —'नारदभक्तिसूत्र'

3. "अंकोलं निजबीजसंतरियस्कान्तोपलं सूचिका,
साध्वी नैज विभुं लतां क्षितिरुहं सिन्धुः सरद्वल्लभम्।
प्राप्नोतीह यथा तथा पशुपतेः पादारविन्दद्वयं,
चेतोवृत्तिरुपेत्य तिष्ठति सदा सा भक्तिरित्युच्यते॥"
—'शिवानन्दलहरी'

4. "माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ़ः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा।"
—'तत्त्वदीपनिबन्ध', शास्त्रार्थप्रकरण, कारिका 42

गयी है जो क्रमशः दास्य, साख्य आदि में परिणत होती जाती है। 'शान्तभक्ति' में भगवान् के प्रति निष्ठा का, 'दास्यभवित' में सेवा का, साख्यभक्ति में असंकोच का, वत्सल-भक्ति में लालन का, माधुर्यभक्ति में आत्मसमर्पण का भाव प्रमुख रहता है। किन्तु यहाँ स्मरणीय यह है कि प्रत्येक पूर्वा-भक्ति का भाव उसकी उत्तर-भक्ति में अनुवृत्त रहता है। अर्थात्, निष्ठा से आरम्भ होकर दास्य इत्यादि क्रमशः उत्पन्न होने वाले सभी भाव सर्वोत्कृष्ट मानी गयी 'माधुर्य-भक्ति' में भी निरन्तर बने रहते हैं। भगवान् को पति और अपने को पत्नी मानना, अर्थात् दाम्पत्य-रति माधुर्य-भक्ति का व्यवच्छेदक तत्त्व है। इस भक्ति में 'काम' की यावत् क्रियाएँ वर्णित हो सकती हैं, किन्तु यहाँ 'प्रेम' और 'काम' में कोई अन्तर नहीं रहता— "प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम् ।" इस प्रकार, प्राकृत जनों के 'काम' को उत्तीर्ण करने पर ही, 'माधुर्य-भक्ति का प्रेम-प्रसून पूर्ण सौरभ के साथ खिलता है।

'माधुर्य-भक्ति' "कामरूपा" कही गयी है जो व्रजदेवियों में वर्तमान थी। भगवान् के प्रति व्रजांगनाओं के विशेष माधुरी से युक्त प्रेम को ही "काम" की संज्ञा प्रदान की गयी है—"आसां प्रेमविशेषोऽयं प्राप्तः कामपि माधुरीम् ।" शान्त, दास्य, सख्य तथा वात्सल्य वाली भक्ति "सम्बन्धरूपा" होती है।[1] तथापि, भक्ति का प्राणतत्व, भगवद्रति वा भगवत्-प्रेम, मूलतः एक ही है जो साधक की भावना के अनुसार विभिन्न रूपों में आस्वाद्यमान होता है।

(ख)

सूर की भक्ति के दो रूप—वल्लभाचार्य से दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व, सूर सगुण ब्रह्म के प्रति विनय के पद गाया करते थे। "मन-वाणी" के लिए "अगम-अगोचर" निर्गुण की साधना उनके समीप, "अमित तोष" की उत्पादिका होने के बावजूद, गूँगे के मीठे फल के आस्वादन-तुल्य[2] थी। वास्तव में, कबीर आदि ने निर्गुण का जो प्रचार जनता में किया था, वह सूर-तुलसी जैसे सगुणोपासकों के लिए लोकविरोधी था। 'भ्रमरगीत' में नाथपंथी योग के साथ कबीर के 'निर्गुन' का भी उपहास किया गया है। विनय के पदों में उपहास का यह स्वर मुखर नहीं, किन्तु वे एकान्त भाव से सगुण के प्रति समर्पित हैं।

यह विनय-भक्ति दास्यभाव की भक्ति है जिसमें भक्त भगवान् से सख्य-सेवक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। महाप्रभु से दीक्षित हो जाने के बाद सूर की भक्ति का

1. 'भक्तिरसामृतसिन्धु', 2/70.

उल्लेखनीय है कि ब्रजवासियों द्वारा की गयी भगवत्-प्रीति का अनुसरण करने वाली रागात्मिका प्रीति को 'रागानुगा" भक्ति कहा गया है। इसके दो भेद हैं—"कामरूपा" और "सम्बन्धरूपा"। व्रजवनिताओं वाली भक्ति "कामरूपा" है और यशोदा, नन्द इत्यादि की गोविन्द (कृष्ण) में प्रीति, जिसमें मातृत्व-पितृत्व का "अभिमान" था, "सम्बन्धरूपा" कही गयी है। —वही, 2/72

2. "मूकास्वादनवत् ।" —नारदभक्तिसूत्र, 52

स्वरूप परिवर्तित हो गया और उसमें सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य के भावों की नाना-विध व्यंजना हुई है।

(ग) विनय-भक्ति : पूर्वरूप

सूर तत्त्वबोध अथवा स्वरूप-ज्ञान को सांसारिक विषयों से निवृत्ति-हेतु आवश्यक मानते हैं क्योंकि उसके अभाव में ईश्वरानुरक्ति संभव नहीं हो पाती—

"अपुनपौ आपुन ही बिसर्यौ।

जैसे स्वान काँच-मंदिर में, भ्रमि-भ्रमि भूँक पर्यौ ॥"[1]

"जग-सोभा" की "बड़ाई" में लिप्त रहने और "मन-कामना" से मुक्ति प्राप्त करने पर स्वरूप-बोध की अग्नि फूटती है और अविद्या का अन्धकार नष्ट होता है— "सूरदास तबही तम नासै ज्ञान-अगिनि-झर फूटै।"[2] "हरि-रस" की उपलब्धि के लिए सूर इस तत्त्वज्ञान को आवश्यक मानते हैं।[3] अनेक पदों में उन्होंने "महामोहिनी" "माया-नटी" से त्राण पाने की हरि से प्रार्थना की है। यह माया भगवान् की ही माया वा शक्ति है जो जीव को सांसारिक विषयों में फँसा लेती है। सूर ने इस माया का काव्य की लाक्षणिक पदावली में अनेकधा वर्णन किया है।[4] "माधौ जू नैंक हटकौ गाइ" जैसे पदों में तृष्णा अथवा माया का वर्णन ब्रह्मज्ञानियों की स्वर-भंगिमा से संवलित हो गया है।[5]

विनय-भक्ति की साधना में वैष्णव आचार्यों ने भक्ति की सप्त भूमिकाएँ निर्दिष्ट की हैं, यथा—दीनता, मान-मर्षता, भय-दर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचारणा। विनय-पदों में इन सभी भूमिकाओं की व्यंजना हुई है। उदाहरणतः, "प्रभु हौं सब पतितन कौ टीकौ" जैसे पदों में 'दैन्य' अथवा कार्पण्य; "जनम तौ बादिहिं गयौ सिराइ", "अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल" जैसे पदों में 'भर्त्सना'; "प्रभु हौं बड़ी बेर कौ ठाढ़ौ", "कहा कमी जाके राम धनी" जैसे पदों में 'आश्वासन'; "जा दिन मन-पंछी उड़ि जैहैं" जैसे पदों में 'विचारणा'; "जैसैं राखहु वैसैं रहौं" जैसे पदों में 'मनोराज्य' की भूमिकाएँ प्रतिध्वनित हुई हैं।

सूर का दास्य-भाव कभी-कभी 'आश्वासन' की मनोभूमिका में, 'सख्यभाव' जैसी भूमिका ग्रहण कर लेता है : यथा—

"आजु हौं एक-एक करि टरिहौं।

कै तुमहीं कै हमहीं माधौ, अपने भरोसैं लरिहौं ॥

---

1. 'सूरसागर', 369
2. वही, 362
3. वही, 361
4. वही, 42, 43, 44, 45, 46, 50 आदि।
5. वही, 56

हौं तौ पतित सात पीढ़िनि कौ, पतितै ह्वै निस्तरिहौं।
अबहौं उघरि नच्यौ चाहत हौं, तुम्हैं बिरद बिन करिहौं ॥
कत अपनी परतीति नसावत, मैं पायौ हरि हीरा।
सूर पतित तबहीं उठिहैं, प्रभु जब हँसि दैहौ बीरा ॥" (134)

इस पद में विनय-भक्ति का वह निराला रूप खुल गया है जब भक्त को अपनी सच्चाई एवम् दृढ़ता में इतना गहरा विश्वास हो जाता है कि वह भगवान् को ललकारता है और अन्ततः अपनी विनती मनवाने के लिए उन्हें बाध्य कर लेता है। लगता है, "हरि-हीरा" की प्राप्ति होने से सूर का दैन्य-भर्त्सना वाला दास्य-भाव कर्पूर की नाईं उड़ गया है और वे सचमुच बराबरी के धरातल पर भगवान् से लड़ने के लिए उद्यत हो गये हैं। यहाँ सूर का विनयी 'भक्त' अपने अराध्य को चुनौती देने वाले आन्तर पौरुष से मचल उठा है।

अनेक पदों में भगवद्-भजन की महिमा का व्याख्यान हुआ है।[1] इनमें भगवान् की भक्तवत्सलता, उनके अमित प्रताप, द्रवणशील दयालुता, प्रभृति गुणों का वर्णन उपलब्ध होता है। प्रभु के भजन का सामर्थ्य और सांसारिक सुख-शृंगार के कैमर्थ्य का वर्णन निम्न पद में अवलोक्य है—

"तुम्हरैं भजन सबहिं सिंगार।
जो कोउ प्रीति करै पद-अंबुज, उर मंडप निरमोलक हार ॥
किंकिनि नूपुर पाट पटंबर, मानौं लिये फिरै घर-बार।
मानुष जनन पोत नकली ज्यौं, मानत भजन बिना निस्तार ॥
कलि-मल दूरि करन के काजैं, तुम लीन्हौं जग मैं अवतार।
सूरदास प्रभु तुम्हरे भजन बिनु, जैसे सूकर-स्वान-सियार ॥" (41)

सूर के भक्त-हृदय की सच्चाई यहाँ स्फटिकवत् चमक उठी है। संसार का सम्पूर्ण शृंगार-समूह भगवद्-भजन के अभाव में मानव-जीवन को शूकर, श्वान तथा स्यार के जीवन का समस्थानीय बना देता है।

सूर की दास्य-भक्ति में "प्रपत्ति" (शरणागति) का पूर्ण सन्निवेश हुआ है। पांचरात्रीय आगम में, "अनन्यसाध्य भगवत्प्राप्ति में परम-विश्वासपूर्वक भगवान् को ही एकमात्र उपाय समझ कर प्रार्थना करते रहना" "प्रपत्ति" किंवा "शरणागति" है।[2] 'अहिर्बुध्न्य-संहिता'[3] में प्रपत्ति के छह अंग बताये गये हैं—आनुकूल्य का संकल्प, प्रातिकूल्य का वर्जन, रक्षिष्यतीति विश्वास, गोप्तृत्व-वरण, आत्मनिक्षेप और कार्पण्य। इनका

---

1. 'सूरसागर', 34, 35, 37, 39, 45 इत्यादि।

2. "अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्।
तदेकोपायता याच्ञा प्रपत्तिः शरणागतिः ॥"

वेदान्तदेशिक द्वारा 'शरणागति गद्य' ग्रंथ की 'रक्षा' नामक व्याख्या में उद्धृत किसी प्राचीन भरतमुनि का कथन।

3. 'अहिर्बुध्न्य संहिता', 37/29

अभिप्राय क्रमशः यह है कि उपास्य देव की शरण में जाने पर भक्त अनुकूल (भक्ति के पोषक) सत्कार्यों के सम्पादन का संकल्प करता है; उसके प्रतिकूल पड़ने वाले दुष्कर्मों का परित्याग करता है; भगवान् के रक्षक रूप में विश्वास प्रकट करता है; उसे रक्षक (गोप्तृ) स्वीकार करता है; उस पर अपने को सम्पूर्णतया न्योछावर करता है और अन्ततः भगवान् के सामने कृपण अर्थात् दीन बना रहता है। सूर ने विनय के पदों में प्रपत्ति के इन समस्त अंगों को उपन्यस्त किया है। कतिपय उदाहरण संकेतित किये जा सकते हैं : "हे दीनदयाल ! काम, क्रोध, मद, लोभ आदि निरंतर मुझे आक्रान्त किये रहते हैं; कुछ ऐसा करें जिससे यह जन आपके चरणों की प्रीति से क्षण भर भी विचलित न हो।"—इस कथन में प्रतिकूल वर्जन ध्वनित है।[1] "हे भगवान् ! मैं तुम्हें छोड़कर अन्यत्र कहाँ जाऊँ, तुमने रंक सुदामा को आयची बना दिया; अपना विरुद जानकर कृपा कीजिये"—इस निवेदन में 'भगवान् रक्षा करेंगे', यह विश्वास निहित है।[2] "हरि के बिना मेरा अन्य कोई मित्र नहीं है, अन्तकाल में श्याम के बिना कोई समीप नहीं आयेगा।"—इस कथन में 'गोप्तृत्व-वरण' का भाव ध्वनित है।[3] "मैं मोहन के मुख पर सब कुछ न्योछावर करता हूँ; श्याम तीनों लोकों का ताप-निवारण करने वाले, सेवकों के सुखकारी हैं।"—इस निवेदन में 'आत्मनिक्षेप' की भावना अभिव्यक्त हुई है।[4] दैन्य अथवा 'कार्पण्य' के भावों से तो पूरी विनय-पदावली भरी हुई है।

संतों के सामीप्य, हरिनिन्दकों के परित्याग, सांसारिक विषय-भोगों से विरक्ति आदि भावों के व्यंजक पदों का बाहुल्य सूर की भक्ति के समृद्ध आयामों की व्यंजना करता है। अवधेय है कि विनय के पदों में भी सूर की भक्ति "रस-रीति" की प्रतीति से अनुप्राणित है—"माया काल कछू नहिं व्यापै, यह रस-रीति जो जानो।"[5]

वस्तुतः सूर का भक्त-मानस वल्लभ से सम्पर्क के पहले भी, आराध्य के सगुण रूप के प्रति ममत्वपूर्ण एवं स्निग्धता-संवलित रसानुरक्ति से ओतप्रोत था : उनके "घिघियाने" की मनस्प्रवृत्ति एकतान नहीं थी, इसमें "हरि के जन की अति ठकुराई" का भाव उनकी भगवत् प्रीति को रसार्द्र बना चुका था, वे "आनंद-मग्न" होकर "राम-गुण" गाने लगे थे।[6]

इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह प्रतीत होता है कि निर्गुनियाँ संतों की भक्ति-भावना में भी "हरि-रस" तथा "प्रेम-मग्नता" के तत्व गाढ़ भाव से अनुस्यूत हैं।[7] कबीर

---

1. 'सूरसागर', 127
2. वही, 164
3. वही, 85
4. वही, 30
5. वही, 40
6. वही, 39, 40
7. "ऐसो है रे हरि-रस, ऐसो है रे भाई,
   जाके पिये अमर ह्वै जाई।" —'संतबानी-संग्रह', भाग 2, पृ० 26

   "प्रेमहिं संत सदा मतवाला, एक प्रेम की आसा।"
   —कबीर, आचार्य द्विवेदी, पृ० 269

ने स्पष्ट रूप से "नारदी भक्ति" में मग्न होने का और संतों के सदैव "प्रेम में मतवाला" रहने का कथन किया है।"[1] एक पद में वे "हीरा" (सूरदास का "हरि-हीरा") पाने तथा उसे गाँठ में "गठिया" लेने का कथन करते हैं।[2] लेकिन, निर्गुनियाँ भक्तों का यह "हरि-रस" निर्गुण परमात्मा की प्रीति से शृंखलित है जिसे वे मूलतः अपने हृदय के भीतर ही खोजते और पाते हैं, यथा—

"तेरा साहब है घट माँहीं, बाहर नैना क्यों खोले।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, साहब मिल गये तिल ओले।।"[3]

यद्यपि ये भक्त बाह्य जगत् में भी "प्रियतम" की "लाली" देखते हैं, तथापि "बाहर नयन क्यों खोले जायँ"—यही उनकी साधना का मूल स्वर है। मन की मस्ती में वे बोलना भी नहीं चाहते—"मन मस्त हुआ तो क्या बोले ?" सूर के विनय-पदों में उपलब्ध "हरि-रस" अथवा "हरि-हीरा" की जाति बिल्कुल भिन्न है। यद्यपि उन्होंने भी "ज्ञान-अग्नि" की लपट फूटने की बात कही है, तथापि "ज्ञान की आँधी" की 'स्पिरिट' से वे प्रायः दूर हैं। विनय-भक्ति के प्रवाह में उन्होंने कृष्ण का इतना गुणगान किया है, उनकी भक्तवत्सलता का इतना बखान किया है कि लगता है, 'पुष्टिमार्ग' में दीक्षित होने की यथेष्ट मानसिकता उनमें पहले से ही विकसित हो गयी थी। नन्ददुलारे बाजपेयी के इस कथन में पर्याप्त सार है कि "कविवर सूर की यह काव्य-चातुरी विशेष रूप से प्रशंसनीय है कि वे ब्रज के चित्रपट पर कृष्ण का चित्र अंकित करने के पहले विनय के पदों में उसकी भूमिका उत्तम रीति से बाँध लेते हैं।"

(घ) पुष्टि-भक्ति : उत्तररूप

वल्लभाचार्य से ब्राह्मसंबंध स्थापित हो जाने के बाद, सूर की भक्ति का स्वर एकाएक बदल गया। 'सुबोधिनी' आदि के श्रवण से उनके अन्तर्हृदय में "हरि" की सगुण "लीला" का प्रस्फुरण हुआ और तब से संगीत की तान में उन्होंने सहस्रों ललित, रसार्द्र पदों की रचना की। महाप्रभु ने जिस भक्ति-पद्धति का प्रवर्तन किया, वह 'पुष्टि-मार्ग' की अभिधा से प्रसिद्ध है जिसे "प्रेमलक्षणा" भक्ति भी कहा गया है। तात्विक दृष्टि से, पुष्टिभक्ति-सम्पन्न भक्तों को स्वरूप द्वारा, आत्मा द्वारा, बाह्य इन्द्रियों तथा आन्तर-करणों से भी, आनंद का अनुभव होता है। इसीलिए, आचार्य ने कहा है कि भक्तों का "भगवत्कृपासहित" गृहस्थाश्रम जीवन्मुक्ति की अपेक्षा श्रेष्ठ है।[4]

---

1. "भक्ति नारदी मगन सरीरा।" —'कबीर ग्रंथावली', पद 278
2. "हीरा पायो गाँठ गँठियायो, बार-बार वाको क्यों खोले ?"
—'कबीर', हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० 346
3. वही, पृ० 346
4. 'तत्वदीपनिबन्ध', शास्त्रार्थ प्रकरण, कारिका 50-51

(i) **पुष्टि का स्वरूप**—'पुष्टि' का अर्थ होता है—'पोषण' और पोषण भगवान् का अनुग्रह है—"पोषण तदनुग्रहः" । इस भक्ति की विशेषता यह है कि इसमें भगवान् का अनुग्रह ही वह साधन है जिससे यह भक्ति सिद्ध होती है । यह अति दुर्लभ तथा स्वतन्त्र है—"स्वाधीना पुष्टिरुच्यते ।" अतएव, पुष्टिमार्गी भक्त अपने को सर्वात्मना भगवान् के अनुग्रह पर छोड़ देता है। कृष्ण "लीला-पुरुषोत्तम" हैं और उनकी निरुद्देश्य चलने वाली लीलाओं में सेवाभाव से सम्मिलित होना भक्त का चरम लक्ष्य है । पुष्टिभक्ति में हरि की स्वरूप-सेवा का विधान है। वह सेवा दो प्रकार की होती है—नित्यसेवा और वर्षोत्सव-सेवा । नित्यसेवा में हरि के स्वरूप (मूर्ति) की सेवा प्रातः से लेकर रात्रि के शयन-काल तक आठों पहर चलती है। प्रातःकाल 'हरि-स्वरूप' की 'मंगला आरती' से यह सेवा प्रारंभ होती है और शृंगार, राजभोग आदि उपचारों के बाद रात में भगवान् को शयन कराने से समाप्त होती है । इस अष्टयामी सेवा-विधि में ऋतु के अनुसार परिवर्तन होता रहता है । वर्षोत्सव-सेवा में रक्षाबंधन आदि पर्वों तथा हिंडोल, फाग आदि उत्सवों के अनुरूप हरि-विग्रह (श्रीनाथजी की मूर्ति) की सेवा का विधान किया गया है ।

वल्लभ ने गोपी-प्रेम को 'प्रेमलक्षणा' भक्ति का आदर्श माना है। गोपियों के तीन वर्ग किये गये हैं जिन्हें "गोपांगना", "गोपी" और "व्रजांगना" कहा गया है। गोपांगनाएँ वे हैं जिन्होंने लोक-लाज तथा वेदादि का भय त्याग कर, श्रीकृष्ण का साक्षात् भजन किया है। इन्हें "पुष्टि-पुष्ट" कहा गया है। "गोपियाँ" अथवा कुमारिकाएँ वे हैं जिन्होंने कात्यायनी आदि व्रतों से भगवान् का परोक्ष भजन किया है। इन्हें "पुष्टि-मर्यादा" कहा गया है। व्रजांगनाएँ वे हैं जिन्होंने भगवान् का बाल-भाव से भजन किया है। इन्हें "पुष्टि-प्रवाह" कहा गया है।

पुष्टिमार्ग हरिलीला में सम्मिलित होने के लिए मुख्यतः तीन भावों— सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य—को महत्व प्रदान करता है । माधुर्य प्रेमलक्षणा भक्ति का चरमोत्कर्ष है जिसमें भगवान् और भक्त का संबंध पति और पत्नी का हो जाता है, अर्थात् "कान्तारति" माधुर्य-भक्ति का प्राण है। उपर्युक्त गोपियों तथा गोपांगनाओं का प्रेम माधुर्य-रति का उद्भासक है, जबकि यशोदादि व्रजनारियों का प्रेम वात्सल्य-रति का व्यंजक है ।

(ii) **पुष्टिमार्ग और माधुर्य-भाव**—जैसा अभी कहा है, पुष्टिभक्ति में वात्सल्य के अतिरिक्त सख्य तथा माधुर्य भावों का भी समावेश है। वल्लभ-सम्प्रदाय के ग्रंथों में आचार्य वल्लभ को कृष्ण का अवतार माना गया है—"वस्तुतः कृष्ण एव ।" 'भागवत' के अनुसार जैसे कृष्णावतार के समय वेद की ऋचाएँ गोपियों तथा मंत्र गोपों के रूप में अवतरित हुए थे, वैसे ही वल्लभ के अवतार के समय भी उनके समग्र परिकर की अवतारणा हुई थी। उस समय सूरदास "कृष्णसखा", परमानंद लोकसखा और अष्टछाप के अन्यान्य सदस्य अन्यान्य सखाओं के रूप में अवतीर्ण हुए थे। पुनः सूर को 'चम्बकलता', परमानन्द को 'चन्द्रमाला', कुंभनदास को 'विशाखा', कृष्णदास को 'ललिता' अथवा अन्यों को अन्य सखियों का रूप भी बताया गया है। गोस्वामी हरिराय जी का कथन है कि प्रत्येक भक्त के स्वरूप हैं : "पुंभाव के सखा और स्त्रीभाव की सखी। सो दिन में सखा द्वारा अनुभव तथा रात्रि को सखी द्वारा अनुभव है।" पुष्टिमार्गी मधुरा-भक्ति में, अतएव, सखा-भाव और सखी-भाव, दोनों विहित हैं। चैतन्यदेव की

तरह, वल्लभाचार्य कृष्ण तथा राधा दोनों रूपों में स्वीकृत हैं जिससे माधुर्य-भाव का पूर्णतया रसात्मक अनुभव हो सके। ध्यातव्य है कि मधुरा-भक्ति में प्रेम ही सर्वोच्च 'पुरुषार्थ' माना गया है—"प्रेमा पुमर्थो महान्।" नारदीय भक्ति-सूत्र में भी निर्देश दिया गया है कि सत्व, रज तथा तम, तीनों प्रकार के गुणात्मक रूपों को भंग कर भक्त को दास, कान्ता, अथवा सख्यादि अन्य भावों से अनुप्राणित होकर भगवान् से भजनपूर्वक प्रेम करना चाहिए, प्रेम ही करना चाहिए—"त्रिरूपभङ्गपूर्वक नित्यदासकान्ताभजनात्मकं वा प्रेमैव कार्यम् प्रेमैव कार्यम्।" और, यह 'भजन' रस का आस्वादन ही है, जैसा 'गोपालतापिनी' उपनिषद् का कथन है—"किं नाम भजनं ? भजनं नाम रसनम्।"

"कान्ताभाव" पुष्टि-मार्ग का प्रधान तत्व है। इसी कारण, जैसा अभी कहा है, सूर, आदि—सखी-भाव से आपन्न बताये गये हैं और स्वयं महाप्रभु, कृष्ण के साथ स्वामिनी राधा के रूप में भी माने गये हैं।

(iii) **सूर और पुष्टि-भक्ति :** 'सूरसागर' में सूर की पुष्टि-भक्ति सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य तीनों भावों में प्रकाशित हुई है। सख्य-भाव के अनेक उदाहरण 'सागर' में उपलब्ध हैं जिनमें सूर का "कृष्ण-सखा" भाव व्यंजित हुआ है। वत्सल-रति के विवेचन-प्रसंग में नन्द-यशोदा के वात्सल्य के साथ, सूर का वात्सल्य-भाव भी व्यंजित प्रदर्शित हुआ है। नीचे की पंक्तियाँ देखिये—

"कहौं कहाँ कछु कहत न आवै, औ रस लागत खारौ री।
इनहिं स्वाद जो लुब्ध सूर, सोइ जानत चाखनहारौ री॥" (753)

"जो रस नंद-जसोदा बिलसत, सो नहिं तिहूँ भुवनियाँ।
भोजन करि नँद अचमन लीन्हौं, माँगत सूर जुठनियाँ।" (856)

"जुठनियाँ" माँगने वाले सूर यहाँ निश्चित ही वत्सल-भाव से अनुप्राणित भक्त दिखायी पड़ते हैं। कृष्ण के मथुरा-गमन प्रसंग में जब यशोदा बार-बार यह निवेदन करती है, "है कोउ ब्रज मैं हितू हमारों, चलत गुपालहिं राखै", अथवा जब नंद को अकेले लौटते देख कर वह वेदना से विह्वल, पुकार उठती हैं—

"छाँड़ि सनेह चले मथुरा, कत दौरिन चीर गह्यौ।
फाटि न गई बज्र की छाती, कत यह सूल सह्यौ॥"

तब सूर का वात्सल्य भाव-भावित भक्त-हृदय हरि के वियोग से विदीर्ण हो गया है। वे यहाँ यशोदा के साथ, प्रेमलक्षणा भक्ति की "पुष्टिप्रवाह"-रूपा ब्रजांगनाओं की कोटि में समाविष्ट हो जाते हैं। वात्सल्य के अनेक चित्रणों में यह "पुष्टिप्रवाह"-रूप उद्भाषित हुआ है। 'नैननि-समय', 'अँखियन-समय' आदि से संबद्ध पदों में गोपी-प्रेम का "पुष्टि-मर्यादा"-रूप मर्मस्पर्शी ढंग से व्यंजित लक्षित होता है। निम्न पद में "पुष्टिपुष्ट" भाव का अतीव मंद्र-मंजुल स्वरूप उन्मीलित है—

"ग्वालिनि प्रगट्यौ पूरन नेहु।
दधि भाजन सिर पर धरै, कहति गोपालहिं लेहु।" आदि।

सूर का भक्त-हृदय इन सभी चित्रणों में प्रेम से पिघल गया है और उन्होंने इन सभी जातियों का व्रजवनिताओं के साथ भाव-तादात्म्य स्थापित कर लिया है। सूर सर्वात्मना हरिगुण-गान के प्रति समर्पित हैं जो पुष्टि-भक्ति की मुख्य वस्तु है—

"सोई रसना जे हरिगुन गावै।
नैननि की छबि यहै चतुरता, जौ मुकुंद मकरंदहिं ध्यावै॥" आदि।

सूर ने 'नित्यसेवा' तथा 'वर्षोत्सव-सेवा' से संबंधित पदों का भी प्रणयन किया है जिनमें उनके भक्त-रूप के विविध आयाम उन्मीलित हुए हैं। श्रीकृष्ण के शयन कराने, उन्हें प्रातःकाल जगाने, भोजन कराने आदि से संबंधित अनेक पद 'सागर' में बिखरे हुए हैं जो पुष्टिमार्गी सेवाविधि के अनुरूप रचित हैं। केवल एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"कौन परी मेरे लालहिं बानि।
प्रात समय जागन की बिरियाँ, सोवत हैं पीतांबर तानि॥

तुम मोहन जीवन-धन मेरे, मुरली नैकुँ सुनावहु कान।
यह सुनि स्रवन उठे नँदनंदन, बंसी निज माँग्यौ मृदु बानि॥
जननी कहति लेहु मनमोहन, दधि ओदन घृत आन्यौ सानि।
सूर सुबलि-बलि जाउँ बेनुकी, जिहिं लगि लाल जगे हित मानि॥"
(1829)

माधुर्य-भावोपेत पदों से सागर लबालब भरा हुआ है। नयनों से संबंद्ध पदों में सूर की "रूपाशक्ति" की मार्मिक व्यंजना होती है। "उर मैं माखन-चोर गड़ै", "भई मन माधव की अवसेर", "मेरौ मन हरि चितवनि अरुझानौ" आदि पद "तन्मयाशक्ति"[1] की व्यंजना से पूर्ण हैं। पुष्टिमार्ग में भगवान् की रस-लीला में भाग लेना परम प्रकाम्य है। सूर ने राम का वर्णन करते हुए कहा है—

"मैं कैसैं रस रासहिं गाऊँ।
श्री राधिका स्याम की प्यारी, कृपा वास ब्रज पाऊँ॥"

---

1. 'नारदभक्तिसूत्र' में भक्ति के भगवद्-विषयक अनुरक्ति अथवा आसक्ति की दृष्टि से एकादश रूप बताये गये हैं। यथा—

गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति और परमविरहासक्ति। (सूत्र 82)

इन आसक्तियों का भाव स्वतः स्पष्ट है। भगवान् से विरह की तीव्र अनुभूति, "परमविरहासक्ति" भक्तिभाव का प्रकर्ष है।

नव निकुंज ब्रज-धाम निकट इक, आनँद-कुटी रचाऊँ।
सूर कहा बिनती करि बिनवै, जनम-जनम यह ध्याऊँ ।। (1792)

नवनिकुंज के समीप "आनन्द-कुटी" रचाने की इस कामना में भक्त-कवि का सुकुमार माधुर्य-भाव फूट पड़ा है जो अभिन्न "सखी" का ही भाव है। 'भ्रमरगीत'-प्रसंग में सूर के 'भक्त' का "कान्ताभाव" शतशः धाराओं में प्रवाहित हो उठा है। "ऊधौ हरिगुन हम चकडोर", "अँखिया हरि-दरसन की भूखीं", "ऊधौ प्रेम गएँ प्रान रहै, कौन काज आवै" प्रभृति पद "परमविरहासक्ति" अथवा "तन्मयासक्ति" से ओतप्रोत माधुर्य-भाव की व्यंजना से गर्भित हैं। "ऊधौ, बिरहौ प्रेम करै" जैसे कथनों से यह विज्ञप्त होता है कि सूर प्रेम को परम पुरुषार्थ मानते हैं। सूर का "भक्त" "प्रेमैव कार्यम्, प्रेमैव कार्यम्" की स्वर-भंगी में कह उठा है—

"प्रेम प्रेम ते होइ, प्रेम ते पारहिं पइये।
प्रेम बँध्यौ संसार, प्रेम परमारथ लहिये ।।
एकौ निस्चय प्रेम कौ, जीवन मुक्ति रसाल।
साँचौ निस्चय प्रेम कौ, जेहि रे मिले गोपाल।"

(iv) **केलितत्वीय भक्ति : सखी-भाव**—'सूरसागर' में राधा-कृष्ण की रस-केलियों के अनेक चित्र गुंफित मिलते हैं। सूर के "चम्पकलता" होने का उल्लेख पहले किया जा चुका है। तृतीय अध्याय में दिखाया गया है कि राधावल्लभीय तथा हरिदासी सम्प्रदायों में राधा-कृष्ण के "युगल-स्वरूप" अथवा राधा की उपासना को प्राधान्य मिला। व्रज के तत्कालीन वातावरण में पुष्टिमार्गी माधुर्य-भाव को और भी प्रोत्साहन मिल गया और सूर ने राधा-कृष्ण की विहार-केलियों का उन्मुक्त गान किया। "नीबी ललित गही जदुराई" के कथन से केलि-तत्त्वीय माधुर्य-भक्ति की निर्व्याज ध्वनि सूर ने निनादित कर दी और फिर तो, अपने आराध्यों की रति-लीलाओं के वर्णन में उनकी वाणी कभी बन्द नहीं हुई है।

सूर की 'युगलोपासना' के चित्र निम्न पंक्तियों में दर्शनीय हैं—

"बृन्दावन मैं बिहरत दोऊ, मम प्रभु स्यामा-स्याम।
सूरदास उर बसहु निरंतर, मनमोहन अभिराम ।।" (1822)

× × ×

"बसौ मेरे नैननि मैं यह जोरी।
सुन्दर स्याम कमल-दल-लोचन, सँग बृषभानु किसोरी ।।" (1825)

राधा-कृष्ण की संभोग-माधुरी से भी सूर का 'भक्त' आनन्द-विह्वल हो गया है, यथा—

"लपटे अंग सौं सब अंग।
सुरसरी मनु कियौ संगम, तरनि-तनया-संग।" (2749)

× × ×

"रसना जुगल रस-निधि बोल।
कनक-बेलि तमाल अरुझी, सुभुज-बंध अखोल ।।" (2750)

सूर के राधा-कृष्ण, श्यामा-श्याम "कुंजबिहारी-कुंजबिहारिणी" हैं। निकुंज-लीलाओं में सखियाँ एकमात्र प्रवेश की अधिकारिणी होती हैं। सूर अन्ततः स्त्रीभावापन्न हो गये थे—ऐसा कहा गया है। निम्न पंक्तियों में माधुर्य-भक्ति का सखी-भाव निर्भ्रान्त रीति से व्यंजित हुआ है—

"देखौ माई माधौ राधा क्रीरत।
सुरत-समय संतोष न मानत, फिरि-फिरि अंक भरत।।" (1818)
"नख-सिख लौं रस-रूप किसोरी बिलसत साँवल गात।
यह सुख देखत सूर और सुख उड़े पुराने पात।।" (1824)

सूर का यहाँ "तत्सुखसुखित्व"-भाव स्पष्ट ध्वनित हुआ है जो सखी-भाव का मुख्य तत्त्व है।

(ङ) सूर की धुर्य-भक्ति और म्तंत्रीय प्रभाव

विद्वानों ने शैवागम के "अर्धनारीश्वर" तथा बौद्धतंत्र के "युगनद्ध" सिद्धान्तों की छाया सूर जैसे कृष्णकवियों की साधनाओं में देखी है। शैव-शाक्त ग्रंथों में शिव-शिवा का सामरस्य वर्णित है। 'राधा-तंत्र' में कहा गया है कि सृष्टि के प्रसंग में शिव और महा-शक्ति ने एक-दूसरे का शृंगार किया और उसी क्षण महाशक्ति श्रीकृष्ण के रूप में तथा शिव श्रीराधा के रूप में आविर्भूत हुए। इस प्रकार, राधा के अंश से पुरुष और कृष्ण के अंश से शक्ति या स्त्री तत्वों का प्रादुर्भाव हुआ। सम्पूर्ण सृष्टि में, अतएव, शिव-शक्ति या राधा-कृष्ण का सामरस्य प्रतिफलित हो रहा है। परमशिव के "सदानन्दत्व" और कृष्ण के "परमानन्दघनत्व" में भी घनिष्ठ साम्य प्रदर्शित है।

शिव की उपासना विष्णु की उपासना से पुरानी मानी गयी है। अतः वैष्णवी रस-साधनाओं पर शैव-शाक्त तंत्रों का प्रभाव माना जा सकता है। किन्तु, यह भी सम्भव है कि शैव-प्रभाव से पृथक् भी विष्णु-लक्ष्मी की उपासना भारतीय भूभाग में समानांतरेण कहीं होती रही हो और राधा-कृष्ण की उपासना में उसका, कालात्यय में, रूपांतरण हो गया हो। यह भी सम्भव है कि शैव विद्वानों ने साम्प्रदायिक आग्रह में राधा-कृष्ण को शिव-शिवा का नया संस्करण बना दिया हो, क्योंकि राधा-कृष्ण की प्रणय-लीलाएँ जनसामान्य में प्रचलित रही होंगी। यों तो पंडितों ने सखी-भाव की उपासना में भी शाक्त प्रभाव को पहचान की है और रास-नृत्य में 'भैरवी चक्र' आदि की प्रेरणा बतायी गयी है। सबसे प्रमुख तर्क इस पक्ष में राधा को "ह्लादिनी" शक्ति मानना है।

हमारी मौलिक विचिकित्सा यहाँ यह हो रही है कि शैवशाक्तागमों में 'शक्ति' मूलतः 'मातृरूपा" है, जबकि "ह्लादिनीशक्ति-रूपा" राधा मूलतः रिरंसा अथवा रमणेच्छा से अनुप्राणित हैं। पुनः कृष्ण 'रसावतार' हैं, जबकि शिव की विग्रह-कल्पना में भैरव-तत्व की प्रधानता लक्षित होती है। पांचरात्रीय आगमों का प्रभाव तो वैष्णव साध-नाओं पर सामान्यतः स्वीकृत है और नन्ददास ने 'श्रीकृष्णसिद्धान्तपंचाध्यायी' में इन्हीं आगमों की तरफ संकेत किया है, न कि शैवशाक्तागमों की तरफ—

"जग में जो संगीत नाहि जेहि जगत रिझायो।
अस ब्रज-तियन कौं सहजगमन यौं आगम गायो।।"

'शक्ति-तत्त्व' की कल्पना इतनी सहज है कि उसे हर जगह शाक्ततंत्रीय प्रभाव बताना अनर्गल-सा ध्वनित होता है। यह क्यों नहीं मानें कि वैष्णव आचार्यों ने जो शक्ति-निरूपण किया, वह नितान्त सहज रीति से—"रसो वैसः", "स वैनैव रेमे" आदि श्रुतियाँ परमात्म-तत्त्व की रिरंस की उन्मीलक हैं ही। अतएव, स्वतंत्र रीति से भी कृष्ण को "शक्तिमान्" और राधा को "शक्ति" मान लिया गया होगा, ऐसी कल्पना निराधार नहीं है।

सुतराम्, सूर-जैसे कृष्ण-कवियों अथवा कृष्णोपासक सम्प्रदायों की केलि-तत्त्वीय भक्ति में शैव-शाक्त-बौद्ध तंत्रों का निश्चित प्रभाव पड़ा ही है—ऐसा हम नहीं मानते। उलटे, हमारा यह अनुमान है कि यदि शाक्त आगमों में देवी को "कदम्बवनसंचारा" कहा गया है, तो यह राधा-कृष्ण की निकुंज-लीला अथवा उन लीलाओं से सम्बद्ध वृन्दा-वनीय अनुषंगों का प्रभाव होगा। आखिर-विश्व की उन प्राक्तन सभ्यताओं में भी मिस्र तथा सुमेर देशों में, आइसिस, इश्तरआदिदेवियों की पूजा प्रचलित थी जो सैन्धव-सभ्यता के बहुत पहले विकसित हुई थी। तब, यह क्यों नहीं माना जाय कि नारी-रूप में शक्ति-पूजा की प्रथा, स्वतंत्र रीति से, अतिप्राचीन काल में विभिन्न जातियों में प्रचलित थी, क्योंकि नारी को सर्वत्र रहस्यमयी सत्ता अथवा 'शक्ति' माना गया है। पांचरात्रीय आगमों में जो शक्ति-कल्पना तथा मंत्रादि की व्यवस्था पायी जाती है, वह सामान्य मानव-प्रकृति के अनुकूल, स्वतंत्ररीत्या विकसित हुई है—ऐसा मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं दिखलायी पड़ती।

वैष्णव साधनाओं पर वात्स्यायन के 'कामसूत्र' का अवश्य प्रभाव है। सूर के कृष्ण "कोक-कला-व्युत्पन्न" हैं।[1] किन्तु, ऐसे चित्र भी भक्तिभाव की तन्मयता से संसिक्त हैं। इनमें शैव-शाक्त अथवा बौद्ध तंत्रों का प्रभाव देखना बहुत युक्तिसंगत नहीं है।

———

1. वात्स्यायन के 'कामसूत्र' की अनेक टीकाएँ या व्याख्याएँ लिखी गयीं। उन लेखकों में पंडित कोक्क का 'रतिरहस्य' इतना प्रसिद्ध हुआ कि इस विषय के ग्रंथों का नाम ही 'कोकशास्त्र' पड़ गया। पूर्वी जनभाषाओं में नारियाँ प्रायः रहस्य-प्रसंगों के लिए "कोक पढ़ना" मुहावरे का प्रयोग करती हैं। —लेखक

अध्याय 5

सूर की सौन्दर्यानुरक्ति

(क) सौन्दर्य का निरूपण

सौन्दर्य का धर्म—मनुष्य के मनोमय जीवन का प्रसार जिन अन्तर्वृत्तियों के सहारे होता है, उनमें प्रमुख महत्व से समन्वित हैं आकर्षण एवं विकर्षण की प्रवृत्तियाँ। जीवन तथा जगत् के जो पदार्थ अथवा व्यापार हमें आकर्षित करते हैं, उनसे हमारी प्रियताओं की सृष्टि होती है और जो हमें अपने से दूर हटाते हैं, उनसे हमारी विप्रियताओं का प्रादुर्भाव होता है। वस्तुतः मनुष्य का समग्र अभ्यान्तरिक जीवन उसकी प्रियताओं तथा विप्रियताओं का संकलित सामंजस्य है। अतएव, यह सामान्यतः कहा जा सकता है कि हमारी प्रियताओं की परिधि में आने वाली वस्तुएँ 'सुन्दर' हैं और जिन गुणों के कारण वे हमारी प्रिय बनी हैं, उनकी ही संज्ञा 'सौन्दर्य' है। आकर्षण सौन्दर्य का व्यवच्छेदक तत्त्व है जैसे विकर्षण कुरूपता का।

प्रस्तुत स्थापना से शायद यह ध्वनि निकलती समझी जायेगी कि हम सौन्दर्य को 'वस्तुनिष्ठ' ही मानते हैं। प्रत्ययवादी दार्शनिकों ने उसे 'मनोनिष्ठ' अथवा 'आत्मनिष्ठ' माना है। हमें इन दोनों स्थितियों में कोई तात्विक भेद नहीं दिखायी पड़ता। वास्तव में, सौन्दर्य की पूर्ण अनुभूति में प्रमाता एवं प्रमेय का द्वैत मिट जाता है और वही 'आकर्षण-तत्त्व' प्रमुख बना रहता है। मनसपरक सौन्दर्य-दर्शन में भी प्रमेय की निजी सत्ता का निषेध नहीं होता और किसी-न-किसी प्रकार प्रमाता को वह अपनी मोहिनी माया में आबद्ध किये ही रहती है।

भारतीय सौन्दर्य-दृष्टि—'ईशावास्योपनिषद्' में कहा गया है कि सत्य का मुख स्वर्णमय पात्र से ढका हुआ है और इस सुनहले आवरण के हटाने से ही सत्य का दर्शन हो सकता है।[1] 'मुण्डकोपनिषद्' में कहा है कि जो शुभ्र तथा निष्कल है और ज्योतियों की भी ज्योति है, वह ब्रह्म हिरण्मयकोष में अधिष्ठित है।[2] अर्थात्, श्रुति के अनुसार, पूषन अथवा ब्रह्म अथवा परात्पर सत्ता सौन्दर्य में निवास करती है, वह निष्कल सौन्दर्य ही है। 'गीता' भी बताती है कि जीवन एवं जगत् में जो "विभूति" अथवा सौन्दर्य दृष्टि-

---

1. "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥" —ईशावास्योपनिषद्

2. "हिरण्मये परे कोषे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः॥" —मुण्डकोपनिषद्

गोचर हो रहा है, वह ब्रह्म के तेज का ही व्यक्त स्वरूप है।[1] इस प्रकार, भारतीय आर्ष प्रतिभा ने सम्पूर्ण सृष्टिगत सौन्दर्य को ब्रह्म के अनन्त सौन्दर्य का ही प्रकाश माना है और परोक्षतया सौन्दर्य की वस्तुपरकता अथवा प्रमेयनिष्ठता स्वीकार की है।

सगुण-सौन्दर्य-निष्ठा—भगवान् (श्रीकृष्ण) जब भक्तों के प्रीत्यर्थ धराधाम में अवतीर्ण होते हैं, तब इसी कारण, वे अप्रतिम सौन्दर्य तथा असीम आनन्द के घनीभूत विग्रह बन जाते हैं। रमणेच्छा से वे निरन्तर अनुप्राणित होते हैं। अतएव, राधा तथा अन्य समग्र लीला-परिकर सौन्दर्य-सागर में निमज्जित हो, चतुर्दिक् आह्लाद का प्रसार करता है। राधा "ह्लादिनी" शक्ति इसी कारण है कि वह अतिशय सौन्दर्य की स्वामिनी है। कृष्ण "अखिलरसामृतमूर्ति" भी इसी कारण हैं कि वे रूपसिन्धु के सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्य-रत्न हैं।

सूरदास अपने "स्वामी-स्वामिनी" की अपरिमेय सौन्दर्य-शोभा से सर्वात्मना अभिभूत हैं। जब वे "अविगत-गति" की दुर्बोध्यता का कथन कर उस निर्गुण, परात्पर-तत्त्व के अनुभव के आस्वाद को गूँगे के मीठे फल के अभ्यन्तरीण "रस" से समीकृत करते हैं,[2] तब उनका अपरोक्ष मन्तव्य साफ झलक जाता है कि वे अपने आराध्य के नितान्त मानसिक दर्शन से परितृप्त नहीं हैं, प्रत्युत उसे "रूप-रेख-गुन-जाति"[3] को इन्द्रियगोचर, पार्थिव परिधि में बाँध देने की अभिलाषा से चंचल हैं। सौन्दर्य जब तक ज्ञानेन्द्रियों से अनुभूयमान न हो, तब तक उसका आकर्षण केवल वायवी रहेगा। इसी कारण, सूर की सौन्दर्यानुरक्ति का एक पुष्कल आयाम उसकी कथनीयता अथवा वर्णनीयता रही है। वे अपने आराध्यों की रूपशोभा का इसी कारण बार-बार वर्णन करते हैं और फिर भी उस वर्णन से संतुष्ट नहीं होते, क्योंकि वह सौन्दर्य मूलतः सच्चिदानन्दघन परात्परब्रह्म का ही सौन्दर्य है जो कभी वाणी के पूर्ण शासन में नहीं आ सकता।

रमणीय एवं उदात्त—'सौन्दर्य' को 'उदात्त' से जोड़ने की परम्परा आधुनिक काल में चल पड़ी है। सौन्दर्य जब लोकोत्तर हो जाता है, जब उसका आकर्षण भी लोकोत्तर बन जाता है, तब उसके दर्शन से मिलने वाली परितृप्ति बाह्येन्द्रियों का विषय न होकर अन्तश्चित्त का विषय बन जाती है, तब उसकी संज्ञा "उदात्त" होती है। प्रसिद्ध आंग्ल साहित्य-समीक्षक ब्रैडले ने एक निबन्ध में 'सुन्दर' की एक ऊर्ध्वग सोपान-सरणि निरूपित की है जिसमें वह "प्रेटी" (ललित) से बढ़ते-बढ़ते "सब्लाइम" (उदात्त) तक पहुँचता है। मध्यवर्ती स्तरों को उसने 'ब्यूटीफुल', 'ग्रेसफुल' आदि संज्ञाएँ प्रदान की हैं।[4] उस आधार पर 'ललित', 'रमणीय', 'सुन्दर', 'भव्य' तथा 'उदात्त' के स्तरों का निरूपण किया जा सकता है। लेकिन, हमारी समझ में भारतीय प्रतिभा जिस सौन्दर्य की अन्वेषिणी

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता, 10/40
2. 'सूरसागर', 2
3. वही, 2
4. ब्रैडले की सोपान-सरणि यों है—

   'प्रेटी', 'ग्रेसफुल', 'ब्यूटीफुल', 'ग्रैण्ड' और 'सब्लाइम' (द्रष्टव्य—'Oxford Lecturer on Poetry' by A. C. Bradley में दूसरा निबन्ध।)

रही है, उसमें 'रमणीयत्व' अथवा मनोहारिता की ही विशेष प्रतिष्ठा हुई है। पंडितराज जगन्नाथ ने "लोकोत्तर आह्लाद" अथवा "चमत्कार" को रमणीयता का गुण बताया है।[1] सूर के काव्य में जिस सौन्दर्य का अवतरण हुआ है, वह मूलतः 'रमणीय' है। कृष्ण हों या राधा, दोनों की रूपशोभा में 'रमणीयता' अथवा लोकोत्तर 'आह्लाद-जनकता' का तत्त्व विद्यमान है। हम यहाँ यह भी स्मरण करा देना चाहते हैं कि हमने जिस 'उदात्त' का अभी निरूपण किया है, वह "मधुरोदात्त" है। वस्तुतः 'उदात्त' का व्यवच्छेदक धर्म लोकातिशायिता, लोकोत्तीर्णता है और इस प्रकार, उसकी भी जातियाँ होती हैं, हो सकती हैं। 'मानस' में प्रतिबिम्बित 'उदात्त' 'सूरसागर' के 'उदात्त' से निश्चित ही भिन्न है। इसी कारण, 'रमणीयता' का जो घनीभूत तत्त्व सूर के लीला-चित्रों में अवतीर्ण हुआ है, वह तुलसी के मर्यादा-संवलित, उद्देश्य-गर्भित राम की "नर-लीला" के वर्णन में उपलभ्य नहीं है।

विराट् सौन्दर्य—"नैननि निरखि स्याम-स्वरूप" वाले पद में सूर भगवान् के "विराट् रूप" का वर्णन करते हैं और "घट-घट" में व्याप्त "ज्योतिरूप" से लेकर "सूर्य-चन्द्र-नक्षत्र-पावक" में दृश्यमान "प्रकाश" तक में उसके सौन्दर्य की उपलब्धि करते हैं।[2] निश्चय ही, यह सौन्दर्य 'उदात्त' बन गया है क्योंकि उसकी 'रमणीयता' में लोकोत्तर चमत्कार का सन्निवेश हो गया है। इसी प्रकार, "हरि जू की आरती बनी" वाले प्रसिद्ध पद में सूर ने भगवान् की "अति विचित्र रचना" के प्रकीर्तन से आरती का जो भव्य रूपक उपनिबद्ध किया है, उसमें भी 'औदात्य' उतर आया है।[3] किन्तु, मैं जो बिन्दु रेखांकित करना चाहता हूँ, वह यह है कि सूर के 'उदात्त' में भी 'रमणीय' है, 'ललित' है। अतएव, रमणीयत्वविहीन "उदात्त" की खोज 'सूरसागर' में नहीं की जा सकती। वास्तविकता यह है कि सूर के लीला-वर्णन के उत्कृष्ट क्षणों में 'ललित', 'सुन्दर', 'रमणीय', 'भव्य' तथा 'उदात्त', समस्त स्तरों का युगपत् गुंफन हुआ है। जहाँ लीलाओं के द्रष्टा-रूप में वे देवताओं आदि को उपस्थित करते हैं, वहाँ उनकी सौन्दर्यानुरक्ति पार्थिव 'ललित' को अतिक्रान्त कर, अपार्थिव 'चमत्कार' या लोकोत्तर 'आह्लाद' की पोषिका बन जाती है।

केन्द्रगत रमणीयता—विवक्षा यह है कि सूर सौन्दर्य के प्रति प्रगाढ़ भाव से अनुरक्त हैं। 'लालित्य' उन्हें प्रथमतः आवर्जित करता है और अपने अभ्यांतरिक मानसी सौन्दर्य-दर्शन में वे सर्वदा नहीं तो प्रायः 'भव्यता' अथवा 'उदात्तता' के चरम सोपान को अधिगत कर लेते हैं, किन्तु 'रमणीयता' अथवा 'मनोहारिता' के केन्द्र से वे कभी विचलित नहीं होते।

सौन्दर्यानुरक्ति के आयाम—वैष्णव भक्त-कवियों ने जब परात्पर ब्रह्म का 'मानवीकरण' किया, तब उनकी अन्तर्दृष्टि के सम्मुख अपने आराध्यों के पार्थिव धरातल पर सौन्दर्य-वर्णन का विशद 'कैनवास' मिल गया। मर्यादावादी तुलसी तो रूप-सौन्दर्य की

---

1. "रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभव साक्षिको जातिविशेषः।" —'रसगङ्गाधर'

2. 'सूरसागर', 370

3. वही, 371

गहराइयों को पूरी तरह नाप नहीं सके, लेकिन "लीला-पुरुषोत्तम" श्रीकृष्ण के उपासक सूर ने राधा-कृष्ण की रूपशोभा के वर्णन में अपनी भारती का जो विनियोग किया, वह हिन्दी साहित्य में अतुलनीय है। सूर ने मुख्यतः उसी सौन्दर्य का वर्णन किया है जो मानवी-रूप में प्रतिबिम्बित अथवा प्रस्फुट होता है। रूपगोस्वामी ने अंग-प्रत्यंगों के उचित, सुश्लिष्ट संधिबन्ध को 'सौन्दर्य' कहा है।[1] रुय्यक ने अंगों की रेखाओं की स्पष्टता को 'रूप' कहा है।[2] वस्तुतः ये परिभाषाएँ भारतीय काव्य में चली आती "नखशिख"-परम्परा को ही सूत्ररूप में अभिव्यक्त करती हैं। सूर इस परम्परा में पूर्ण निष्णात हैं। साथ ही, लोकोत्तर सौन्दर्य-राशि के मानवीकरण में उन्हें स्वभावतः कुछ अनिर्वचनीय तत्व उपलब्ध हुए हैं जिन्हें सन्निविष्ट कर, उनकी सौन्दर्यानुभूति का वैचारिक धरातल पर आकलन किया जा सकता है।

सुतराम्, सूर की सौन्दर्यानुरक्ति का विवेचन हम 'सौन्दर्यानुभूति' तथा रूप-चित्रण' के दो शीर्षकों में करेंगे।

(ख) सौन्दर्यानुभूति

सूर की सौन्दर्यानुभूति सूक्ष्म तथा समृद्ध दोनों है। नखशिख-परम्परा में जो सौन्दर्य-चेतना उन्हें मिली है, वह अतिशय इन्द्रियगम्य है; स्थिर प्रतीकों तथा उपमानों के माध्यम से उस सौन्दर्य-मूर्ति में लगभग समस्त ज्ञानेन्द्रियों के उपभोग के लिए प्रचुर ठोस सामग्री विद्यमान है। वस्तुतः प्रकृति के सुरम्य क्रोड़ में पलने के कारण, भारतीय प्रतिभा ने नारी-सौन्दर्य अथवा पुरुष-सौन्दर्य की एक आदर्श प्रतिमा उद्भावित कर ली थी और वह निश्चिततया चाक्षुष उपभोग की वस्तु थी। यौवन के आगम से उस प्रतिमा में निखार और उभार आता था। वयःसंधि तो सर्वाधिक प्रिय एवं लोभनीय वयःक्रम थी। सूर को प्राप्त यह सौन्दर्य-रिक्थ अवश्यमेव वस्तुनिष्ठ ('ऑब्जेटिक्व') है। अतएव, उनकी सौन्दर्यानुभूति वायवी नहीं है, प्रत्युत इन्द्रियों के माध्यम से अनुभवगम्य है। उस अनुभव के एक-दो विन्दुओं को इंगित किया जा सकता है।

रूप-सौन्दर्य के प्रतिमान यद्यपि भारतीय परम्परानुसार मुख्यतः गोचर प्रकृति से गृहीत हुए हैं, तथापि विभिन्न अंगों-अवयवों के संयोग से जो सौन्दर्य निखरता है, वह अव्याख्येय है—ऐसी सूर की मानसी अनुभूति है। इसी को व्यक्त करने के लिए वे 'उदधि' या 'समुद्र' का उल्लेख करते हैं। स्पष्ट ही, समुद्र की अपरिमेय गहराई उनके द्वारा अनुभूयमान सौन्दर्य की गहराई है जो भावक के चित्त को अपने में डुबो देती है। जब सूर "छवि-तरंगों" की बात करते हैं, तब वे सौन्दर्य के उस बाह्य प्रकाश की ओर इंगित करते हैं जो मूलतः मानस-चक्षुओं का विषय है, किन्तु जो बाह्य चक्षुओं को भी अपनी माया में बन्दी बना लेता है। इस प्रकार, सूर की सौन्दर्यानुभूति मानसी है जिसे पकड़ने तथा शब्दमयी अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए वे परम्पराप्रथित प्रतीकों का समाश्रयण करते हैं; किन्तु जब वह यह महसूस करते हैं कि वह मानसी सौंदर्य फिर भी

---

1. "अङ्गप्रत्यङ्गकानां यः सन्निवेशो यथोचितम्।
सुश्लिष्टसन्धिबन्धः स्यात्तत्सौन्दर्यमितीर्यते॥" —'उज्ज्वलनीलमणि'
2. "अवयवानां रेखास्पाष्ट्यं रूपम्।" —'सहृदयलीला'

अकथनीय बना रह गया है, तब स्वीकार कर लेते हैं कि उनकी मति थकित-चकित हो गयी है।

सौन्दर्य यदि अव्याख्येय है, तो वह निश्चित विस्मयोत्पादक भी होगा—ऐसा सूर का अनुभव है। विस्मय उत्पन्न करने वाला यह तत्त्व है "लावण्य" जिसे शास्त्र में मुक्ता में छाया के आन्तर तरलत्व की चमक का प्रतियोगी बताया गया है। यही वह तत्त्व है जो कृष्ण के सौन्दर्यानुशीलन में व्रजवनिताओं को परास्त कर देता है। यही "छवि की चमक" है जिसे पकड़ने के लिए गोपियाँ रोम-रोम में नयन चाहती हैं।[1] क्षणे-क्षणे नयी छवि, नयी शोभा, नया भाव उत्पन्न होता रहता है। यह वही 'लावण्य' है जिसकी भावना कराने के लिए सूर नट के कौतुक, "नट के ख्याल" का उपमान लाते हैं।[2]

अर्थात्, सूर द्वारा अनुभूत सौन्दर्य गहराई के साथ एक विस्मयोत्पादक तत्त्व से भी संवलित है जो प्रतिक्षण परिवर्तमान है, और इसी कारण, अकथ्य है। "क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः"— यह भक्त-कवि की सौन्दर्यानुभूति का एक विशिष्ट तत्त्व है।

सूर की सौन्दर्यानुभूति में रमणीयतामूलक सौन्दर्य का अम्लान शाश्वतिक आकर्षण दूसरा प्रमुख तत्त्व है। सुन्दर सर्वदा आकर्षणमय होगा और वह हृदय में एक बार प्रविष्ट हो जाने पर कदापि-कथमपि बहिर्गत नहीं किया जा सकता। अनेक पदों में कृष्ण-रूप के इस वैशिष्ट्य का उल्लेख उपलब्ध होता है। हरि-दर्शन की लालसा विरहिणी गोपी में मर गयी है, तथापि रूपाकर्षण बना रह गया है—

"हरि दरसन की साध मुई।
उड़ियै उड़ी फिरति नैननि सँग, फर फूटैं ज्यौं आक-रुई ।।
जानौ नहीं कहाँ तैं आवति, वह मूरति मन माँहि उई।
बिनु देखे की बिथा बिरहिनी, अति जुर जरति न जाति छुई।"
(2473)

"रूप-ठगौरी" की बात जो व्रजवनिताएँ प्रायः करती हैं, वह सौन्दर्य के चिरंतन चुम्बकीय आकर्षण का विज्ञापक है।[3] "हरि-दरसन अमल पर्‍यौ, लाज न लजानी"— हरि-दर्शन की यह आदत उसी सनातन आकर्षण को परिभाषित करती है।[4]

सौन्दर्य एवं विलास का घनिष्ठ संबंध सूर की सौन्दर्यानुभूति का अन्य प्रमुख अंग है। "रूपरासि सुखविलास"—उनका निर्भ्रान्ति निष्कर्ष है। "रूप का बिचाड़", "काम-कटक", "मुरझ्यौ मदन जगायौं"[5] आदि उल्लेख सौन्दर्य की कामोद्दीपकता की

1. सूरसागर, 2465 आदि।
2. वही, 2927, 2469 आदि।
3. वही।
4. वही, 2505।
5. वही, 2507

विज्ञप्ति करते हैं। राधा का रूप नख से शिख तक "कुसुम-विसिष की सेना" है। "रस-राशि" तो उसकी सौन्दर्य-सम्पदा की विशिष्ट विभूति है। रति-संग्राम में उसके रोमों से बरसने वाली माधुरी "कीच" मचा देती है—"सहज माधुरी रोमनि वर्षति, रति-रन कीच मची।"[1] नारी-सौन्दर्य की सफलता उसकी उपभोग्यता में है, यह सूर की मान्यता है। "विराजति राधा रूप-निधान" से आरंभ कर, भक्त-कवि प्रभु से यही सिफारिश करता है—"सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि, बिलसहु स्याम सुजान।"[2]

किन्तु, यह यौवनसुलभ सौन्दर्य, विलास को निमंत्रण देता हुआ भी, थकाने-श्रमित करने वाला नहीं है। वह, अपितु, मानसिक उल्लास का सहयोगी है। राधा की आपाततः रति-श्रमित शोभा में भी मानसिक उल्लास की किरणें अवलोक्य हैं। रास के संदर्भ में जो सौन्दर्य चित्रित हुआ है, वह स्पष्टतया मलिनता अथवा मानसिक क्षीण-क्षमता का "चैलेंजर" है, उसे चुनौती देने वाला है।

सूर की सौन्दर्यानुभूति में सहजता के साथ शृंगार का भी समन्वय है। अंग-प्रत्यंग के लिए आभूषणों की चर्चा करना वे कभी नहीं भूलते। राधा की वेशभूषा-सजावट का उल्लेख प्रायः हुआ है। रास-प्रसंग में, मुरली-ध्वनि सुनकर जब गोपांगनाएँ संभ्रमपूर्वक वन में जाने के लिए तैयार हो गयी हैं, तब भी उन्होंने आभूषण पहनना विस्मरण नहीं किया है। सहज रूप-सुषमा को आभरणों से समृद्ध बनाना "लीला-रस" के सम्यक् आस्वादन में अपेक्षणीय बन गया है। सुतराम्, आभूषण सूर के लिए न "दर्पण के मोरचे" हैं, न ही "पायन्दाज" जिस पर बिहारी,की रूपशालिनी नायिकाओं के सौन्दर्य की शुभ्रता-रक्षा के लिए प्रेक्षक के नयनों की धूल पोंछी जाती है।[3]

अंत में, यह कह देना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है कि सूर की सौन्दर्यानुभूति भक्त की सौन्दर्यानुभूति है, और जिस "लीला-रस" का उन्होंने वर्णन किया है, उसमें सौन्दर्य निरंतर उल्लसित, निरंतर नव्य-नवल, निरंतर विलासोन्मुख तथा निरंतर समृद्धिमान् है। अतएव, उसमें कामोद्दीपकता होते हुए भी, सामान्य लौकिक जनों की कामुकता नहीं है। सौन्दर्य के कामुक चित्रों की यह विशेषता होती है कि कवि उनका अंकन करते हुए भी, उस अंकन का रसास्वाद लेते हुए भी, अपने व्यक्तित्व को उनसे पृथक् रखता है। प्रसिद्ध आंग्ल सौन्दर्यशास्त्री एडवर्ड बुलो ने कलागत सौन्दर्य के आस्वादन के लिए जिस "मानसिक दूरी" (साइकिकल डिस्टेंस) का सिद्धान्त-निरूपण किया है,[4] वह रचना के क्षणों में कवि अथवा कलाकार पर भी घटित होता है। लेकिन,

---

1. 'सूरसागर', 3066
2. वही, 3064
3. "पहिरि न भूषन कनक के, कहि आवत इहि हेत।
   दरपन के से मोरचे, देह दिखाई देत॥

   मानहुँ विधि तन-अच्छ-छबि, स्वच्छ राखिबैं काज।
   दृग-पग-पोंछन कौं करैं, भूषन पायंदाज॥" —बिहारी
4. लेखक-कृत 'काव्य-चिन्ता' (चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी) में सन्निविष्ट "पाश्चात्य सौन्दर्य-चिन्तन" शीर्षक परिच्छेद द्रष्टव्य।

भक्त-प्रवर सूर अपने व्यक्तित्व को अपने "स्वामी-स्वामिनी" की सौन्दर्यानुप्रेरित रस-केलियों के साथ स्थायी तादात्म्य स्थापित कर चुके हैं। रति-प्रसंगों के उन्मुक्त चित्रण में[1] भी (जिसे सामान्य दृष्टि से अश्लील वा उत्तान कहा जा सकता है) सूर ने जो निश्छल, निर्व्याज आत्मविभोरता प्रदर्शित की है, उसका रहस्य यही पूर्ण तादात्म्य है। इन संभोग-चित्रों में परिलक्षित उल्लास तथा उत्फुल्लता इन्हें सामान्य शृंगार-चित्रणों से सर्वथा पृथक् कर देती है। सूर इनमें इतनी गहराई तथा इतनी सच्चाई के साथ "इन्वॉल्व्ड" हैं, उलझे हुए हैं कि उनकी सौन्दर्यानुरक्ति की जाति ही बदल गयी है।

(ग) रूप-चित्रण

कृष्ण– कृष्ण के बाल तथा किशोर रूप का वर्णन सूर का अभीष्ट रहा है। कृष्ण के आविर्भाव के साथ व्रज में "शोभा-सिन्धु" उमड़ने लगा है।[2] शिशु-कृष्ण की "छवि" की भावना से सूर सर्वात्मना अभिभूत हैं। भाल पर लटकने वाली लटों, काजल के "बिंदुका-तिलक", ललित लोचनों के काजल के स्पर्श से कपोलों की अधिक 'छबि', अल्प-दशनों की पंक्ति, "कलबल बोलनि", अधरों के बीच झलकने वाली "ज्योति" को देखकर यशोदा उस सुन्दरता-प्रवाह का पार नहीं लगा पाती हैं और स्वयं सूर की "मति" (बुद्धि) वैसे ही डूब जाती है जैसे समुद्र में बूँद—

"सुन्दरता कौ पार न पावति, रूप देखि महतारी।
सूर सिंधु की बूँद भई, मिलि मति-गति दृष्टि हमारी।" (709)

इस रूपचित्र में 'रमणीयता' है और सौन्दर्य "सिन्धु की बूँद" के कथन से सहसा लोकोत्तरत्व को ग्रहण कर 'उदात्त' बन गया है जहाँ बाह्येन्द्रियाँ पंगु हो गयी हैं और सहृदय—आस्तिक भावक उस अमित सौन्दर्य को पकड़ने के लिए मानसेन्द्रिय की शरण लेता है।

बालकोचित प्रत्येक स्थिति अथवा भंगिमा में सूर ने श्रीकृष्ण का रूप-सौन्दर्य चित्रित किया है। घुटनों के बल चलते हुए, आँगन में खेलते हुए, नाचते हुए, आदि सभी स्थितियों में कवि को अपार सौन्दर्य का साक्षात्कार हुआ है। "लाल", "ललित", "ललन" जैसे कतिपय शब्द बार-बार इन रूपचित्रों में आते हैं जिससे व्यंजित होता सूर का अभीप्सित सौन्दर्य "ललित" अथवा "लालित्य" को मौलिक तत्व स्वीकार करता है।[3] इसी "ललित" से छन कर 'रमणीयता' अथवा 'मनोहारिता' आती है जिसकी व्यंजना कवि लगभग प्रत्येक चित्र के अन्त में करता है, यथा—

"निरखति ब्रज-युवती सब ठाढ़ी, नंद-सुवन-छबि चंद-बदमियाँ।
सूरदास प्रभु निरखि मगन भए, प्रेम-बिबस कछु सुधि न अपनियाँ।।" (724)

---

1. 'सूरसागर', 3079, 3344 आदि।
2. 'सूरसागर', 647
3. 'सूरसागर', 709, 710, 711, 713, 723, 727 आदि।

यह 'मनोमग्नता', जिसकी परिणति 'प्रेम-विवशता' में होती है, 'रमणीयता' की ही प्रसूति है। नीला, पीला, लाल, सुनहला, "बिज्जुलता", चितकबरा, इन्द्रधनुषीय आदि रंग सूर की प्रियता-परिधि में समाविष्ट हैं।[1] नूपुरों की "रुनुक-झुनुक" के प्रति कवि विशेष आकृष्ट है।[2] बाल कृष्ण के कपोलों की स्निग्धता एवं कोमलता की कैसी सुकुमार भावना अंधे कवि की है, इसे एक पंक्ति में देखिये—"कुंडल लोल कपोलनि झलकत, मनु दरपन मैं झाँईं री।"[3] कपोलों को दर्पण के धर्म से संयुक्त कर देना बाल-सौन्दर्य की निष्कल सुकुमारता को ध्वनित करता है। नंद के आँगन में 'मणि' और 'कनक' का प्रयोग बाल-कवि को प्रतिबिम्बित रूप में देखने-दिखाने का मोहक अवसर कवि को प्रदान कर देता है।[4] कवि की बाल-सौन्दर्यानुभूति, जिसमें प्यार की मधुर ज्योति भी झाँकती है, "छगना-मगना", "लाल", "ललन" जैसे पदों के प्रयोग में अमित माधुरी से गर्भित हो गयी है। धूलि-धूसरता भी उसकी बाल-छवि-भावना को म्लान नहीं होने देती—"धूसरि धूरि दुहूँ तन मंडित, मातु जसोदर लेति उछँगना।"[5]

कृष्ण-रूप के कतिपय चित्रों को, जिनमें किशोर-रूपच्छवि भी सम्मिलित है, सरसरी निगाह से, स्थान-संकोचवश, समाकलित करना भी स्पृहणीय है। कृष्ण "सुन्दरता-मंदिर में रूप-रतन की ज्योति" हैं। अतिसी कुसुम, सजल नवल मेघ, नील गगन तथा मरकत मणि उनकी देह-द्युति का विभावन करा सकते हैं। पीतपट में आवृत उनका शरीर कनक-लताओं से वेष्टित तमालतरु से प्रतिस्पर्धा करता है। मुख नव-विकच सरोज है। उसने शशि का सम्पूर्ण सार निचोड़ लिया है जिससे चन्द्रमा की प्रभा धूमिल पड़ गयी है और अम्बर उस जूठे थाल की भाँति दिखाई पड़ता है जिसमें परि-वेशित मधुर व्यंजनादि संपूर्णतः भक्षित कर लिये गये हैं। अलकों की छवि का गान समग्र अलिकुल कर रहा है। खंजन, मीन तथा मृगशावक कृष्ण के चपल नयनों की रहस्यमय गति नहीं समझ पा रहे हैं। लोचनों पर लटकती वेणियाँ ऐसी प्रतीत हो रही हैं मानो सर्पिणी गगन से नीचे उतर रही है। गहरी नाभि सुधा की सरसी है जिसमें उतरने के लिए त्रिबली की सीढ़ी बनायी गयी है। रुचिर रोमावली अलि-श्रेणी, यमुना की क्षीण धारा, नवघन के ऊपर उठने वाली धूम की सूक्ष्म रेखा की छवियाँ धारण कर रही है। यद्यपि सूर ने इन चित्रों में परम्परा-प्रथित उपमानों का प्रयोग किया है, तथापि उनके सौन्दर्य-बिम्बों में नीरसता अथवा बासीपन नहीं आने पाया है। कारण यह है कि उनके आन्तर नयनों के सम्मुख उनके "प्रभु", "नटवर" का वेश सर्वदा नव्य-नवल छवियों से मुक्त रहता है। कृष्ण का रूप "काम-तड़ाग" है और उनके अंग-प्रत्यंग में छवि का निवास है जिससे वह समग्र सौन्दर्य एक "महाप्रकाश" के रूप में ब्रजनारियों को आकर्षित करता है। यह प्रकाश "मदन-मूरति" कृष्ण के रूप का भास्वर 'लावण्य' है जो गोपियों के लिए रहस्य की वस्तु बन गया है, जिसे उनके नेत्र पकड़ नहीं पाते, जिसे स्वायत्त करने के लिए वे लाख-लाख नेत्र चाहती हैं, रोम-रोम में नेत्र चाहती हैं—

"रोम-रोम लोचन इकटक करि, जुबतिनि प्रति काहैं न ठियौ री।" (2446)

---

1. 'सूरसागर', 726, 722, 728, 734, 735 आदि।
2. वही, 724, 732, 741 आदि।
3. वही, 755
4. वही, 728, 726, 716 आदि।
5. वही, 731

राधा—सूर के स्वामी नटवर-नागर की प्रधान वल्लभा राधा है। उसके अंगों की रचना में विश्व के सौन्दर्य-कोष का अशेष उपयोग हुआ है जिस कारण चौदहों लोक नीरस प्रतीत हो रहे हैं। "रूप-उदधि" का मंथन कर, बड़ी सावधानी के साथ विधाता ने "मोहन की प्यारी" इस "मोहिनी" की रचना की है। राधा "सहज रूप की राशि" है। अंग-अंग में कामदेव ने "रूप का बिचाड़" उत्पन्न कर दिया है। वह कृष्ण की "केलि-सरोवरी" है जिसका शैशव-जल यौवन-सूर्य द्वारा शोषित कर लिया गया है। नितंबों पर झूलने वाली वेणी ऐसी प्रतीत होती है मानो स्वर्ण-खंभ पर सर्प लिपटा हो। राधा के उरोज क्या हैं, मानो कनकलता से उत्पन्न दो गिरिवर हों; मानो चक्रवाक के युग्म हों जो रात्रि में एक-दूसरे के निकट न आ सके हों; मानो अमृत-रस से पूर्ण दो कनक-कलश हों; मानो गिरि-श्रृंग पर विकसित दो परागयुक्त कमल हों; मानो निर्धूम अग्नि पर बैठ कर तपस्या करने वाले शंकर हों। एक पद में सूर ने राधा के रूप में "काम-कटक" का पूरा कौतुक सजा दिया है।[1]

जैसा हमने ऊपर कहा है, सूर की सौन्दर्यानुभूति रमणीयता के लोकोत्तर चमत्कार का आवाहन करती हुई, विस्मय के वातावरणों की रचना करती है। ब्रज-नारियों ने कृष्ण-रूप की सही पकड़-पहचान के लिए जो विवशतापूर्ण उद्‌गार व्यक्त किये हैं, वे कृष्ण के रूप-सौन्दर्य के लोकातिशायित्व की व्यंजना करते हैं और इसी कारण, वह 'उदात्त' बन गया है; यह स्मरणीय है कि यह 'उदात्त' "रूप-माधुरी" का 'उदात्त' है जिसमें 'ललित' अभिनव 'रमणीयक' में बदल गया है। राधा के रूप-वर्णन में "काम-केलि-कमनीय कामिनी" का स्वरूप ही अधिक उत्कीर्ण हुआ है। "प्रीति की रीति" प्राणों को चंचल कर देती है। राधा के "चुम्बकीय" नयनों ने ही "काम-शिरोमणि" श्रीकृष्ण को उसके मान करने पर उद्विग्न कर दिया था।[2] मानवती राधा जब प्रियतम से मिलने के लिए नवल निकुंज को प्रस्थान कर रही है, तब सूर ने उसका जो चित्र अंकित किया है, वह 'रमणीय', को अतिक्रान्त करता हुआ, "भव्य" की कक्षा में पहुँच जाता है। **यथा—**

"मनौ गिरवर तैं आवति गंगा।
राजति अनि रमनीक राधिका, इहिं विधि, अधिक अनूपम अंगा॥
गौर-गात-दुति बिमल बारि बिधि, कटि तट त्रिबली तरल तरंगा।
रोम-राजि मनु जमुन मिली अध, भँवर परत मानौ भ्रुव भंगा॥

× × ×

मनिगन भूषन रुचिर तीर बर, मध्य धार मोतिनि-मय मंगा।
सूरदास मनु चली सुरसरी, श्रीगुपाल-सागर सुख संगा॥" (3072)

---

1. सौन्दर्य-वर्णन के पूर्ण रसास्वाद के लिए लेखक-कृत 'सूर का श्रृंगार-वर्णन' ग्रंथ अवलोकनीय है।

2. 'सूरसागर', 3071, 3075

'पर्वत से उतरती गंगा' के प्रस्तुत सावयव रूपक में दिवाभिसारिणी राधा का पूर्ण बिम्ब छलक पड़ा है। प्रणाली वही पारस्परिक नख-शिख की है, किन्तु बिम्ब की विस्मयकारिणी 'भव्यता' से इन्कार नहीं किया जा सकता। स्मरणीय है, यह भव्यता "ह्लादिनी-शक्ति", माधुर्य-मूर्ति राधा के रमणीक सौन्दर्य की भव्यता है जिसकी चरितार्थ्यता "श्रीगोपाल-सागर" में सुखपूर्वक मिलित हो जाने में है।

रास-प्रकरण में जो सौन्दर्य-चित्र उपनिबद्ध हुए हैं, उनमें माधुर्य का प्रवाह नाना नालियों में फूट पड़ा है। "आजु निसि रास रंग हरि कीन्हौं", "आजु हरि ऐसौ रास रचायौ", "आजु हरि अदभुत रास उपायौ"[1] जैसे पदों में जो गतिमान् सौन्दर्य बन्दी बनाया गया है, वह 'भव्य' को भी अतिशायित कर 'उदात्त' बन गया है। इन चित्रों से हमारे सम्मुख सौन्दर्य का एक ऐसा पटल खुलता है जिसकी भावना में हम विस्मयविभोर बन जाते हैं।

———

1. 'सूरसागर', 1760, 1757, 1758

अध्याय 6

सूर की रस-माधुरी

(1) कृष्ण का मधुर स्वरूप

वल्लभाचार्य ने अपनी छोटी-सी रचना 'मधुराष्टक' में श्रीकृष्ण को आमूलचूल, भीतर-बाहर, "मधुर" बताया है। साथ ही उनकी लीला से संबद्ध सभी वस्तुओं तथा गोपियों-गौओं को भी "मधुर" कहकर सारांश रूप में कृष्ण को "मधुराधिपति" बताया है।[1] इस प्रकार "कृष्ण-सखा" सूरदास ने जिस "कृष्ण-रस" का गान किया है, वह सर्व-प्रकारेण मधुर है। 'सूरसागर' में उनकी रस-साधना मूलतः मधुर है। इस रस-माधुरी के दो प्रत्यक्ष स्वरूप हैं—वात्सल्य-रति की माधुरी और माधुर्य-रति की माधुरी। इन्हीं दोनों 'रतियों' के अंतर्गत सूर की रस-माधुरी का आकलन हमारा वर्तमान अभीष्ट है।

(2) वात्सल्य-रति

वात्सल्य-वर्णन में सूरदास का भारतीय ही नहीं, विश्व-साहित्य में भी अतुलनीय स्थान है। पुष्टिमार्ग में बाल-भाव की उपासना विशेष महत्व की आस्पद है। 'सूरसागर'

---

1. "अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरम्।
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥
वचनं मधुरं चरितं मधुरं वसनं मधुरं वलितं मधुरम्॥
चलितं मधुरं भ्रामितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥
वेणुर्मधुरौ रेणुर्मधुरः पाणिर्मधुरः पादौ मधुरौ।
नृत्यं मधुरं सख्यं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥
गीतं मधुरं पीतं मधुरं भुक्तं मधुरं सुप्तं मधुरम्।
रूपं मधुरं तिलकं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥
करणं मधुरं तरणं मधुरं हरणं मधुरं रमणं मधरम्।
वसितं मधुरं शमितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधरम्॥
गुञ्जा मधुरा माला मधुरा यमुना मधुरा वीची मधुरा।
सलिलं मधुरं कमलं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥
गोपी मधुरा लीला मधुरा युक्तं मधुरं मुक्तं मधुरम्।
दृष्टं मधुरं शिष्टं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥
गोपी मधुरा गावो मधुरा यष्टिर्मधुरा सृष्टिर्मधुरा।
दलितं मधुरं फलितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥"

—'मधुराष्टक' (वल्लभाचार्य)

में श्रीकृष्ण की बाल-लीला के व्याज से वत्सल-रस का अत्यन्त मंद्र-मधुर प्रवाह प्रवाहित हुआ है।

सूर के वात्सल्य की एक अनुपम विशेषता यह है कि इसके आश्रयालम्बन का एक त्रिकोण स्थापित हो गया है जिसकी तीन भुजाएँ हैं—नन्द-यशोदा, व्रजनारियाँ और स्वयं सूरदास।

"ब्रज भयौ महर कें पूत"—यह संवाद जैसे ही गोकुल में फैल जाता है, वैसे ही ब्रज का सम्पूर्ण संसार आनन्द में निमग्न हो जाता है। कृष्ण का आविर्भाव केवल नन्द-यशोदा के लिए ही अकेला सौभाग्य नहीं है, अपितु उसमें सम्पूर्ण ब्रजसमुदाय उलझ गया है। 'इन्वॉल्व्ड' हो गया है। नन्द के घर में पुत्र उत्पन्न हुआ है, संवाद से समग्र घोष में कोलाहल मच जाता है, उनके आनन्द का सैलाब उनके हृदय में समा नहीं रहा है। घोष के बड़े-बूढ़े यह आदेश प्रचारित कर देते हैं: "आज वन में गाय-बछड़े लेकर कोई नहीं जायेगा, महर के बालक हुआ है; देर क्यों कर रही हो? शीघ्र दौड़ जाओ और नयनों से नवजात शिशु को देख आओ।" बालक, वृद्ध, तरुण, सभी नर-नारियों में चौगुना उल्लास उत्पन्न हो गया है; धनी-गरीब का भेद मिट गया है और सभी प्रेममग्न हो गये हैं—"सूरदास सब प्रेम मगन भए, गनत न राजा राइ।"[1]

ब्रजनारियों के उत्सुकतापूर्ण उल्लास का चित्रण करने में कवि आत्मविभोर हो गया है। नारियाँ नूतन चीर पहनती हैं, नयनों में काजल लगाती हैं, वक्ष में कंचुकी कसती हैं, ललाट पर तिलक देती हैं, हृदय में हार धारण करती हैं, सुँदर कानों में तरौने पहनती हैं, शिथिल वेणी बाँध लेती हैं, सिर पर सुमनों की वर्षा करती हैं, मुख को 'रोरी-रंग' से मंडित करती हैं, माँग में सिन्दूर पारती हैं, कंचन की थालियों में "मंगल-साज" सजाती हैं और—

"तें अपनैं-अपनैं मेल निकलीं भाँति भली।
मनु लालमुनैयनि पाँति पिंजरा तोरि चली॥"[2]

'नारियाँ अपने-अपने मेल का यूथ बनाकर घरों से निकल पड़ीं, मानो लाल-मुनियों की पंक्ति पिंजड़ा तोड़ कर चल पड़ी हो।' यह है भक्त-कवि का लोक-दर्शन, उसकी लोकदृष्टि। उसके आराध्य मानव बनें अपनी लीला का विस्तार करने के निमित्त, और वे समाज से कटे रहें—यह उसे मान्य नहीं। लीलाओं की आरंभ से ही सामूहिक पृष्ठभूमि तैयार करने के हेतु, वह आगे ब्रजवासियों का उल्लास यों वर्णित करता है। ब्रज की गलियों में "गोरस-कीच" मच गयी है,[3] घृत-दूध की नदी बह चली है, मानो भादौं मास बरस रहा हो,[4] कृष्ण-जन्म "प्रेमसागर" बन गया है जिसमें ब्रज के लोग क्रीड़ा कर रहे हैं—"कृष्ण-जनम सु प्रेम-सागर, क्रीड़ैं सब ब्रज लोग।"[5]

---

1. सूरसागर, 638
2. वही, 642
3. वही, 639
4. वही, 642
5. वही, 644

यही 'प्रेम' और यही 'क्रीड़ा' सूरसागर के 'लीला-रस' का व्यवच्छेदक धर्म बनने जा रहे हैं और यह 'लीला-रस' समूह में प्रवाहित होगा जिस कारण उसमें लोकरस तथा दिव्यरस अथवा शास्त्ररस की धाराएँ युगपत् बहती रहेंगी।

समष्टि की भावना सूरदास में दृढ़ीभूत है क्योंकि लोकरस की गाढ़ता तभी उत्पन्न होगी। चाहे अन्नप्रासन हो, चाहे कर्णछेदन हो, वह उत्सव एक सीमित परिवार का प्रयोजन नहीं है, प्रत्युत सम्पूर्ण व्रजसमुदाय का उत्सव है जिसमें नर-नारियाँ सभी उलझ गये हैं—

"आजु कान्ह करिहैं अनप्रासन।
मनि कंचन के थार भराए, भाँति-भाँति के बासन।।
नंद-घरनि ब्रज-बधू बुलाईं, जे सब अपनी पाँति।
कोउ ज्यौनार करति, कोउ घृत-पक, षटरस के बहु भाँति।।

× × ×

महर गोप सबहीं मिलि बैठे, पनवारे परसाए।
भोजन करत अधिक रुचि उपजी, जो जाकें मन भाए।।
इहिं विधि सुख बिलसत ब्रजबासी, धनि गोकुल नर-नारी।
नंद-सुवन की या छबि ऊपर, सूरदास बलिहारी।।" (707)

अवधातव्य है कि कवि की चेतना दरिद्री चेतना नहीं है, कारण कि उसके आराध्य "सनातन ब्रह्म", निर्धन-निष्कंचन नहीं हो सकते। शिशु कृष्ण के झूलने में प्रयुक्त कंचन, हीरा, लाल, प्रवाल, नवरत्न आदि भगवान् के ऐश्वर्य के सर्वथा अनुकूल हैं।[1] 'सूरसागर' का लोकरस दरिद्रों का रस नहीं है। उपर्युक्त पद में वात्सल्य का स्वरूप सामूहिक बन गया है। भोजन करने वाले शिशु की "छबि" भी निराली है जिस पर सूरदास न्यौछावर हो रहे हैं। 'पार्थिव रस' 'चिन्मय रस' से मिश्रित हो गया है जो सूर-सागरीय समस्त लीलारस को विशेषित करता है।

एक पखवारे की वय प्राप्त कर, जब शिशु कृष्ण ने पलने में उलटिया मार ली है, तब तो घोषपुरी में अपार सुख छा गया है—

"यह सुख सुनि हरषीं ब्रजनारी। देखन कौं धाईं बनवारी।
कोउ जुवती आई, कोउ आवति। कोउ उठि चलति, सुनत सुख पावति।
घर-घर होति अनंद-बधाई। सूरदास प्रभु की बलि जाई।।" (688)

सूर की वत्सल-रति का आश्रय सम्पूर्ण बज-समाज है, विशेषतः नारी-समुदाय। नन्द के मणिमय आँगन में घुटनों के बल डोलने वाले शिशु की "छबि" निहार कर घोष-नारियाँ चकित हो जाती हैं,[2] रुनुक-झुनुक बजने वाले नूपुरों से दो-दो पग रखकर कृष्ण

---

1. 'सूरसागर', 702
2. वही, 419, 731

ने चलने में उन्हें "सुन्दरता की सरणी" दीख पड़ती है,[1] दूध की दँतुलियाँ देखकर वे "रूप-रतन की ज्योति" से विस्मित हो जाती हैं,[2] खेलते "कुँवर कन्हाई" के अंग-प्रत्यंग में छलकने वाले "शोभा-सिन्धु" को देखकर नववधू की मानसिक दशा वैसी हो जाती है, जैसे उस चोर की जो धन-धान्यपूर्ण घर में घुस जाता है और समझ नहीं पाता—कौन-सी वस्तु चुरायी जाय, कौन-सी नहीं। सूर कहते हैं—

"बरनौं कहा अंग-अंग सोभा, भरी भाव-जल-रास री।
लाल गोपाल बाल-छबि बरनत, कबि-कुल करिहैं हास री।
जो मेरी अँखियनि रसना होती, कहती रूप बनाइ री।
चिर जीवहु जसुदा को ढोटा, सूरदास बलि जाइ री।" (757)

इन पंक्तियों में, ब्रजवधू के साथ सूर के हृदय की आनंद-विह्वलता भी उच्छलित हो गयी है। माखन को दोनों हाथ से मुँह में डालने वाले बाल-कृष्ण को देखकर, ब्रजनारी के साथ सूर का हृदय भी "प्रभु" की शिशुता से उत्पन्न सुख-परिप्लाव में डूबने लगा है—

"सूरदास-प्रभु सिसुता कौ सुख, सकै न हृदय समाइ॥" (796)

नंद-यशोदा के वात्सल्य-रस की तो अनेकविध लहरियाँ नर्तनशील हैं। कृष्ण की बाल-लीलाओं के चित्र अनेकशः अंकित हुए हैं जिनमें बाल-मनोविज्ञान की मोहक विवृति हुई है। ऐसे चित्र नंद-यशोदा की वत्सल-रति के लिए उद्दीपन की भूमिका प्रस्तुत करते हैं "मैया, कबहिं बढ़ैगो चोटी', "डगनि डगमग पगनि डोलत, धूरि-धूसर अंग", "मैया, मोहि दाऊ बहुत खिझायौ", "त्यौं-त्यौं मोहन नाचै ज्यौं-ज्यौं रई धमरकौ होइ री", इत्यादि बाल-विनोद यशोदा के मातृ-हृदय में वत्सल-रति की कल्लोलिनी प्रवाहित कर देते हैं।[3] सूर की बाल-जगत् की जानकारी कितनी सूक्ष्म है, इसका एक सुन्दर चित्र यहाँ अवलोक्य है। नंद और कृष्ण एकसाथ जीम रहे हैं। कृष्ण "बाल-केलि' में कुछ खाते हैं, कुछ दोनों हाथों में लिपटा लेते हैं। इसी बीच वे बड़े की कौर मुँह में डालते हैं और उसे दाँत से काटते ही उसमें सनी मिर्च कट जाती है और तब तिताई से वे रोने लगते हैं—

"तीछन लगी, नैन भरि आए, रोवत बाहर दौरे।
फूँकति बदन रोहिनी ठाढ़ी, लिए लगाइ अँकोरे।
सूर स्याम कौं मधुर कौर दे, कीन्हें नात निहोरे॥" (842)

चित्र की यथार्थता कवि के अवेक्षण की सटीकता और रोहिणी के मातृ-हृदय की व्यावहारिक अभिव्यक्ति (मधुर कौर खिलाना)—इन सभी विन्दुओं का उपग्रंथन सूर के वात्सल्य-वर्णन को मोहक बना देता है।

---

1. 'सूरसागर', 741
2. वही, 754
3. वही, 802, 833, 812, 766 आदि।

मातृ-हृदय की चिन्ताओं, लालसाओं, आशंकाओं एवम् उत्फुल्लताओं के अनेक चित्र सूर ने अंकित किये हैं।[1] ऐसे प्रसंग वात्सल्य-रस के "अनुभाव" माने जायेंगे। "नंदरानी" यशोदा श्याम को आँगन में नचाती हैं और ताली बजा-बजा कर मधुर वाणी से गीत गाती हैं; उनके छबीले मुख पर बार-बार बलिहारी जाती हैं; कजरी गाय का दूध पीने के लिए बालक से अनुरोध करती हैं; उसे नहलाने के लिए तेल-उबटन से उसके अंगों को "चोटती-पोटती" हैं; सोने में हरि के "झझक" कर उठ जाने से किसी की आँख लगने की आशंका से 'राई-नमक' उतारती हैं; रात अधिक बीत जाने पर बालक को "सुखदायी" सेज का प्रलोभन देकर सो जाने के लिए फुसलाती हैं और खेलने के लिए बहुत दूर जाने से रोकने के लिए यों डरवाती हैं—

"आजु सुन्यौ मैं हाऊ आयो, तुम नहिं जानत नान्हा।
इक लरिका अबहीं भजि आयौ, रोवत देख्यौ ताहि।
कान तोरि वह लेत सबनि के, लरिका जानत जाहि।।
चलौ न बेगि, सबारैं जैये, भाजि आपने धाम।
सूर स्याम यह बात सुनत ही बोलि लिए बलराम।।" (838)

कितना परिचित, कितना मोहक, कितना सरल-स्वाभाविक यह चित्र है, मातृ-हृदय की चिन्ता-आशंका का।

सूर ने कृष्ण के अनुपम "बाल-चरित" के वर्णन में प्रचुर सहृदयता प्रदर्शित की है। बाल-कृष्ण की अनंग को थकाने वाली रूप-शोभा के वर्णन में सूर कभी स्वयं नहीं थकते।[2] बालक कृष्ण के ललित-ललाम रूपचित्रों की जो वीथिका सज गयी है, वह नितान्त आकर्षक एवम् चिर-नवीन है। नंद के मणिमय कनक-निर्मित आँगन तक ही यदि "सूर के प्रभु" की बाल-लीला सीमित रह गयी होती[3]; "घुटुरुवेनि रेंगने" से उनके अंग धूलि-धूसरित नहीं हो गये होते; उनके करों में माखन-रोटी नहीं विराजती होती; यदि वे मथानी की ध्वनि पर नाचने नहीं लग गये होते; केवल "कनक-कटोरी" में मिश्री मिला दूध पीकर ही रह गये होते;[4] यदि "हाऊ" से भयभीत[5] नहीं हुए होते; तो सूर का वात्सल्य-वर्णन कृत्रिम बन गया होता। वह वत्सल-रस इसी कारण हृदयग्राही बन गया है कि वह सर्वजन-सुलभ है, अलौकिक होते हुए भी लौकिक है। इस रस के भोक्ताओं का जो "त्रिकोण" निर्मित हो गया है, वह सम्पूर्ण "लीला-रस" को सामूहिक आयाम प्रदान करने में सहयोगी सिद्ध हुआ है। नंद की गोद में बैठकर जीमने वाले कृष्ण का "जूठन" माँगने वाला भक्त[6] कवि जब यशोदा-नंदन की रूपच्छवि में आत्मविभोर होने वाली ब्रजयुवती के 'रस' में डूब जाता है, तब उसकी वात्सल्य-रति हमें भी अभिभूत कर देती है—

---

1. 'सूरसागर', 752, 776, 792, 804, 818, 860
2. वही, 852
3. वही, 728, 731, 782
4. वही, 780
5. वही, 839
6. वही, 856

"कहौ कहाँ कछु कहत न आवै, औ रस लागत खारौ री।
इनहिं स्वाद जो लुब्ध सूर, सोइ जानत चाखनहारौ री॥" (753)

सूर के वत्सल-रस की तुलना में सचमुच अन्य रस खारे प्रतीत होते हैं।

यशोदा के मातृ-हृदय की वेदना का सूर ने अत्यधिक संवेदना के साथ चित्रण किया है। कृष्ण के काली-दह में कूद पड़ने का संवाद पाकर यशोदा अनिष्ट की आशंका से व्यथित होकर "पुत्र-पुत्र कहि कै उठि दौरी" और यमुना-तीर पहुँच कर "कुवँर कन्धाई" को पुकारने लगती है: "तुम कहाँ देर कर रहे हो? माखन-दूध तुम्हारे ही लिए रख आयी हूँ, जल्द आ जाओ।"[1] नन्द भी "त्राहि-त्राहि" करने लगे हैं।[2]

कृष्ण के मथुरा चले जाने पर वियोग वात्सल्य की धारा बड़ी सुकुमार बन गयी है। सूर ने मातृ-हृदय की वेदना का इस प्रसंग में मर्मस्पर्शी वर्णन किया है।[3] "नन्द ब्रज लीजै ठोंकि बजाइ" वाली यशोदा की प्रसिद्ध उक्ति में व्यंग्य मातृ-हृदय की झुँझलाहट का; आ० शुक्ल ने सूर के वात्सल्य-वर्णन की प्रशस्ति में, उल्लेख किया है। यशोदा की दशा तो इतनी कातर बन गयी है कि वह वसुदेव की 'दासी' बनकर भी कृष्ण का मुख देखने की लालसा व्यक्त कर रही है[4] और देवकी को यह संदेश भिजवा रही है: "जानती हूँ, कृष्ण यद्यपि तुम्हारे पुत्र हैं, तथापि मैं उनकी दाय बनकर ही रहना पसंद करूँगी; तुम मेरे ऊपर दया करती रहना।"[5] यशोदा के इस कथन से सहृदयों का हृदय दहल जाता है।

सूर-वर्णित वात्सल्य का एक अतीव कारुणिक सूक्ष्म आयाम यह है कि कृष्ण नंद-यशोदा की औरस संतान तो हैं नहीं—इसे दोनों जानते हैं, फिर भी अपने हृदय का सारा कोमल प्यार उन्होंने उन पर उड़ेल दिया है। ब्रजवासियों ने यह प्रतीति पाल रखी है कि कृष्ण मूलतः उन्हीं के हैं और यशोदा ने इस प्रतीति को उपलालित किया है। अब कृष्ण के मथुरा चले जाने पर इस प्रतीति के भग्न होने का संकट उत्पन्न हो गया है जो यशोदा के लिए भारी विपत्ति है। पथिक को दिये संदेश में यशोदा अपनी ममता का अनेकविध कथन करती है; गायों की दयनीय दशा का संदेश भिजवाती है और जब समझती है कि शायद वे सब अनुरोध प्रभावी नहीं होंगे, तब यह मर्मद्रावक निवेदन भिजवाती है: "तुम क्यों चले गये? क्यों अभी तक नहीं लौट आये? लोग नाना तर्क करेंगे, शायद कृष्ण इनका बेटा नहीं है। यह पर्दा पड़ा ही रह जाता, तो हम दोनों के लिए अच्छा होता"—

"परदा सूर बहुत दिन चलतौ, दुहुनि फबती लूटि।"

इस कथन की कारुणिकता और भी प्रखर बन गयी है जब यशोदा यह विश्वास व्यक्त करती हैं कि अंत में तो 'कन्हैया' गोकुल लौटेंगे ही—

"अंतहु कान्ह आइहैं गोकुल, जन्म-जन्म को ऊटि।"[6]

---

1. 'सूरसागर', 1164. 2. वही, 1162. 3. वही, 3785, 3787, 3788 आदि
4. वही, 3788
5. वही, 3793
6. वही, 3792

आप इन दोनों पंक्तियों की गहरी व्यंजना का आसानी से विश्लेषण नहीं कर सकते। यशोदा वास्तविक माँ नहीं है; किन्तु कृष्ण को माँ का प्यार दिया है, साधारण माँ से बढ़कर प्यार दिया है जिससे व्रजवासियों में सत्य पर पर्दा पड़ गया है। क्या वह पर्दा हट जायेगा ? क्या सत्य यशोदा के सम्पूर्ण ममत्वपूर्ण वात्सल्य को झुठला देगा ? विचित्र चुनौती है यशोदा के लिए। किन्तु जब वह विश्वास व्यक्त करती है कि "अंतहु कान्ह आइहैं गोकुल" तब उसका उपलालित-परिपोषित मातृत्व पुनः समस्त आशंकाओं के पर्दे को चीर कर चमक उठता है : जन्म देने का महत्व नहीं, जननी का प्यार देने का महत्व है।

वास्तव में, सूर का भक्त-हृदय वात्सल्य-रति के सभी कल्पनीय आयामों के साथ तदात्म बन गया है।

माधुर्य-रति

(क) मधुरस : शृंगाररस

गौड़ीय वैष्णव आचार्य रूपगोस्वामी ने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में भक्ति रस को प्रकृत रस स्वीकार किया है और अन्य रसों को उसी की विभिन्न विकृतियाँ स्वीकार किया है। अपने दूसरे ग्रथ 'उज्ज्वलनीलमणि' में उन्होंने भक्ति-रसों में "मधुर-भक्तिरस" अथवा "मधुररस" को सर्वश्रेष्ठ बताया है और उसे "भक्तिरसराज" की संज्ञा प्रदान की है। इस मधुररस का स्थायीभाव "मधुरारति" है जिसे हम अभी "माधुर्य-रति" कह रहे हैं। वस्तुतः सामान्य साहित्य का शृंगाररस ही भक्ति-साहित्य में "मधुररस" कहलाता है जिसे "उज्ज्वलरस" भी कहा गया है क्योंकि इसके आलंबन सामान्य नायक-नायिका नहीं, अपितु राधा-कृष्ण हैं जो अलौकिक हैं। अतएव, माधुर्य-रति अथवा "कान्ता-रति" का स्वरूप यहाँ चिन्मय बन जाता है। 'सूरसागर' में वात्सल्य-रति की अपेक्षा माधुर्य-रति का अधिक विलास तरंगायमान हुआ है।

माधुर्य-रति का विवेचन, सामान्य शृंगार की ही भाँति, 'संभोग' (संयोग) और 'विप्रलंभ' (वियोग) के दो रूपों में विवक्षित है।

भानुदत्त के अनुसार, दर्शन, स्पर्शन, संलाप आदि से अनुभूयमान सुख, अथवा परस्पर संयोग, अर्थात् दैहिक संबंध से उत्पद्यमान आनन्द 'संभोग' है। विश्वनाथ के अनुसार, जहाँ एक-दूसरे के रूप में अनुरक्त नायक-नायिका दर्शन, स्पर्शन आदि का सेवन करते हैं, वह 'संभोग' शृंगार कहलाता है। रीति-काव्य के आचार्य चिन्तामणि की परिभाषा अधिक सटीक है—

"जहाँ दम्पती प्रीति सों बिलसत बचन बिहार।
चिन्तामनि कवि कहत हैं तहँ संयोग सिंगार।।"

इस प्रकार, संभोग शृंगार के अगणेय भेद हो जाते हैं—दर्शन-वचन से रति के वास्तविक उपभोग तक। मम्मट ने इसी कारण कहा है, "परस्पर अवलोकन, आलिंगन, अधरपान, परिचुम्बन प्रभृति अनन्त भेदों का समावेश संभोग में हो जाता है।"[1]

---

1. "तमाद्यः परस्परावलोकनालिङ्गनाधरपानपरिचुम्बनाद्यनन्तत्वाद परिच्छेद्य एक एव गण्यते।" —काव्यप्रकाश

संभोग की उपर्युक्त अवस्थाओं का अभाव 'विप्रलंभ' है। भानुदत्त ने कहा है : "युवक-युवती की परस्पर-मुदित पंचेन्द्रियों के पारस्परिक संबंध का अभाव अथवा अभीष्ट (प्रेमास्पद) की अप्राप्ति विप्रलंभ है।" मम्मट ने इसके पाँच भेदों का परिगणन कराया है, यथा—अभिलाष-हेतुक, ईर्ष्या-हेतुक, विरह-हेतुक, प्रवास-हेतुक तथा शाप-हेतुक। "विरह-हेतुक" आचार्य की मोहक उद्भावना है : जहाँ नायक-नायिका पास रहते हुए भी, गुरुजनादि के संकोच अथवा भय से परस्पर मिल नहीं पाते, वहाँ "विरह-हेतुक" वियोग होता है। विश्वनाथ ने विप्रलंभ के चार भेद किये हैं—यथा, पूर्वराग (पूर्वानुराग), मान, प्रवास तथा करुण—जो अधिक प्रचलित हो गये हैं। 'अभिलाष-हेतुक' 'पूर्वानुराग' है, 'ईर्ष्या-हेतुक' 'मान' है। 'प्रवास' स्पष्ट है। नायक-नायिका में से एक के दिवंगत हो जाने पर घटित दुःख "करुण विप्रलंभ" कहलाता है, किन्तु विप्रलंभ तभी माना जायेगा जब मृत व्यक्ति के इसी जन्म में, इसी देह से, मिलने की आशा बनी रहे। पुनः-मिलन की आशा सर्वथा नष्ट हो जाने पर 'करुणरस' होगा, 'करुण विप्रलंभ' नहीं, क्योंकि वहाँ स्थायिभाव 'शोक' होगा, 'रति' नहीं। आचार्यों ने विप्रलंभ की एकादश कामदशाएँ निर्दिष्ट की हैं, यथा—अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मूर्च्छा तथा मृतिका मरण। इच्छा का नाम 'अभिलाषा' है। प्रिय-प्राप्ति के उपाय की खोज 'चिन्ता' है। जड़-चेतन का विवेक न रहना 'उन्माद' है। चित्त के बहकने से अटपटी बातें करना 'प्रलाप' है। दीर्घ श्वास, पांडुता, दुर्बलता आदि 'व्याधि' है। मन अथवा अंगों की चेष्टाशून्य हो जाना 'जड़ता' है। 'मूर्च्छा' तथा 'मरण' स्वतः स्पष्ट हैं। वास्तविक मरण का चित्रण निषिद्ध है, क्योंकि इससे शृङ्गार का आस्वाद खंडित हो जाता है। 'संभोग' तथा 'विप्रलंभ' के दो शीर्षकों के अन्तर्गत 'सूरसागर' में चित्रित 'माधुर्य-रति' का विवेचन हमारा प्रस्तुत अभीष्ट है।[1]

(ख) संभोगाश्रित माधुर्य-रति

संभोग के दर्शनादि जो प्रकार बताये गये हैं, उन सबके चित्र 'सूरसागर' में उपलब्ध हैं। चीरहरण, दानलीला आदि समस्त लीलाएँ संभोग के नाना पटलों की अभिव्यक्ति करती हैं। इन चित्रों की एक विशेषता यह लक्षित होती है कि संभोग तथा वियोग दोनों साथ-साथ घटित होते रहते हैं। एक ग्वालिनी यमुना-तट पर पानी भरने आती है और हरि को न देखकर बार-बार पछता रही है। इतने में उसकी विकलता देखकर हरि प्रकट हो जाते हैं और वह हर्षित होकर तन-ताप मिटा लेती है—"सूर स्याम अंकम भरि लीन्हीं, गोपी अंतरगत की जानी।" तब वह हरि-प्रेम में छक कर "रस-बेहाल" हो जाती है, भूमि पर सीधे पैर नहीं पड़ रहे हैं, घर का रास्ता भूल जाती है क्योंकि वह "प्रभु" के "रंग" में रंजित हो गयी है। वह कहती है; "श्याम-वर्ण" के एक किशोर ने उस पर "मोहिनी" लगा दी है; उसने अचानक मुझे अंक में बाँध लिया; मैंने उसकी तरफ और उसने मेरी तरफ आँखें चलायीं; तब से हृदय में धकधकी पैदा हो गयी है; मुख से वाणी नहीं निकल रही है। सूर कहते हैं कि मोहन को देखते ही वह समुद्र में जल बूँद की नाईं भूल गयी है—"जनु बारिधि जलबूँद हिरानी।"[2] यह वियोग की तड़पन है।

---

1. शृंगार रस के पूर्ण, विस्तृत विवेचन के लिए लेखक-कृत 'शृंगार और साहित्य' नामक पुस्तक द्रष्टव्य है।

2. 'सूरसागर', 2027, 2028, 2029, 2030

आलिंगन के बाद कृष्ण अन्यत्र चले गये हैं और अब वह तरुणी इस मानसिक परिणति का भोग कर रही है। इसमें 'अभिलाषा', 'चिन्ता', 'उन्माद' इत्यादि की काम-दशाएँ प्रतिफलित हुई हैं। इस चित्र के तुरंत बाद एक अन्य, "श्याम-रस में छकी" ग्वालिनी, पहली को घर भेज कर, पनघट पर आती है और कृष्ण के साथ वचन-विनोद में उलझ जाती है--

"कहा ठग्यौ, तुम्हरौ ठगि लीन्हौं ?
क्यौं नहिं ठग्यौ और कह ठगिहौ, औरहि के ठग चीन्हौं ।।

× × ×

ठग के लच्छन हमसौं सुनियैं, मृदु मुसकनि चित चोरत।
नैन सैन दै चलत सूर प्रभु, तन त्रिभंग करि मोरत ।।"[1]

संयोगाश्रित माधुर्य-रति का यह चित्रण वचन-विदग्धता में सना हुआ, नितान्त मोहक बना है। कृष्ण का "नैन-सैन" देकर, शरीर को तीन जगह से मोड़ते हुए चले जाना--संभोग-माधुरी का यह चित्र वह 'संस्कार' छोड़ जाता है जो वियोग की छटपटाहट से स्पंदित है। श्याम की "अचगरियाँ" संयोग श्रृंगार की मम्मट-कथित "अनन्तता" की विज्ञप्ति करती हैं।

'दानलीला' में संभोग की जो माधुरी अवतीर्ण हुई है, वह मूलतः दर्शन तथा वचन-वक्रिमा की माधुरी है। सूर के श्रृंगार का एक वैशिष्ट्य यह भी है कि राधा के साथ एकान्त में की गई रति-क्रीड़ा को छोड़कर, वह प्रायः 'सामूहिक' रहा है--सामूहिक इस अर्थ में कि एक से अधिक व्रजतरुणियाँ उसमें (इन्वॉल्व्ड) सहभागिनी रही हैं। पूर्वयोजनानुसार, दही बेचने जाने वाली बालाएँ वन में रोक ली जाती हैं और संयोग-माधुरी मुख्यतः वचन-वैदग्ध्य में ओतप्रोत होकर, भानुदत्त के शब्दों में, दर्शन, स्पर्शन, संलाप आदि संभोग-भेदों में प्रकाशित होती है। कृष्ण के द्वारा अपेक्षित 'दान' की गम्भीरता समझ कर गोपियाँ कहती हैं—

"ऐसौ दान माँगियै नाहिं, जौ हम पैं दियौ न जाइ।
जो रस चाहौ सो रस नाहीं, गोरस पियौ अघाइ ।।
औरनि सौं लै लीजै मोहन, तब हम देहिं बुलाइ।
सूर स्याम कत करत अचगरी, हम सौं कुँवर कन्हाइ ।।"[2]

तब कृष्ण अति स्पष्ट रूप से अपने वांछित दान की परिभाषा करते हैं—

"जोबन-दान लेउँगौ तुम सौं।
जाकैं बल तुम बदति न काहुहिं, कहा दुरावति हम सौं ।।

× × ×

---

1. 'सूरसागर', 2032
2. वही, 2080

कंचन-कलस महारस भारे, हमहूँ तनक चखावहु।
सूर सुनौ बिन दिये दान के, जान नहीं तुम पावहु ॥''[1]

उपर्युक्त संवाद-संलाप में माधुर्य-रति का प्रकाश निर्व्याज भाव से फूट पड़ा है। अनेक ऐसे चित्र 'दानलीला' प्रकरण में गुंफित हैं जिनमें वचन-विनिमय के आश्रय से संयोग का आस्वाद अनुभूयमान हुआ है। 'दानलीला' के अन्त में व्रजनारियों ने कृष्ण तथा उनके साथियों को जो दही-माखन का 'प्रीत-भोज' खिलाया है, वह संभोगाश्रित माधुर्य-रति का ऐसा विलक्षण प्रकाश है जो सामान्य साहित्य में उपलब्ध नहीं है। "मेरे दधि कौ हरि स्वाद न पायौ"—इस प्रकार पश्चात्ताप करने वाली युवती 'प्रेमिका' से बढ़कर कुछ अन्य शील से मंडित हो गयी है। यहाँ 'माधुर्य-रति' वात्सल्य-रति में विलीन होती हुई, अथवा उससे स्पर्धा करती हुई प्रतिभासित होने लगी है।

'रासलीला' सम्भोग-सुख की चरम शास्त्रीय परिणति है। किन्तु, यह सुख मूल में और बीच में, खंडित हो गया है। मूल में इस कारण कि श्रीकृष्ण व्रजनारियों को, "आरजपंथ" की निष्ठुर याद दिलाकर, वेदना-विह्वल बना देते हैं—

"चित दै सुनौ अंबुज-नैन।
कृपन कौ गथ भयौ तुमकौं, सरस अमृत बैन ॥
हम गुनी नव बाल अच्युत, तुम तरुन धन-रासि।
कैसेहूँ सुख-दान दीजै, बिरह-दारिद नासि ॥''[2]

इस कथन की मार्मिकता इसे 'संयोगाश्रित वियोग' अथवा 'वियोगाश्रित संयोग' की विलक्षण कक्षा में उपविष्ट कराती है। रास के मध्य घटित वियोग कृष्ण के अन्तर्धान हो जाने पर उत्पन्न हुआ है जिसकी चर्चा 'विप्रलंभ' के संदर्भ में की जायेगी।

रास की संभोगाश्रित माधुर्य-रति के नितान्त ललित, उललसित एवं रसार्द्र चित्र सूर ने अंकित किये हैं। ये चित्र दर्शन-स्पर्शन-मूलक संभोग के अनुपम दृष्टान्त हैं। हँस-हँस कर "बचन-रस" की "वर्षा", नयनों के संकेतों से हाव-भाव का प्रदर्शन, गान की मधुर लहरियों का उद्गिरण, अङ्गों का ललित केलिपूर्ण संचालन, अधर-रसपान, परिचुंबन, कंठाश्लेष, ताल-मृदंग-बाँसुरी का वादन, नाना राग-रागनियों का विलास, अपार नृत्य-भेदों का प्रदर्शन, दीर्घ परिरंभन, "रस-बस ह्वै लपटाइ रहे दोउ, सूर सखी बलि जाइ" प्रभृति संभोग की अगणित छवियों का चित्रण सूर के श्रृंगार-संसार को अतिशय मोहक बना देता है।[3]

राधा-कृष्ण विहार के संयोग-चित्रों के अंकन में सूर ने विशेष तन्मयता प्रदर्शित की है। पहली भेंट में ही इन दोनों ने जो रति-केलि सम्पादित की है, उसमें सम्प्रयोगाश्रित

---

1. 'सूरसागर', 2087
2. वही, 1648
3. वही, 1674, 1675, 1677, 1678, 1679, 1680, 1762, 1763 आदि।

माधुर्य-रति की नाना अभिव्यक्तियों का प्रकाश हुआ है। राधा की मानानन्तर रति-केलि का वर्णन करते समय तो सूर रसविह्वल हो गये हैं, यथा—

"रसना जुगल रसनिधि बोल।
कनक-बेलि तमाल अरुझी, सुभुज-बंध अखोल।।" आदि (2750)

भोज के शब्दों में, प्रस्तुत चित्र "संकीर्ण" संभोग का परिचायक है, यद्यपि उसकी "समृद्धता" में कवि को कोई सन्देह नहीं है।[1] सूर की निश्छल 'तन्मयासक्ति' ऐसे चित्रों को उज्ज्वल बना देती है।

"केलि-सरोवरी" राधा की माधुर्य-रति का एक नितान्त विस्मयकारक पटल निम्न पद में व्यंजित हुआ है—

"राधेहिं मिलेहुँ प्रतीति न आवति।
जदपि नाथ-बिधु-बदन बिलोकति दरसन कौ सुख पावति।।
भरि-भरि लोचन रूप-परम-निधि, उर मैं आनि दुरावति।
बिरह-बिकल-मति दृष्टि दुहूँ दिसि, सँचि सरधा ज्यौं धावति।।
चितवत चकित रहति उर-अंतर, नैन निमेष न लावति।
सपनौ आहि कि सत्य ईस यह, बुद्धि बितर्क बनावति।।
कबहुंक करति बिचार कौन हौं, को हरि कैं हिय भावति।
सूर प्रेम की बात अटपटी, मन तरंग उपजावति।।" (2741)

अनुराग की यहाँ वह कोमल अवस्था अभिव्यक्त हुई है जब प्रिय-मिलन का 'सत्य' "सपने की रजधानी" जैसा अवास्तव प्रतीत हो रहा है। "दर्शन"-संभोग का आस्वादन करती हुई भी, राधा की यह प्रतीति नहीं जम रही है कि वह प्रियतम से सम्प्रयुक्त है। उसकी यह दशा रूपगोस्वामी-कथित "प्रेमवैचित्र्य" भी नहीं है। प्रेम की इस "अटपटी बात" में प्रिय-मिलन की दुर्लभता की वह कातर प्रतीति झाँक रही है जो माता-पिता इत्यादि के उपालंभों से निरन्तर संत्रस्त राधा के लिए परम स्वाभाविक है। आचार्य वल्लभ के शब्दों में, यह प्रेम की वह दशा है जिसे "व्यसन" कहा जा सकता है।[2]

---

1. 'सरस्वतीकंठाभरण' में भोज ने वियोग की पूर्वराग, मान, प्रवास तथा करुण नामक चतुर्विध अवस्थाओं के परिप्रेक्ष्य में संभोग के चार प्रकार निर्देशित किये हैं जिन्हें 'पूर्वरागानन्तर', 'मानानन्तर', 'प्रवासानन्तर' तथा 'करुणानन्तर' कहा है। उन्हें ही उसने क्रमशः 'संक्षिप्त', 'संकीर्ण', 'सम्पूर्ण' तथा 'सम्यगृद्धिमान्' (वा 'समृद्ध') कहा है।

2. वल्लभाचार्य ने 'षोडशग्रन्थाः' में काम-भाव को लीलानंद का साधन निरूपित करते हुए, प्रेम की तीन अवस्थाएँ गयी हैं, यथा—'स्नेह', 'आसक्ति' और 'व्यसन'।

'हिंडोल' तथा 'फाग' लीलाओं का वर्णन समष्टि-शृंगार के संभोग-पक्ष का एकान्त आनन्दमय निदर्शक है, क्योंकि इन लीलाओं में किसी प्रकार का वियोग बाधक नहीं बना है। वर्षागम की वेला में तरुणियों ने कृष्ण से झूला झूलने का आग्रह किया है जिसे 'रसिक-राट्' ने सहर्ष स्वीकार कर लिया है। झूलन के चित्रों का आस्वाद अवर्णनीय है। सूर के संक्षिप्त चित्रण में एक ही साथ 'नारी-रूप के चपल सौन्दर्य की गतिमती छवियों को तूलिका के रंगों में बन्दी बनाया गया है; विभिन्न राग-रागनियों की स्वर-तरंगों को सुनने के लिए हमें आमंत्रित किया गया है—अंगिया, लहँगा, चूनरी और साड़ी के रंगों का मनोरम चित्रपट तैयार किया गया है; 'छवि की झँकोरों' का रमणीय व्यूह उत्पन्न किया गया है; मणिमय नूपुर, किंकिनी तथा कंकन के क्वणन से मोहक ध्वनियों की 'टेप रेकार्डिंग' की गयी है और हिंडोले की रचना में कंचन, हीरा, लाल मूँगा, मोती, नीलम, मरकत इत्यादि रत्नों का मनोरम विन्यास किया गया है। सबसे बड़ी बात यह है कि रूप, गति, वर्ण एवं ध्वनि के इस महोत्सव को प्रकृति के रूपों, गतियों, वर्णों एवं ध्वनियों के परिवेश में नियोजित किया गया है जो समग्र संदर्भ को एक विलक्षण संगीत एवं समरसता से ओतप्रोत कर देता है।"[1]

'फागलीला' 'सूरसागर' की सर्वाधिक उल्लासमयी, संभोगाश्रित माधुर्य-रति की अभिव्यक्ति है। कनक-रचित पिचकारियों के कुंकुम की कुल्याएँ व्रज की खोरियों तथा गलियों में भी प्रवाहित हो गयी हैं जिसमें निमज्जन करने के लिए व्रज का सम्पूर्ण घोष-समुदाय उमड़ पड़ा है—"उमह्यौ मानुष-घोष।" क्या वृन्दावन, क्या गोकुल का चौराहा, क्या यमुना का तीर, क्या व्रज की गलियाँ—सर्वत्र व्रजवामाओं का "अनुराग-सरोवर" फूटकर, कनक-कलशों के कुंकुम-रस के रूप में बहने लगा है—"जहँ बिधि उमगि चल्यौ रंग जहँ-तहँ मनु अनुराग-सरोवर फोरी।"[2]

उल्लेखनीय है कि व्रजनारियों की 'माधुर्य-रति' की ही यह विलक्षण संभोगाश्रित अभिव्यक्ति है जो अपनी उत्फुल्लता के प्रवाह में अन्य नर-नारियों को भी समेट लेती है। संभोग शृंगार का ऐसा चित्र साहित्य में अन्यत्र आसानी से उपलभ्य नहीं है।

(ग) विप्रलंभाश्रित माधुर्य-रति

(अ) सूरसागर में पूर्वराग

भोजराज का कथन है कि वियोग के बिना संभोग वैसे ही पुष्टि नहीं प्राप्त करता, जैसे कसैले वस्त्र पर ही रंग भलीभाँति नहीं चढ़ता है।[3] वास्तव में, 'सूरसागर' में निरूपित माधुर्य-रति का मर्मद्रावक स्वरूप विप्रलंभ के आश्रय में ही प्रस्फुट हुआ है। हमने वर्तमान प्रकरण के प्रारंभ में कहा है कि मम्मट का "अभिलाष-हेतुक" वियोग

---

1. 'सूर का शृंगार-वर्णन', पृ० 108 (खंड दो)

2. 'सूरसागर', 3526

3. "न हि विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते।
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयात् रागो विवर्धते॥"

विश्वनाथ का "पूर्वराग" ही है। किन्तु, 'सूरसागर' के माधुर्य-चित्रणों के प्रसंग में यह सामान्य धारणा खंडित हो जाती है। सौन्दर्यादि गुणों के श्रवण अथवा दर्शन से परस्पर अनुरक्त नायक-नायिका के समागम से पूर्व की पहली दशा "पूर्वराग" बतायी गयी है।[1] तब, 'सूरसागरीय' श्रृंगार-चित्रों में इस दृष्टि से 'पूर्वराग' की निश्चित पहचान प्रायः असंभव प्रतीत होती है। व्रजतरुणियाँ "रति-नायक" श्रीकृष्ण से प्रायः मिलती-बिछुड़ती रही हैं। 'समागम' के किसी न किसी रूप का उन्हें आस्वाद भी मिलता रहा है। फिर भी हरि के रूप-दर्शन की लालसा उन्हें सताती रही है। अतएव, 'पूर्वराग' की भ्रान्ति उत्पन्न करने वाले, नेत्रों की व्याकुली से संबंद्ध तलस्पर्शी पद, जिनकी संख्या बहुत बड़ी है, 'पूर्वराग-विप्रलंभ' के नहीं, अपितु मम्मट के 'अभिलाष-हेतुक विप्रलंभ' के व्यंजक समझे जायेंगे, क्योंकि वे व्रजनारियों की कृष्ण-रूप-दर्शन की अतृप्यमाण लालसा के व्यंजक हैं।

(आ) अभिलाष-हेतुक विप्रलंभ

व्रजनारियों के माधुर्योपभोग की पद्धति प्रायः निम्नवत् रही है—

"स्याम अचानक आए री।

पाछे तैं लोचन दोउ मूँदे, मोकौं हृदय लगाए री।।

× × ×

सूरदास प्रभु नैंननि लागे, भावत नहिं बिसराए री।।" (2215)

ऐसे ही अल्पकालिक संयोग के बाद अल्पकालिक वियोग की घड़ियाँ घटित होती रही हैं जिनमें व्रजनारियों की हरिरूप-दर्शन की लालसा तीव्र से तीव्रतर होती गयी है। इस जाति के अनेक 'अभिलाष-हेतुक" कोमल वियोग-चित्र सूरदास के प्रणय-लोक में माधुर्य की सृष्टि करते दृष्टिगोचर होते हैं। 'नैंननिसमय', 'आँख समय' तथा 'अनुराग समय' में ऐसे चित्रों की भरमार है।

(इ) गर्वहेतुक विप्रलंभ

रास के मध्य जो वियोग घटित हुआ है, इसे हमने अन्यत्र "गर्वहेतुक विप्रलंभ" कहा है क्योंकि अपने सौभाग्य-सुख की अतिशय प्रतीति से व्रजनारियों में जो गर्व की भावना उत्पन्न हो गयी, उसी कारण श्रीकृष्ण अन्तर्हित हो गये। इस अनाशंकित वियोग-जन्य वेदना का एक कोमल चित्र द्रष्टव्य है—

"कहि धौं री बन बेलि कहूँ, तैं देखे हैं नंदनंनन।
बूझहु धौं मालती कहूँ तैं, पाये हैं तन चंदन।।
कहि धौं कुन्द, कदम्ब, बकुल, बट, चंपक, ताल, तमाल।
कहि धौं कमल, कहाँ कमलापति, सुंदर नैन बिसाल।।
कहि धौं का कुमुदिनि, कदली, कछु बदरी कर बीर।
कहि तुलसी तुम सब जानति हौ, कहँ घनस्याम सरीर।।

---

1. "श्रवणाद्दर्शनाद्वापि मिथः संरूढरागयोः।
दशाविशेषो योऽप्राप्तो पूर्वरागः स उच्यते।।" —'साहित्यदर्पण'

कहि धौं मृगी मया करि हमसौं, कहि धौं मधुप मराल।
सूरदास प्रभु के तुम संगी, हैं कहँ परम कृपाल॥" (1709)

प्रस्तुत चित्र में जो वेदना छटपटा रही है, वह शास्त्रीय अभिधा में 'उन्माद' कही जायेगी। किन्तु, इसे मात्र 'उन्माद' समझना व्रजतरुणियों के प्रति अन्याय होगा। प्रियानुसंधान की जिज्ञासा वे वन-बेलियों आदि से इस कारण कर रही हैं कि श्यामसुंदर वन के इन लता-पादपों तथा पशु-पक्षियों के "संगी", सहचर रहे हैं, अतः संभव है, उन्हें उनका कुछ पता हो। इस प्रकार ये युवतियाँ सामान्य 'उन्माद' से ग्रस्त नहीं हैं, अपितु उन्हें विश्वास है कि ये वन्य लता-विटपादि उनके प्रियतम-संश्लेष में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। "कहि तुलसी, तुम जानति हौं, कहँ घनस्याम सरीर"— इस कथन में मुखरित वेदना सुहृदय भावक के मर्म पर सीधी चोट पहुँचाती है।

रास के मध्य कन्धे पर चढ़ने का आग्रह करने वाली राधा को दंडित करने के लिए कृष्ण जब उसे भी छोड़कर अन्तर्धान हो जाते हैं, तब उस कोमलप्राणा, अनुराग-विश्रब्धा तरुणी पर मानो विपत्ति का पहाड़ ही टूट पड़ता है और वह कातर भाव से विलाप करने लगती है—

"केहि मारग में जाउँ सखी री, मारग मोहि बिसर्यो।
ना जानौ कित ह्वै गए मोहन, जात न जानि पर्यौ॥
अपने पिय ढूँढ़त फिरौं, मोहि मिलिबै कौ चाव।
काँटो लाग्यौ प्रेम कौ, पिय वह पायौ दाव॥"

आदि (1729)

राधा के ऐसे कथन 'चिन्ता', 'अभिलाष', 'उद्वेग' आदि शास्त्रीय कामदशाओं की परिधि को अतिक्रांत कर जाते हैं और विशुद्ध "प्रेम का काँटा" चुभ जाने की हृदयस्पर्शी विवृति करते हैं।

(ई) मानहेतुक विप्रलंभ

'मानहेतुक' विप्रलम्भ में राधा के अनेक 'मानों' का चित्रण हुआ है। 'मान' प्रणय-रति की वह अवस्था है जिसमें प्रियतमा, किसी-न-किसी कारण से, प्रिय के संयोग को तिरस्कृत करने पर सन्नद्ध हो जाती है। अतएव, यह उसी के द्वारा साधार अथवा निराधार आमंत्रित वियोग है। राधा की मान-लीलाओं में, उसके कोप की दारुणता के साथ, उसकी विरह-वेदना का भी बड़ा प्रभावशाली चित्रण हुआ है। "बिहरति मान-सर सुकुमारि" वाला पद मानिनी राधा के कोमल प्राणों पर आसन्न संकट की गहरी व्यंजना करता है—"काम ग्राहक प्राण चाहक, तरति तहँ डर डारि।"

मान-चित्रों की एक विशेषता है राधा की मनावन में उसके रूप-सौन्दर्य का व्याजस्तुति के द्वारा वर्णन। इन चित्रों में राधा के रूप-सौन्दर्य की जो आरती उतारी गयी है, वह अतिशय मोहक बन गयी है। एक सखी मानवती राधा से यों निवेदन करती है—

"हे राधा ! तूने किस-किस की सम्पदा चुरा ली है ? वे सभी हरि के सामने आकर पुकार मचाये हुए हैं। चलो, अपनी आँखों से देखो।" सम्पत्ति-हरण के आरोप से जब राधा खीझती है, तब सखी उसकी चोरी का यों विश्लेषण करती है—"हे राधे ! हरि-रसिक ने तुझे बुलाया है। विधाता ने भिन्न-भिन्न स्रोतों से उपादान लेकर तुम्हारे रूप की रचना की है। जिन-जिन की शोभा, अतएव, तुमने चुरायी है, वे सभी आज हरि के सामने गुहार मचाये हैं। चन्द्रमा तुम्हारा मुख माँगता है; अलिगण तुम्हारी अलकें माँग रहे हैं; हरिण तुम्हारे नेत्र माँग रहे हैं; पिक तुम्हारे वचनों की माधुरी माँग रहे हैं; कमल, कीर, केहरि, कपोत, गज, कबक, कदली, विद्रुम, कुन्द तथा भुजंग—सभी साथ मिलकर, व्याकुल हो, प्रभु की शरण में आ पहुँचे हैं। व्रजनाथ ने खीझ कर इसी कारण मुझे भेजा है। शीघ्र चल कर इन आरोपों का उत्तर दे आओ।"[1]

मान-लीलाओं के चित्रों में कृष्ण का रूप अधिक विरह-विह्वल, तनिक दुर्बल चित्रित हुआ है। कोपाविष्ट राधा जब उनकी ओर चपल नयनों की कोर से निहारती है, तब वे मन्मथ-बाण से आहत होकर भूमि पर गिर पड़ते हैं—

"अति ब्याकुल धुकि धरनि परे, जिमि तरुन तमाल पवन कैं जोर।
कहुँ मुरली, कहुँ लकुट मनोहर, कहुँ पट, कहूँ चंद्रिका मोर॥
खन बूड़त, खन ही खन उछरत, बिरह-सिंधु कैं परे झकोर।
प्रेम-सलिल भीज्यौ पीरौ पट, फट्यौ निचोरत अंचल छोर॥"[2]

"क्वासि क्वासि, बृषभानु-नंदिनी" जैसे कातर कथन भी "रसिक-मणि" श्रीकृष्ण की काम-विह्वलता का उन्मीलन करते हैं। जैसा पहले कहा है, 'सूरसागर' में 'काम' प्रायः 'प्रेम' का पर्याय बन गया है।

(उ) प्रवास-हेतुक विप्रलंभ

'सूरसागर' के वियोग-रस की अन्तर्धारा **'प्रवास-हेतुक' विप्रलम्भ** के संदर्भ में अतीव प्रस्फुट, प्रस्फीत हो गयी है। आचार्यों ने प्रवास-विप्रलंभ के परिप्रेक्ष्य में, सामान्य विप्रलंभ के संदर्भ में परिगणित पूर्वोक्त कामदशाओं के अतिरिक्त, अंगों में असौष्ठव, सन्ताप, पाण्डुता, दुर्बलता, अरुचि, अधीरता, अस्थिरता, तन्मयता आदि कामदशाएँ भी बतायी हैं जो नायक-नायिका दोनों में होती हैं। नायिकाओं में विशेषतः अंगों-वस्त्रों का मालिन्य, सिर में एक वेणी, निःश्वास, उच्छ्वास, रोदन, भूमिपतन आदि दशाएँ निर्दिष्ट की गयी हैं। भीतर-बाहर प्रिय का ही दर्शन करना 'तन्मयता' है।[3]

फाग-लीला व्रजनारियों के सौभाग्य-सुख की चरम परिणति रही है और इस तात्कालिक पीठिका में उपपन्न कृष्ण का प्रवास स्वभावतः दारुण वेदना का जनक सिद्ध हुआ है। तरुणियाँ भ्रम-भग्नता ('डिसइल्यूजनमेण्ट') की शिकार बनी हैं। कुब्जा-प्रीति संवाद सुनकर, उन्हें कृष्ण की कापटिकता का प्रतिभास होता है और वे यह समझ कर,

1. 'सूरसागर', 3353
2. वही, 3357
3. **'साहित्यदर्पण'**, 3/204-206

"माधव" की मित्रता की कच्चाई तथा उनकी धोखा देने की इस नयी प्रवृत्ति के बोध से सहसा तिलमिला जाती हैं—"आई उधर कनक-कलई सी, दैनि जु गए दगाई।"[1] कुछ काल बीत जाने पर भी जब कृष्ण का कोई संदेश उन्हें नहीं मिलता, तब वे और भी व्यथित हो जाती हैं और कहती हैं, "श्याम दो कौड़ी का स्याही-कागज भी उनके लिए खर्च नहीं कर रहे हैं। व्रज और मथुरा की अत्यल्प दूरी की प्रतीति उन्हें अतिशय वेदना पहुँचाती है—"केतिक बीच, संदेसहु दुरलभ सुनियत टेरि पुकारे।"[2]

व्रजवल्लवियों की माधुर्य-रति को जो सहसा आघात लगा है, उससे वे अत्यन्त करुण दशा को प्राप्त हो गयी हैं। उनके मर्मस्पर्शी उद्गारों में स्थूल कामदशाओं के अतिरिक्त, अनेक सूक्ष्म व्यंजनाएँ गर्भित दीखती हैं। एक-दो चित्र नीचे उद्धृत हैं—

"कहँ लौं मानौं अपनी चूक।
बिनु गुपाल सखि री यह छतिया, ह्वै न गई द्वै टूक॥
तन मन धन घर बन अरु जोबन ज्यौं भुजंग कौ फूक।
हृदय जरत है दावानल ज्यौं, कठिन बिरह की ऊक॥
जाकी मनि सिर तैं हरि लीन्हीं, कहा कहूँ अहि मूक।
सूरदास ब्रजबास बसीं हम, मनौं सामुहैं सूक॥"[3]

इस पद में 'उद्वेग' नाम्नी कामदशा प्रतिफलित हुई है, किन्तु यह सामान्य 'उद्वेग' नहीं है। तरुणी को केवल घर तथा वन ही कष्ट नहीं पहुँचा रहे हैं, अपितु तन, मन एवम् यौवन भी उसे ऐसे कष्टदायी प्रतीत हो रहे हैं, जैसे सर्प की फूँक। शरीर तथा यौवन भी तरुणी को काटने लग जायँ—यह विरह की अतिशय दारुणता की व्यंजना करता है। 'गोपाल' के अभाव में उसकी छाती फट कर दो-टूक क्यों नहीं हो गयी, इसे वह अपनी गहरी 'चूक' समझती है, अर्थात् क्या उसके प्रेम में तो कहीं कोई कमी नहीं थी?

"मधुबन तुम क्यों रहत हरे" वाले प्रसिद्ध पद में, जड़ को चेतन समझने से 'उन्माद' की दशा चित्रित हुई है। किन्तु, पुनः यह 'उन्माद' सामान्य कोटि का नहीं है। इस उपालंभ के पीछे तरुणी की यह मनस्प्रतीति कार्यशील है कि मधुवनश्रीकृष्ण के प्रति कृतघ्न है, क्योंकि उसकी शाखाओं को पकड़-पकड़ कर वंशी बजाने से उन्होंने उसे अतिशय गौरव प्रदान किया था और वह उनके वियोग में अभी तक हरा-भरा खड़ा रह गया है। इसी प्रकार, "संदेसनि मधुबन कूप भरे" वाले पद में, 'चिन्ता' नाम्नी' कामदशा के प्रतिध्वनन के अतिरिक्त, तरुणी की खिन्नता, निराशा, झुँझलाहट, तनिक अमर्ष आदि अनेक भावों का गुंफन हो गया है। "कागद गरे मेघ, मसि खूटी, सर दव लागि जरे"—क्या मथुरा में मेघ से कागज गल गया, स्याही खत्म हो गयी अथवा दावाग्नि में (कलम वाला) सरकंडा जल गया? प्रस्तुत उद्गार की मार्मिकता, उसकी अन्तर्निहित व्यथा की प्रतीति सहृदयों को दहला देगी।

---

1. 'सूरसागर', 3804
2. वही, 3870, 3872
3. वही, 3838

सूर के विप्रलंभ-वर्णन में, जैसा अभी संकेत किया गया है, अनेक ऐसे चित्र उपलब्ध होते हैं जिन्हें शास्त्रीय कामदशाओं के भीतर आसानी से सिमटाया नहीं जा सकता। "किधौं घन गरजत नहिं उन देसनि" वाले सुपरिचित पद में, व्रजवनिताओं की विस्मय-भरी जिज्ञासाएँ—"क्या उस देश में बादल नहीं गरजते? क्या चातक, मोर, कोयल सभी वहाँ बधिकों द्वारा मार दिये गये? क्या उस देश में बालाएँ झूला नहीं झूलतीं?" आदि विरह-विह्वल हृदय की ऐसी कारुणिक हलचलें हैं जो शास्त्र की सीमा को लाँघ जाती हैं। पावस के रूपकों में भी, परम्परा की गंध के बावजूद, गोपियों के विरह-दुःख की व्यंजना स्पष्ट झलकती है। वस्तुतः सूर व्रजनारियों के वियोग-संताप से पूर्ण मानसिक समरसता स्थापित कर चुके हैं और गोकुल से कृष्ण के सहसा चले जाने पर, उन प्रणय-पुतलियों के लीलानन्द पर कैसे जवनिका-पात हो गया, इस अनुभूति से उनका हृदय शतधा विदीर्ण हो गया है—

"सूरदास प्रभु कबहिं मिलौगे, तजि गए गोकुल मिटि गयौ झगरा।"[1]

—सम्पूर्ण 'झगड़ा' ही मिट गया, इस कथन की कारुणिकता कितनी हृदयस्पर्शी है?

(ऊ) भ्रमरगीत

प्रवास-विप्रलंभ का महत्वपूर्ण घटक प्रसंग 'भ्रमरगीत' है। व्रजवनिताओं की 'मधुरा-रति', उद्धव के व्रज में पधार कर ज्ञान-योग का अनाकांक्षित उपदेश देने पर, कितने मर्मभेदी स्तरों को उन्मीलित करती है, सूर ने उसका बड़ी संवेदना और समझदारी से चित्रण किया है। उस प्रेम-प्रतारित अवस्था में, गोप-वधुएँ चुभते व्यंग्य-विनोद तथा नयनाम्बु से आर्द्र उपालंभों की उद्धव के सामने झड़ी लगा देती हैं।

ज्ञान-योग की दुस्साध्यता का निरूपण करते हुए, व्रजतरुणियों ने जो तर्क प्रस्तुत किये हैं, वे सहृदयों को दहला देने वाले हैं। कनफटी नारी क्या कभी ताटंक पहनेगी? अंधी कभी क्या काजल लगायेगी? कोढ़ी क्या कभी केसर का लेप लगायेगा? बहरी क्या कभी पति से बातें करेगी? क्या किसी रंक ने सपने की सम्पत्ति का उपभोग किया है? क्या किसी ने सोने की उड़ती चिड़िया को डोर से बाँधा है? क्या किसी ने नभ से तारे तोड़कर पृथ्वी पर रखा है?[2] आदि अनेक तर्क एवं दृष्टान्त देकर, उन विरहिणियों ने उद्धव का मुँह बन्द करने का मर्मस्पर्शी प्रयत्न किया। पीड़ा की गहराई में व्रजनारियों की प्रणयवृत्ति ने हास्यविनोद का जो ऊपरी कवच पहन लिया है, उद्धव की सीधे अथवा मधुप के व्याज से उन्होंने जो भर्त्सना की है, उस सबके बीच-बीच में वे कभी स्वस्थ चित्त से अपने अनुराग की दृढ़ता का जो कथन करने लगती हैं, उससे उनकी हृदयस्थ दारुण वेदना बिजली की कौंध के समान चमक जाती है। निम्न पद देखें—

"अँखियाँ हरि दरसन की भूखीं।
कैसैं रहति रूपरस-राँची, ये बतियाँ सुनि रूखीं॥
अवधि गनत, इकटक मग जोवत, तब इतनौ नहिं झूखीं।
अब यह जोग-सँदेसौ सुनि सुनि, अति अकुलानी दूखीं॥

---

1. 'सूरसागर', 3925
2. वही, 4168, 4171, 4282, 4345 आदि

बारक वह मुख आनि दिखावहु, दुहि पय पिवत पटूखी।
'सूर' सुकत हठि नाव चलावत, ये सरिता हैं सूखी ।। (4175)

शास्त्रीय कामदशाओं में 'अभिलाषा' और 'चिन्ता' प्रस्तुत कथन में स्पष्ट चित्रित हुई हैं। लेकिन, इसका स्वारस्य इन दशाओं के अंकन में नहीं है, न सूर ने सायास इनका ग्रंथन ही किया है। ब्रजवनिताओं की कृष्ण-विषयिणी रति का एकमात्र आधार तो रहा है उनका रमणीय रूप। गोपियाँ इसी कारण उद्धव से अनुरोध करती हैं—"एक बार तुम उनका वह मुख तो हमें दिखा दो जो मटुकी में दुध दुह कर उसे पीता था।"

तरुणियाँ कृष्ण की 'भ्रामरी वृत्ति' का उपहास करती हैं। हरि की प्रीति कलई के समान कच्ची है; जैसे सर्प केंचुल छोड़ देता है, जैसे भ्रमर मदित वल्लरी छोड़ देता है, वैसे कृष्ण ने उन्हें छोड़ दिया; जैसे दीपक के रूप-लोभ से पतंगा नष्ट हो जाता है, जैसे मछली मांस के स्वाद से बंसी के काँटे में बिंध जाती है, वैसे ही कृष्ण की कपट-प्रीति के जाल में फँस कर ये तरुणियाँ नष्ट हो रही हैं; आदि-इत्यादि।[1] उद्धव, मधुप तथा कृष्ण में वर्णसाम्य को देखकर उन्होंने मथुरा को "काजल की ओबरी" बता कर, कृष्ण को काले कुटिलों का शिरोमणि बताया है जिस पर विश्वास नहीं किया जा सकता।[2] लेकिन, इन भर्त्सनापूर्ण उपालंभों के बीच, विनोदपूर्ण टीका-टिप्पणी का आरोपित परिधान खिसक पड़ता है और कृष्ण के कपट-स्नेह की प्रतीति से वे फूट-फूट कर रो पड़ी हैं—

"डहकि दीन्हौं रोइ।"

इसी संदर्भ में गोपतरुणियों ने प्रेम की दुर्निवारता के अनेक तलस्पर्शी कथन किये हैं।

"उद्धव ! प्रेम मनमाने की बात है, बरियाई की प्रीति (ज्ञान-योग से) में कोई रस नहीं होता. जैसे मतवाले हाथी को कोमल कमल-तंतु से नहीं बाँधा जा सकता, वैसे ही प्रेम के प्रवाह को रोक पाना हमारे बूते के बाहर है।"[1] इन टिप्पणियों से तरुणियों ने अपनी कृष्ण-विषयिणी माधुर्य-रति की प्रगाढ़ता को विज्ञप्त किया है। वियोग में प्रेम कैसे "राशीभूत" हो जाता है, ये नारियाँ कृष्ण-प्रेम में कैसी दृढ़ता से बँध गयी हैं, इसकी रमणीय व्यंजना इनके इस निवेदन में हुई है—"उद्धव ! यदि मृत्यु के बाद कोई पुनः हमारे शरीर की रचना करे, तो भी नंदनंदन के अतिरिक्त अन्य उसमें नहीं समा सकता; यदि शरीर की त्वचा काट कर दुंदुभी बनायी जाय तो उससे निकलने वाले मधुर स्वरों में 'कृष्ण'-'कृष्ण' का क्वणन होगा! प्राण निकलने पर जिस मिट्टी में उनकी देह पड़ेगी, उसमें से उगने वाले पेड़ के पत्र, फल तथा शाखाएँ भी 'हरि' का नाम उच्चारित करेंगी।" व्रजवामाओं की यह प्रेमाभक्ति अनुपम, अद्वितीय है।

---

1. 'सूरसागर', 4219, 4217, 4332, 4418, 4450, 4471, 4652 आदि
2. वही, 4379, 4380, 4381
3. वही, 4638, 4523, 4534
4. वही, 4425

विवेच्य प्रकरण में ऐसे अनेक पद उपलब्ध हैं जिनमें व्यंग्य अथवा उपालंभ का भाव प्रमुख न होकर विशुद्ध विरह-निवेदन प्राप्त है। इनके अतिरिक्त, कतिपय पदों में गोपियों के कृष्ण के प्रति एकान्त आत्म-समर्पण तथा विरह की कातरता की व्यंजना हुई है। यथा—

"ऊधौ, कही सु फेरि न कहिऐ।
जौं तुम हमैं जिवायौ चाहत, अनबोले ह्वै रहिऐ॥

× × ×

कै हरि हमकौं आनि मिलावहु, कै लै चलियै साथै।
सूर स्याम बिनु प्रान तजति हैं, दोष तुम्हारैं माथै॥"[1]

कतिपय पंडितों ने यह प्रवाद फैला रखा है कि 'भ्रमरगीत' प्रकरण में राधा उद्धव के सम्मुख उपस्थित नहीं हुई। राधा जैसी विशिष्ट वल्लभा प्रिय के संदेशवाहक के सामने कभी नहीं आये, इसकी कल्पना ही उस कोमलप्राणा तरुणी के साथ अन्याय है। वास्तव में, 'सूरसागर' का समग्र विप्रलंभ-वर्णन राधा की वियोग-वेदना से मर्म-विदारक बन गया है।[2] उद्धव के व्रजागमन से पूर्व विरहिणी राधा की प्रियरूप-दर्शन की कातर 'अभिलाषा' का निम्न चित्र द्रष्टव्य है—

"कहिहैं न चरननि देन जावक, गुहन बेनी फूल।
कहिहैं न करन सिंगार कबहूँ, बसन जमुना-कूल॥
करिहैं न कबहूँ मान हम, हठिहैं न माँगत दान।
कहिहैं न मृदु मुरली बजावन, करन तुमसौं गान॥
देहु दरसन नंदनंदन, मिलन कौ जिय आस।
सूर हरि के रूप कारन, मरत लोचन प्यास॥" (3846)

विरहिणी राधा की मानो अपनी पहले वाली गलतियों की स्वीकृति-भरी इन 'प्रतिज्ञाओं' में कितनी वेदना मुखरित हुई है, इसकी अनुभूति से सहृदयों का हृदय विदीर्ण हो जाता है। यही राधा उद्धव से अपने वियोग-दुःख का यों निवेदन करती है—

"हरि बिछुरन की सूल न जाइ।
बलि बलि जाउँ मुखारबिन्द की, वह मूरति चित रही समाइ॥
वे दिन ऊधौ बिसरत नाहीं, अंबर हरी जमुन-तट जाइ।
सूरदास-स्वामी गुनसागर, सुमिरि सुमिरि राधे पछताइ॥" (4387)

प्रस्तुत पद में विप्रलंभ की 'स्मृति' तथा 'गुणकथन' नामक कामदशाएँ ध्वनित हैं।

---

1. 'सूरसागर', 4225, 4394

2. इस विषय के विशद विवेचन के लिए देखिए, लेखक-कृत 'सूर का शृंगार-वर्णन', पृ० 207-226 (द्वितीय खण्ड)

(ए) सामान्य टिप्पणियाँ

विप्रलंभ-वर्णन में व्रजनारियों की माधुर्य-रति की अत्यन्त तलस्पर्शी अभिव्यक्ति हुई है। अभिलाष-हेतुक वियोग-चित्रों की मार्मिकता इस कारण बढ़ गयी है कि व्रज-युवतियों का कृष्ण से, मथुरा-प्रस्थान के पूर्व तक, कभी पूर्ण विश्लेष तो होता नहीं, अपितु कृष्ण रह-रह कर उनकी आँखों से ओझल होकर उन्हें तड़पाते रहे हैं। "बालक को यदि मधुर मिठाइयों की थालियाँ दिखा दी जायँ, रह-रह कर दिखायी जाती रहें और कभी-कभी उनमें से कुछ उसे दे भी दी जायँ तो वह बालक निरंतर उन मिठाइयों के लिए ललचाता-तरसता रहेगा। कृष्ण की रूप-माधुरी मिठाइयों की सजी-सजायी थालियाँ हैं और गोपवनिताएँ विवेकहीन बालक हैं जिन्हें कभी कृष्ण की मुस्कान-मिठाई, कभी कटाक्ष-मिठाई, कभी हाव-मिठाई मिल जाती है और जो इसी कारण, उस रूप-माधुरी के सम्पूर्ण संचित कोष को स्वायत्त करने के लिए हहरती और तड़पती रहती हैं।" 'रास' एवं 'दान' के अन्तर्गत गोपियों को जो वियोग-वेदना सहनी पड़ी है, उसका परिणमन संयोग की भूमिका में घटित हुआ है—इस अन्तर के साथ कि एक में संयोग-सुख सहसा खंडित हो गया है और दूसरे में संयोग-सुख इतना निविड़ हो गया है कि उसकी समाप्ति पर गोपियाँ आत्मविभोर होकर कृष्ण के "महारस" में तन्मय हो गयी हैं। अतएव, एक में खंडित वियोग की दारुण वेदना है जो सहृदयों के मर्म को मोम के समान पिघला देती है, तो दूसरे में पूर्ण परितृप्ति से जन्य वह मानसिक उमड़न है जिसमें प्रेमिकाओं की वियोग-वेदना अत्यन्त कोमल होकर, उसी प्रकार लुकती-छिपती दिखाई पड़ रही है जिस प्रकार सावन के मेघ-विलास में चपला रह-रहकर अपनी चमक से हमें चकित करती रहती है। सूर की समर्थ कला ने जैसे वेदना की बाढ़, वैसे ही तन्मयता की वेदना, दोनों का अत्यन्त मर्मस्पर्शी उन्मीलन किया है।

"प्रवास-विप्रलंभ के वर्णन में विरह-विदग्ध प्राणों का रस नाना नलिकाओं में प्रवाहित होकर, सूर के सागर में इस प्रकार उमड़ पड़ा है कि भावुक को लगता है जैसे प्रेम ही जीवन की परिभाषा है, तड़पन ही प्रेम की आत्मा है और सहन एवं समर्पण ही उसका व्यावर्त्तक धर्म है।" जहाँ तक भ्रमरगीत का सम्बन्ध है, वह माधुर्य-रति की उस सुकुमार सरस्वती का विलास है जिसे न केवल "रसिक-मणि" प्रियतम का आकस्मिक विश्लेष सहना पड़ा है, अपितु जिसके ऊपर एक विरोधी आदर्श का प्रहार भी पड़ा है और जो समस्त निराशाओं के बीच, उस निर्मम आघात को विजित कर, अपनी आस्था का दीपक निरन्तर प्रज्वलित रखने में समर्थ सिद्ध हुआ है। इसी कारण, भ्रमरगीत का विप्रलंभ सामान्य कोटि का वियोग नहीं है। "यह गोपियों के नयन-नीर से आर्द्र है, उनके चिर-संचित मधुकोष के छिन जाने से कातर है, कुब्जा-जैसी परिचारिका के सौभाग्य से एकदम तिलमिला उठा है, परिस्थिति का सामना करने के लिए अपने दुर्बल प्राणों का पंख फड़फड़ा रहा है और मधुर स्मृतियाँ तथा मधुर अभिलाषाओं का टिमटिमाता दीप जलाते हुए, प्रेम की अविजेयता उद्घोषित करने के हेतु, समग्र आत्मिक साहस एवं मनोबल बटोरने का उपक्रम कर रहा है।"[1]

---

1. 'सूर का शृंगार-वर्णन' (लेखक-कृत), पृ० 227-28 (द्वितीय खंड)

अध्याय 7

सूर की प्रेम-भावना

(क)

'प्रेम' के व्यापक अर्थबोध के लिए सूर ने 'प्रेम' के साथ 'प्रीति' शब्द का प्रयोग किया है,[1] किन्तु साधारण व्यवहार में वे 'प्रीति' को उस प्रेम का समानार्थक मानते हैं जिसकी मूल प्रेरक वृत्ति नारी-पुरुष की पारस्परिक रति-भावना है।[2] 'नेह' शब्द का प्रयोग प्राय: प्रेम की उस अवस्था के द्योतनार्थ हुआ है जिसमें शारीरिक संसर्ग के लिए प्रेमी तड़पते रहते हैं। ''नयौ नेह, नयौ गेह, नयौ रस'' में 'नेह' तथा 'रस' लगभग समानार्थक हैं।[3] ''प्रीति की रीति'' और 'प्रेस-रस' भी रति-विलास का बोधक है।[4] 'अनुराग' सुख-विलास के संदर्भ में प्रेम की प्ररूढ़ावस्था के लिए प्रयुक्त हुआ है।[5] 'प्रेम' के समस्थानीयरूप में 'भाव' का भी प्रयोग सूर ने किया है।[6] तथापि, 'नेह' तथा 'रस' के प्रति उनका अधिक मोह लक्षित होता है और उसकी नवलता पर वे बारंबार जोर देते हैं।[7] 'प्रेम' शब्द का व्यवहार सीमित तथा व्यापक दोनों अर्थों में किया गया है।

(ख)

'प्रेम' को सूर ने एक हलकी वृत्ति के रूप में नहीं लिया है, अपितु संसार-चक्र के परिचालन का उसे प्रधान अवलंब निरूपित किया है—''बिरस रसिकहिं मंत्र कहिए, क्यों चलै संसार।''[8] ''अद्वैत-दर्शी रंग'' से मानव-सृष्टि का तात्विक कल्याण-साधन नहीं हो सकता, उसे जीवित रहने के लिए ''रसकथा'' अपेक्षित है। इसी सत्य की स्थापना के निमित्त ज्ञानी उद्धव प्रेम-नगरी में भेजे गये हैं। जीवन अतीव सुकुमार है। उसकी रक्षा के लिए बुद्धि, विवेक तथा युक्तियाँ उपादेय नहीं हैं, अपितु ''प्रेम की प्रतीति'' एवम् ''प्रेम-वृक्ष'' का सेवन आवश्यक है जिस पर चारों मुक्तियाँ-रूपी चार फल सदा फलते रहते हैं—

---

1. 'सूरसागर' (सभा), 2635, 2636
2. वही, 2098, 2183, 2134 आदि
3. वही, 1303
4. वही, 1309, 1304
5. वही, 1307
6. वही, 1624
7. वही, 1618, 1303, 1675, 1678 आदि
8. वही, 4031

"बुधि बिबेक बोहित चढ़ि स्रम करि, तौ सिव चेत परी।
जोवन अति सुकुमार अधीरज, जुगुति न जात तरी॥

× × ×

साधन किये लाल मनि मानिक, हीरा रतन अमोल।
प्रेम वृच्छ पर चारि सदा फर, निरभय अमित अडोल॥"[1]

व्रज के समस्त नर-नारी, गायें आदि प्रेम की मदिरा में छके हुए हैं यद्यपि आश्रय-भेद से प्रेम का प्रकाश भिन्न-भिन्न रूपों में हुआ है। श्रीकृष्ण के यावत् क्रिया-कलाप प्रेम के वशीभूत होने से ही परिणमित हैं। सूर कहते हैं—"सम्पूर्ण व्रज प्रेम की कठिन फाँसी में बँधा है[2]; व्रज में एक ही धर्म अब रह गया है, वह है 'प्रेम' : "स्रुति सुंमृति औ बेद पुराननि, सबै गोविन्द कह्यौ।"[3] व्रज से लौटने के बाद, उद्धव ने कृष्ण से स्वीकार किया है—"जानि लियौ थोरैं मैं थोरौ, प्रेम न रोकै बेद।"

मानवी व्यापार में प्रेमतत्व की यह दुर्निवारता सूर की महत्वपूर्ण देन है। संसार और परमार्थ को जोड़ने वाला यही प्रेम है—"प्रेम बँध्यो संसार, प्रेम परमारथ लहिये।"[4]

(ग)

लौकिक व्यवहार में सूर 'प्रेम' तथा 'काम' में कोई अन्तर करते प्रतीत नहीं होते हैं, यथा—

(i) "प्रेम उमंगि तेरै मुख प्रगट्यौ, अरस परस अनराधा।"[5]
(ii) "दहियत मदन मदन-नायक हैं, पीर प्रीति की न्यारी॥"
"कामी होइ काम-आतुर तिहिं, कैसैं कै समुझैयै॥
जे जे प्रेम छके मैं देखे, तिनहिं न चातुरताई।[6]

कृष्ण के लिए "कामी कान्ह" का प्रयोग सूर ने किया है—"कामी कान्ह कुँवर के ऊपर सरबस दीजै वारि।"[7] यहाँ 'कामी' शब्द का प्रयोग संस्कृत कवियों की शैली में 'प्रेमी' अर्थ में हुआ है : "कामी स्वतां पश्यति" (मेघदूत)। कदाचित् भ्रमरगीत वाले

1. 'सूरसागर', 4228
2. वही, 4708, 4757
3. वही, 4475
4. वही, 4712
5. वही, 2477
6. वही, 3438
7. वही, 3209

प्रकरण को छोड़कर, राधा-कृष्ण अथवा कृष्ण-गोपियों के संबंध से प्रायः सदा 'काम' की चर्चा हुई है जिससे ऐसा प्रतीत होने लगता है कि सूर 'काम' को 'प्रेम' का पर्याय मानते हैं अथवा प्रेम की परिणति काम-भोग में हुई आवश्यक समझते हैं। 'बड़ी मानलीला' के संदर्भ में श्रीकृष्ण मानवती राधा की इन शब्दों में मनावन करते हैं—

"प्रेम पतंग परे पावक मैं, प्रेम कुरंग बँधे से।
चातक रटै, चकोर न सोवै, मीन बिना जल जैसे ।।
जहाँ प्रेम तहँ मान न मानिनि, प्रेम न गनियै ऐसै।
प्रेम माँहि जो करहिं रूसनौ, तिनहिं प्रेम कहि कैसै ।। (3434)

यहाँ स्पष्ट है कि रति-भोग प्रेम की परिणति है, प्रेम की अभिव्यंजना है।

तथापि, कतिपय पदों में सूर ने 'काम' और 'प्रेम' का अंतर स्पष्ट किया है। रूप-दर्शन में उत्पन्न पहली प्रतिक्रिया 'काम' है—

"सूरदास मनमोहन निरखत उपजी काम गुभी।" (2488)

यौवनाकर्षण अथवा शारीरिक साहचर्य के अर्थ में 'काम' का प्रयोग सूरसागर में प्रायः लक्षित होता है, 'प्रेम' को 'काम' से गहरी अर्थवत्ता एक पद में मिली है—

"कमलनैन चित के चैन, निरखि मैन वारौं।
प्रेम अंस उरझि रह्यौ, उर तैं नहिं टारौं।।" (2502)

गोपी "मैन" (काम) का निवारण तो कर सकती है. किन्तु 'प्रेम' की जो छोर उसके हृदय में उलझ गयी है, वह कथमपि निवारणीय नहीं है।

वस्तुतः 'प्रेम' तथा 'काम' में तत्वतः कोई अंतर नहीं है। काम रूपदर्शन से जन्य प्रथम विक्रिया है जिसका संबंध तन या शरीर से है, जब कि प्रेम, काम को अतिक्रान्त करने वाली गंभीर मानसिक वृत्ति है—सूर ने इस अन्तर को भी ध्यान में रखा है। एक पद में एक तरुणी कहती है, "यदि मैं चितचोर को पा जाऊँ, तो उन्हें हृदय-कपाट में बन्दी कर तन का ताप मिटा लूँगी।"[1] यहाँ 'तन का ताप' काम है और 'चित्त की चोरी' प्रेम है। कृष्ण-वियोग में गोपियों ने दो शत्रुओं द्वारा सताये जाने की बात कही हैं: "तन रिपु काम, चित्त रिपु लीला।"[2] 'काम' उनके शरीर को सता रहा है और कृष्ण की लीलाएँ उनके चित्त को सता रही हैं। यहाँ सूर ने शरीर एवम् मन में अंतर किया है। काम शरीर की वृत्ति है, जबकि मन लीलाओं में रमा है। यही मन या चित्त प्रेम का अधिष्ठान है। एक अन्य पद में एक व्रज-युवती कहती है, "हे, अलि ! एक देहसुख के अभाव में हम श्याम को कैसे छोड़ दें, प्रेम के नाते चातक स्वाती बूंद के लिए रटता रहता है, मीन जल के लिए प्राण छोड़ देती है, हरिण व्याघ्र का बाण सहन कर लेता है, आदि।"[3] यहाँ स्पष्ट ही देहसुख वाले 'काम' को मानसी भूख वाले 'प्रेम' से हीन ठहराया गया है।

1. 'सूरसागर', 2547
2. वही, 4297
3. वही, 4449

किन्तु, 'प्रीति' जब हृदय में गड़ जाती है, तब तन-मिलन भी अनिवार्य है क्योंकि बढ़ती हुई "प्रेम-प्रतीति" की वही चरम निष्पत्ति है।[1] अन्यत्र और अधिक स्पष्ट शब्दों में सूर कहते हैं—"मन हरि लियौं सूर-प्रभु तबहीं, तन बपुरे की कहा बसाई।"

अंतिम विश्लेषण में सूर के अनुसार, 'प्रेम' और 'काम' में जातिगत अन्तर नहीं किया जा सकता।

(घ)

'सूरसागर' के कतिपय पदों में "महारस" का उल्लेख हुआ है जो गौड़ीय आचार्यों के "महाभाव" का समस्थानीय है। 'रस' शब्द का प्रयोग जैसे पहले कहा है, रति-रमण के संदर्भ में प्रायः सूर द्वारा किया गया है। दानलीला में कृष्ण गोपियों से कहते हैं कि उनके "कंचन-घर" में "महारस" भरा हुआ है।[2] यहाँ उरोजों का कामोद्दीपक महत्त्व व्यंजित है। इसी प्रसंग में, "श्याम-रस" में मतवाली तरुणी के अंग-प्रत्यंग में छलकते हुए "महारस" का उल्लेख उपलब्ध है जो प्रेम की तन्मयासक्ति वाली अवस्था का द्योतक है। एक अन्य पद में, कृष्ण मानिनी राधा की मनुहार में कहते हैं, "हे सुमुखि! पैरों पड़ता हूँ, मान से महारस घटता नहीं है।"[3]

इस प्रसंग में, 'महारस' प्रेम की प्ररूढ़ावस्था का उद्योतक है, किन्तु कृष्ण ने अपने लिए जिस 'दण्ड-व्यवस्था' की सिफारिश की है,[4] उसमें 'महारस' अन्ततः 'काम-रस' ही सिद्ध होता है। सचाई यह है कि सूर की प्रेम-भावना में काम और प्रेम, दूध और चीनी की भाँति, मिश्रित हो गये हैं। उनका प्रेम मूलतः 'रस' है और 'रस' का आस्वादन बिलकुल मानसिक नहीं हो सकता। अर्थात्, "महारस" में भूयसी आस्वाद्यता होनी चाहिए जो व्यवहारतः भी अनुभवगम्य हो। इसी कारण सूर का प्रेम कोरी मनोवैज्ञानिक सत्ता नहीं है क्योंकि तब वह भूसे पर खड़ी की जाने वाली भित्ति बन जाता है, उर-अन्तर में गड़ता नहीं है—

"जो न गड़ै उर-अंतर ऊधौ, भुस पर की सी भीति।" (4523)

(ङ)

प्रेम के आविर्भाव में कोई चाक्षुष, इन्द्रियग्राह्य आलंबन आवश्यक है—इसकी प्रभूत व्यंजना 'सूरसागर' में हुई है। राधा एवम् गोपियों का समग्र प्रेम-संसार कृष्ण की लोभनीय रूप-सम्पदा तथा उनकी लीलाओं के केन्द्र पर घूर्णमान रहा है। भ्रमरगीत का पूरा प्रसंग प्रेम के आलंबन की स्थूलता का उद्घोष है। गोपियाँ चकई हैं और कृष्ण डोर (रस्सी); जिससे चकई बार-बार लिपटती है।[5] वियोग-ताड़ित तरुणियों की "रूप-

1. 'सूरसागर' 4523
2. वही, 2160
3. वही, 3441
4. "सुनि राधिका कहत माधौ यौं, जो बूझियै दंड सों दीजै।
उर-उर चाँपि, बाँधि भुज-बंधन, नख-नाराच मरम तकि दीजै।।"
आदि (4441)।
5. 'सूरसागर', 4162

रस'' की राँची आँखें कृष्ण के रूप-दर्शन की भूखी हैं।[1] सूर मानते हैं कि प्रेम द्विध्रुवीय व्यापार है, ''सूरदास कहु कैसैं निबहै, एक ओर कौ नेहा''[2] – यद्यपि सच्चा प्रेम विरह में भी नष्ट नहीं होता—''ऊधौ, बिरहौ प्रेम करै।''

वियोग में प्रेम स्वर्ण-जैसा चमकने लगता है और उसकी उच्चावस्था में मांसलता की ताप नहीं मिट जाती है और प्रिय-दर्शन ही एकमात्र आकांक्षित वस्तु रह जाता है—''सूरदास प्रभु दरसन-रस नाहिन मनसा और।''[3]

---

1. 'सूरसागर', 4175
2. वही, 4603
3. वही, 4253

अध्याय 8

सूर की लोक-भावना

(क)

श्रीकृष्ण की ''रसलीलाओं'' का वर्णन करतेहुए भी, सूर अपने युगीय समाज की भावनाओं से जुड़े हुए हैं। श्रीकृष्ण के जन्म-संवाद से व्रजवासियों में जो उत्साह उत्पन्न हो जाता है, उसमें ''राजा-राइ'', छोटे-बड़े का भेद मिट जाता है। सखियाँ मंगल-गान करने लगती हैं।[1] शिशु की नाल काटने के लिए आयी दाई यशोदा से झगड़ने लगती है और कहती है कि बहुत दिनों से वह इस शुभावसर की उम्मीद लगाये हुए थी, अब वह ग्रीवा में झूलने वाला मणिमय हार नालच्छेदन के उपहार-रूप में लेगी।[2] यशोदा भी अतिशय हर्ष में दाई को गले का हार, हाथ का कंगन तथा मोतियों का थाल देती है।[3] अक्षत-दूब, बंदनवार, हल्दी-दही का छिड़काव, कंचन-थाल में दूब-दधि-रोचन लिये व्रजनारियों का मंगल-गान, विप्रों द्वारा वेद-ध्वनि, भेरि-मृदंग आदि वाद्यों का बजना, मागध-बंदीजन का बधाई देना, ढाढ़ी-ढाढ़िन का हर्षगान प्रभृति समस्त मंगलसूचक कृत्यों का उल्लसित वर्णन कर, सूर ने लोक-संस्कृति के प्रति अपनी आस्था प्रदर्शित की है।[4]

यशोदा गर्भाधान के आठवें मास में चंदन पीती है, नवें मास में कपूर का घोल पीती है, तब दसवें मास में उसे पुत्ररत्न उत्पन्न होता है। सूर ऐसे सूक्ष्म विवरणों का अंकन भी नहीं भूल पाते हैं।[5] लोक-जीवन में जाति-पाँति के लोगों को नवीन वस्त्र प्रदान करना तथा छत्तीसों प्रकार के पावनियों[6] को दान देना ऐसे सौभाग्य-सूचक अवसरों की विशेषता है। सूर ने इन तथ्यों का भी उल्लेख किया है।[7] नवजात शिशु के मंगल-हेतु गौरी-गणेश का पूजन अथवा उनकी विनती, काजल-रोरी से छठी का उपचार करना और सखियों का स्वयं अपना अवसरोचित श्रृंगार करना—

---

1. 'सूरसागर', 632

2 वही, 633

3. वही, 635

4. वही, 637 से 656

5. वही, 658

6. 'पवनी' समाज केवे आवश्यक टहलुवेहैं जिन्हें जन्म,विवाह इत्यादि अवसरों पर गृहस्थ दान या नेग (उपहार) दिया करते हैं। नाई-नाइन, धोबी-धोबिन, कहारिन, भंगिन, तम्रोली, लुहार इत्यादि 36 पवनी हैं।

7. सूरसागर', 658

मानो वे हल्दी, चावल, पानी में पीसकर तैयार किये गये ''ऐपन'' की शुभ्र पुतलियाँ हों[1]—आदि का उल्लेख कर सूर ने अपनी लोकचेतना का प्रदर्शन किया है। वात्सल्य-वर्णन में उन्होंने शिशु-लीलाओं तथा मातृ-स्नेह के विविध रूपों का जो समृद्ध चित्रण किया है, वह भी उनकी लोक-प्रतिबद्धता का प्रमाण देता है। ज्योतिषी के द्वारा लग्न-शोधन तथा विभिन्न नक्षत्रों का फल-वर्णन, गर्गाचार्य द्वारा बालक का नामकरण,[2] अन्न-प्राशन तथा वर्षगाँठ जैसे संस्कारों का उल्लेख—ये सभी तथ्य सूर की लोक-भावना को आलोकित करते हैं। ''आजु कान्ह करिहैं'' अनप्रासन'' तथा ''अरी, मेरे लालन की आजु बरष-गाँठि'' वाले पदों में सूर-हृदय का समग्र उल्लास उमड़ पड़ा है।[3] कर्ण-छेदन वाले प्रसंग में माता यशोदा के कोमल हृदय की भयमिश्रित प्रतिक्रिया तथा नंद-गोपियों के बिहँसने का जो मर्मस्पर्शी चित्र अंकित हुआ है, वह कवि की लोकचेतना की पकड़ की विद्योतक है—

''कान्ह कुँवर कौ कनछेदन है, हाथ सोहारी भेली गुर की।
बिधि बिहँसत, हरि हँसत हेरि-हेरि, जसुमति की धुकधुकी सु उर की ॥

× × ×

लोचन भरि-भरि दोऊ माता, कनछेदन देखत जिभ मुरकी।
रोवत देखि जननि अकुलानी, दियौ तुरत नौआ कौं घुरकी ॥''[4]

जसुमति-हृदय की ''धुकधुकी'', ''नौआ'' को दी गयी ''घुड़की''—इस सूक्ष्म तथ्य का उल्लेख यह विज्ञापित करता है कि सूर लोक-हृदय के कितने समीप हैं। इसी प्रकार, बालक कृष्ण के भोजनार्थ दधि-माखन, मिसिरी, पकौड़ी, जलेबी, खुरमा, शकरपारा, मालपुआ, घेवर आदि व्यंजनों का उल्लासपूर्ण कथन[5] इस टिप्पणी के साथ टाला नहीं जा सकता कि सूर ने 'मशीनी' ढंग से जानकारी के भोज्य-पदार्थों का संकलन कर दिया है। वास्तविकता यह है कि सूर अपने आराध्य को लोक-भावना से घनिष्ठरूपेण जोड़ देना चाहते हैं। यह अवश्य है कि भगवान् स्वयमेव नाना ''ऐश्वर्यों'' से संवलित हैं, अतएव उनके बालोचित सत्कार के लिए स्वर्णनिर्मित पलने जैसे उपादानों और समृद्धतम व्यंजनों की व्यवस्था से सूर अपने को नहीं रोक पाये हैं। किन्तु, इससे उनके लौकिक संस्कारों को झुठलाया नहीं जा सकता। बाल-लीलाओं के चित्र यह भूरिशः प्रदर्शित करते हैं कि सूर को ग्रामीण जन-मानस की सहज भावनाओं का कितना गहरा ज्ञान है।

(ख)

सूर की लोक-भावना का अन्य पटल गोवर्धन-धारण के संदर्भ में अभिव्यक्त हुआ

1. 'सूरसागर', 658
2. वही, 703, 704
3. वही, 707, 713
4. वही, 798
5. वही, 801

है। इस संदर्भ में दो निष्ठाओं का संघर्ष अन्तर्निहित है। "कुल-देव" इन्द्र के प्रति नंद की कल्पित आभार-बुद्धि और गोवर्धन के साक्षात्-उपकारों के प्रति कृष्ण द्वारा अनुप्रेरित अधमर्णता का भाव--"इहिं पर्वत तृन ललित मनोहर, सदा चरैं सुख गाइ।"[1] कृष्ण का यह तर्क तथा स्वप्न में गिरिराज के अपनी पूजा करने के निर्देश का उनका कथन नंद की इन्द्रनिष्ठा को विचलित कर देता है। सूर ने यहाँ स्वप्न-विषयक लोक-विश्वास से एक वस्तुनिष्ठ तर्क को सबल बनाकर, गोवर्धन-पूजन का जो विधान किया है, वह उनकी इस लोक-बुद्धि का ज्ञापन करता है कि सरल-मना अहीर, जिनके लिए गोधन सबसे बड़ा धन है, क्योंकर अपने से श्रेष्ठ बुद्धि-सम्पन्न व्यक्ति के सम्मुख अपनी चिरा-चरित-परम्परानुगत प्रथा का भी परित्याग कर सकते हैं। वस्तुतः वह एक प्रकार की नैष्ठिक क्रान्ति थी जिसे सूर लोक-कल्याण के लिए वांछनीय समझते हैं, "लै लै लकुट ग्वाल सब धाए, करत सहाय जु तुरतैं" -- यह लोक-सुलभ सहयोग-सहकारिता का अनुपम उदाहरण है। और, "मेघनि हारि मानि मुख फेर्‌यौ"—यह उस सहकारिता की अनुपम विजय है। सूर ने वर्तमान प्रसंग में लोक-भावना का एक नया संस्कार किया है। अनेक असुरों के संहार का प्रभावशाली वर्णन कर, उन्होंने व्रजभूमि के लोकनायक के प्रति जननिष्ठा को प्रोत्साहन दिया है जिसे वे लोकमंगल के लिए आवश्यक समझते हैं। अन्नकूट तथा द्वीप-मालिका जैसे त्योहारों का वर्णन कर, वे लोक-संस्कारों को पुष्ट करने की अभिलाषा का परिचय देते हैं।

(ग)

'सूरसागर' के अनुशीलन से तत्कालीन जीवन के अनेक पटलों पर प्रकाश पड़ता है। सूर को कृष्ण की जीवन का घनिष्ठ अनुभव है। वे कृषकों को "खेतिहर" या "हलधर" की संज्ञा से स्थापित करते हैं।[2] उन्होंने ईख, धान, धनिया, कुम्हड़ा आदि शस्यों का उल्लेख किया है और ग्रामीण उत्पादों में 'खाँड़' तथा 'गुड़' की चर्चा की है।[3] कृषि का व्यावहारिक ज्ञान भी उन्हें प्राप्त है। "खाल", "बंजर" जैसे प्रयोग[4] और बीज बोने की उस प्रणाली का उल्लेख जिसमें एक 'नल' हल से बाँध दिया जाता है—"धर विधंसि नल करत किरषि हल, बारि बीज विथरैं"[5] सूर के कृषि-ज्ञान की विज्ञप्ति करते हैं। कृषकों की कठिनाइयों तथा सरकारी अधिकारियों द्वारा उनके सताये जाने के उल्लेख भी उपलब्ध होते हैं।[6] अहीरों के गोपालन से सम्बन्धित उल्लेख जो रसराट् श्रीकृष्ण के किशोर-जीवन से जोड़ दिये गये हैं, कवि की लोकधर्मी चेतना की विवृति करते हैं। दही जमाने की एक प्रक्रिया 'दानलीला' प्रकरण में वहाँ वर्णित हुई है जब तरुणियाँ श्रीकृष्ण तथा उनके सखाओं को दही-माखन खिलाने लगती हैं। एक तरुणी अफसोस कर रही है—"हरि ने मेरे दही का स्वाद नहीं लिया। मैंने धौरी गाय का दूध

1. 'सूरसागर', 1443
2. वही, 107
3. वही, 4222, 2473
4. वही, 107
5. वही, 117
6. वही, 185, 53, 61, 142, 143 आदि

दुहवाया; उसे (कपड़े से) छाना; आग की मधुर आँच में औंटा कर ठंडा किया; नयी मटकी को पोंछा-पखारा; तब बिना धुएँ वाले जलते हुए कंडों पर उसे थोड़ा गरम किया; तब उसमें मिश्री मिलायी और कपूर का पुट देकर उसमें जामन मिलाया; तब सुन्दर ढँकने से ढँककर उस पर कपड़ा बाँधा और यत्नपूर्वक उसे (जमाकर) छींके पर रख दिया था। मैं तुम्हारे लिए ही घर से इसे लायी हूँ।"[1] एक पद में सूर ने लौंग, नारियल, दाख, सुपारी, हींग, मिर्च, पीपर, करजीरा, बहेरा आदि "बनिजों" का उल्लेख कर 'दानलीला' के मोहक माधुर्य-संदर्भ को ग्रामीण वणिक-समाज से जोड़ दिया है।[2] विभिन्न प्रकार की वेशभूषाओं की चर्चा और इन्द्र-पूजा के अवसर पर नन्द द्वारा आयोजित भोज में सैकड़ों व्यंजनों[3] का उल्लेख सूर की लोकचेतना की व्यापकता का उन्मीलन करते हैं।

(घ)

कृष्ण की रसलीलाओं का उपवर्णन सूर की लोक-भावना के उन आयामों की अभिव्यक्ति करता है जो ग्रामीण जनसमुदाय के भावात्मक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। बालकृष्ण का दही-माखन चुराना तथा तरुणियों से नाना अचगरियाँ करना, किशोर कृष्ण का गायें चराना तथा खरिक में गायें दुहना, पनघट पर तरुणियों से छेड़खानी करना, दही-माखन बेंचने जाने वाली गोप-सुन्दरियों से दान माँगना—इन सबके तन्मयतापूर्ण वर्णन में व्रज-वनिताओं के सूक्ष्म भावलोक की सूर ने विश्वसनीय विवृति की है। वह उनकी लोक-भावना की पकड़ के एक महत्वपूर्ण पार्श्व पर प्रकाश डालता है। रास-प्रकरण में "आर्यपंथ" का गोप-युवतियों को स्मरण कराना सूर की लोकबुद्धि का परिचायक है। झूलन तथा फाग लीलाओं में सूर ने सामूहिक उल्लास के जो भाव-कारी चित्र अंकित किये हैं, उनसे उनकी इस भावना का द्योतन होता है कि सामाजिक आयोजनों तथा पर्व-त्योहारों में लोक-चेतना को बाँटने वाली मानसिकता मिट जाती है अथवा मिट जानी चाहिए जिससे एक प्रकार की समष्टिगत, सहकारितापूर्ण जीवन-पद्धति के प्रति लोक-प्रवृत्तियाँ झुकती हैं। भ्रमरगीत-प्रकरण में ब्रजवासियों ने उद्धव का जो उपहास किया, उसमें लोक-संस्कृति के अनेक विन्दुओं का उन्मीलन हुआ है। प्रमुख तथ्य यहाँ यह है कि उद्धव ज्ञानयोग का जो संदेह लाये हैं, वह बुद्धिवादी संस्कृति का संदेश है जो इन ग्राम्य बालाओं के भावना-प्रधान जीवन में क्रूर हस्तक्षेप करता है। सूर ने उस "जोगी-जंग" को प्रेममार्ग में दीक्षित कर, अपनी लोकनिष्ठा प्रतिपादित की है।

(ङ)

'सूरसागरीय' संसार का सर्वाधिक महत्वमय प्रदेश है वृन्दावन। भगवान् का "निजधाम" होने के कारण, यहाँ वसन्त का शाश्वत निवास है; कल्पवृक्षों की स्निग्ध छाया निरन्तर प्रसरित है; रमणीक कुंजें सर्वत्र बिखरी हुई हैं; सुन्दर बेलियाँ छायी हुई हैं; नाना धातुओं से पूर्ण गिरि गोवर्धन से जल-निर्झर झर रहे हैं; कालिन्दी के अमृतोपम जल में कमल प्रफुल्ल हो रहे हैं; यमुना के तट नगों से जड़े हुए हैं जहाँ हंस

1. 'सूरसागर', 2218
2. वही, 2146
3. वही, 1510, 1511, 1518, 1014, 1526, 1517

तथा सारस विलसित हो रहे हैं।[1] वृन्दावन का प्रान्त कुंद, कदंब, मालती, चमेली, चंपक, ताल, तमाल, कदली, बदरी, कुमुदिनी तथा तुलसी की लताओं और फूलों आदि से प्रकीर्ण है।[2] इसी बारह कोस को, प्राकृतिक सुषमाओं से युक्त, विस्तीर्ण प्रान्त में कृष्ण ने शारदीय रास रचायी है। यमुना के तट पर स्थित वंशीवट का तो गोकुल के ग्राम्य जीवन में विशेष आकर्षण रहा है जहाँ चढ़कर नटवर श्याम मुरली बजाते रहे हैं।

इस मुरली से प्रतीत होता है, 'सूरसागरीय' संसार अनुशासित है। क्या बालक, क्या सयाने--सम्पूर्ण जन-समुदाय इसकी मधुर ध्वनियों में अपने प्राणों के स्पंदनों की खोज करता है। नारियाँ, विशेषतया, तरुणियाँ मुरली से निकलने वाली राग-रागिनियों से मोहित होती रही हैं। वेणु के मधुर कल-गान से ब्रजयुवतियाँ तो "मति-गति-पंगु" हो ही जाती हैं। इससे भी बढ़कर, उसकी मोहिनी का अलौकिक जादू तब दिखायी पड़ता है जब खग-मृग थक जाते हैं और फलों-तृणों का खाना बन्द कर देते हैं; बछड़े गायों के थन से दूध पीना छोड़ देते हैं; पवन तथा यमुना का नीर-प्रवाह रुक जाते हैं; सुर, मुनि, इंद्रादिक देवता सभी आकंपित हो जाते हैं।[3] ग्वाल-सखा इसी मुरली-ध्वनि के सुधा-रस-पान के लिए वृन्दावन में बार-बार जन्म लेने के लिए तरसते हैं—

"छबीले मुरली नैंक बजाउ।
बलि-बलि जात सखा यह कहि कहि, अधर-सुधा-रस प्याउ॥

दुरलभ जनम लहब वृन्दावन, दुर्लभ प्रेग-तरंग।
ना जानियै बहुरि कब ह्वै है, स्याम तिहारो संग॥"[4]

गोपियों के राग-प्रवण जीवन में मुरली ने नवीन आयाम जोड़ दिया है। कृष्ण के रूप-सौन्दर्य के आकर्षण से वे पराभूत हैं ही; इस मुरली ने उस आवर्जन को और अधिक गाढ़ बना दिया है। इसी की मोहक ध्वनि से तरुणियाँ रास की रात में, आभूषणों के विपर्यास के साथ, आग पर उफनते दूध तथा स्तन्य-पान करते शिशुओं को छोड़कर अर्धनिशीथ में यमुना-पुलिन के लिए दौड़ गयी थीं।[5] और, इसी मुरली ने उन्हें बाद को सौत की भाँति सताना शुरू कर दिया है—

"मुरली हमहिं उपाधि भई।
नँद-नंदन हम सबनि भुलाई, उपजी कहा दई॥"[6]

वृन्दावन के सदा वसन्ती वातावरण में रसराट् कामनायक कृष्ण के साथ तरुणियों की जीवन-जाह्नवी कल-कल निनाद करती प्रवाहित होती रही है। प्रेम और सौन्दर्य के इस संसार में जीवन के अन्य किसी धन्धे अथवा दायित्व की परछाईं ने कभी

1. 'सूरसागर', 1793
2. वही, 1709, 1713
3. वही, 1801, 1805, 1834 आदि
4. वही, 1834
5. वही, 1798
6. वही, 1890

अतिक्रमण नहीं किया है। सामान्यतः वृन्दावनीय लघु-संसार 'रोमांस' की 'आर्कैडिया' रहा है।[1] गोकुल तथा वृन्दावन की तरुणियों के जीवन में कभी किसी कलुष अथवा कपट की छायाएँ नहीं पड़ी हैं। वस्तुतः यह एक प्रकार का पार्थिव स्वर्ग रहा है जहाँ एकमात्र उपयोगितानिष्ठ व्यवसाय है—गौओं का चराना, उन्हें दुहना, दही-माखन बनाना तथा बेचना।

इस स्वर्गोपम ग्राम्य जीवन के साथ सूर की निष्ठाएँ जुड़ी हुई हैं। यह जीवन यथार्थ से अधिक कल्पना की मधुमय सृष्टि कहा जा सकता है। किन्तु, यह शेक्सपियर के 'आर्डेन' का संस्करण वा प्रतिरूप नहीं है।[2] कारण कि इस मधुर, सौन्दर्यपूर्ण जीवन के केन्द्रीय विन्दु रहे हैं "अखिलरसामृतमूर्ति" श्रीकृष्ण, जो चतुर्दिक् आह्लाद की वर्षा करने वाली अपनी "ह्लादिनीशक्ति" श्रीराधा से संवलित रहे हैं। सूर के लिए, अतएव, वृन्दावनीय जीवन कल्पित 'आर्कैडिया' नहीं, अपितु एक सत्यपूर्ण अनुभव है जो उनका प्रकाम्य है। सूर ने पूर्वोल्लिखित जनजीवन के अनुषंगों को इसी अभीप्सित जीवन से जोड़कर, लोक-चेतना का अभिनव संस्करण 'सागर' में चित्रित किया है।

तथापि, 'सूरसागर' के इस स्वर्गीय संसार में एक अचेतन द्वन्द्व भी चला है। आद्योपान्त एक नृशंस राज्यसत्ता सरल मनोवृत्तियों वाले एक ग्राम्य समुदाय की सहज जीवन-शैली पर निरन्तर आक्रमण करती रही है। इस आक्रमण की मुठभेड़ में लोक-भावना का चढ़ाव-उतार घटित होता रहा है। सूर ने अद्भुत सहृदयता के साथ इस अपकर्ष-उत्कर्ष का चित्रण किया है। वत्सल भाव से आर्द्र हृदयों, सख्य-भाव से संसिक्त हृदयों एवं मधुर-भाव से कातर-विगलित हृदयों के मर्मस्पर्शी चित्रों की जो 'गैलरी' 'सूरसागर' में सजायी गयी है, वह सूर की लोकासक्तियों का विश्वसनीय उन्मीलन करती है।

सूर ने "लीला-पुरुषोत्तम" की "रस-लीलाओं" का वर्णन किया है, न कि तुलसी के समान "मर्यादा-पुरुषोत्तम" की 'स्पष्ट' लोकमंगला लीलाओं का। सुतराम्, जहाँ तुलसी की लोक-भावना आदर्शोन्मुख रही है, वहाँ सूर की लोक-भावना लोक-संस्कृति का स्पर्श करती हुई, आशंकित-अनाशंकित विपदाओं की तेज धार को, प्रीति एवं स्नेह के रस-पेशल सुधा-पान से, कुंठित करने के लिए प्रयत्नशील रही है। सूर का "लोकसंग्रह" इसी दृष्टि से अवबोध्य है, प्रशंसनीय है।

---

1. पाश्चात्य साहित्य में आदर्श ग्रामीण स्वर्ग को 'आर्कैडिया' (Arcadia) कहा गया है।

2. शेक्सपियर के सुखान्तकी 'ऐज यू लाइक इट' में आर्डेन वह हरीतिमापूर्ण प्रकृति-खंड है जहाँ सभी शत्रुताओं तथा समस्याओं का सरल समाधान प्राप्त होता है और सच्चे प्रेम का प्रवाह कभी बाधित नहीं होता। किन्तु, 'सूरसागर' में ऐसा नहीं रहा है।

—लेखक

अध्याय 9

सूर के लीला-पात्र

'सूरसागर' में वर्णित लीला-रस के मुख्यतया तीन संवाहक रहे हैं : कृष्ण, राधा और गोपियाँ। इन्हीं तीनों का संक्षिप्त निरूपण वर्तमान प्रकरण में किया गया है। ज्ञातव्य है कि हमने अपने निरूपण को केवल 'सूरसागर' तक ही परिसीमित रखा है, उसके बाहर इस त्रिकोणीय पात्र-समुदाय के विषय में क्या कहा गया है, उसे हमने जानबूझ कर छोड़ दिया है। हाँ, चैतन्यादि सम्प्रदायों और ब्रह्मवैवर्तादि पुराणों में उपलब्ध राधा-विषयक सैद्धान्तिक निरूपण का हमने तृतीय परिच्छेद में अवश्य संक्षिप्त विवेचन किया है।

(क) कृष्ण

सामान्यतः सूर ने कृष्ण का वही रूप चित्रित किया है जिसकी वल्लभ-सम्प्रदाय में मान्यता है। किन्तु, काव्य की सुकुमार सरणि में 'सूरसागर' के कृष्ण का "लीला-पुरुषोत्तम" रूप विशेष माधुर्य के साथ अवतीर्ण हुआ है। सूर के कृष्ण 'परब्रह्म' हैं जिनके 'अक्षरब्रह्म' तथा आधिभौतिक स्वरूप का भी उन्होंने वर्णन किया है। दार्शनिक पीठिका या प्रेरणा वाले परिच्छेद में हम पहले सूरसागरीय कृष्ण के इन रूपों का उल्लेख कर चुके हैं जिसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। अतएव, हमारा वर्तमान अभीष्ट कृष्ण के मधुर लौकिक स्वरूप का उन्मीलन है जिसका रसामृत 'सागर' में लहरा रहा है।

राधा का साक्ष्य है—

"नागरि यह सुनि कै मुसकानी।
को जानै पिय महिमा तुम्हरी, नैननि चितै लजानी।।

× × ×

इक सुन्दर, दूजैं अति नागर, तीजैं कोक-प्रवीन।
सूरदास-प्रभु अबहीं तौ तुम जसुमति-सुवन नवीन।।" (2825)

—'हे प्रिय ! तुम्हारी महिमा कौन नहीं जानता ? एक तो तुम 'सुन्दर' हो, दूसरे अत्यन्त नागर हो, तीसरे कोककला में प्रवीण हो और चौथे यशोदा के नवल कुमार हो।' राधा के इस कथन में श्रीकृष्ण के मधुर रूप का पूर्ण परिभाषण हो जाता है।

कृष्ण के सौन्दर्य का विलास ही 'सूरसागर' के माधुर्य का रहस्य है। उनकी रूप-माधुरी व्रजनारियों के सकल "जंजाल" की जननी है। उनकी काम-केलि की भूख की अग्नि को प्रज्वलित करने वाला तत्त्व कृष्ण का रूप रहा है। "सुन्दर" कृष्ण का सौन्दर्य-रस ही 'सूरसागर' में नाना-नाना आवर्तों के रूप में उमड़ पड़ा है। यदि कृष्ण असुन्दर होते, तो शायद "सूर के बन्द नेत्र खुले ही नहीं रहते और 'सागर' क्या, सरोवर भी नहीं उत्पन्न हुआ रहता।"

राधा ने कृष्ण की नागरता का कथन किया है। वस्तुतः उनका "धीर ललित" स्वरूप उनकी नागरी प्रवृत्ति का ही प्रकाश है। इस नागरत्व की अभिव्यक्ति कृष्ण की अचगरी एवं रसिकता, वाक्-चातुर्य तथा विनोदशीलता आदि में अभिव्यक्त हुआ है।

व्रजनारियों के साथ कृष्ण का सम्पूर्ण आचरण अचगरी या छेड़खानी का रहा है। प्रत्युत यह कहना अधिक संगत होगा कि कृष्ण के माधुर्य-मंडित व्यक्तित्व की मूल ध्वनि अचगरी है। माखन-लीलाओं में उनकी बाल-सुलभ अचगरी दही-माखन चुराने, इंडुरी-मटकी ढरकाने तथा फोड़ने में प्रकाशित हुई है। वस्तुतः माखन चुराते-चुराते वे व्रज-वामाओं के मनों तथा हृदयों को भी चुराने लगे हैं। इस अचगरी का एक मधुर रूप पनघट-प्रसंग में गगरी ढरकाने, फोड़ने तथा "नैन-सैन" देकर तरुणियों को अंक में बाँध लेने आदि के रूप में उद्भाषित हुआ है।

दानलीला में कृष्ण की अचगरी मुखर तथा "आक्रामक" बन गयी है। जब वे दस वर्ष के हो गये हैं। उस संदर्भ में उनकी 'रसिकता' का प्रकाश तरुणी के निम्न कथन में हुआ है—

"छाँड़ि देहु अँचरा मेरो नीकै, जानत और सी बाला।
बार-बार मैं तुमहिं कहति हौं, परिहौ बहुरि जंजाला ॥

× × ×

सूर स्याम उर तैं कर टारहु, टूटे मोतिनि-माला।" (2089)

रास-नृत्य में कृष्ण का रसिक-रूप अधिक मोहक, सुकुमार तथा परिमार्जित बन गया है जिसके अनेक रमणीय चित्र सूर ने अंकित किये हैं। सुरुचिपूर्ण 'लालित्य' कृष्ण के व्यक्तित्व का एक प्रमुख तत्त्व है। उनकी अपनी वेशभूषा स्वयं 'छैल-चिकनियाँ' की रही है। व्रजनारियों को भी वे शृंगार-भूषित स्वरूप में देखना पसन्द करते हैं। रास की "रुचि" जब उनमें जगती है, तब वे हँसते हुए कहते हैं—"करहु सिंगार सँवारि सुन्दरी कहत हँसत हरि बानी।"[1] उनकी नागरी ऐश्वर्य-वृत्ति हिंडोले की विस्मयकारी समृ[द्ध] रचना में भी प्रदर्शित हुई है।

वाक्-चातुर्य तथा विनोदशीलता कृष्ण की ललित नागरता की ही अभिव्यक्ति है। प्रथम मिलन में ही अल्पवयसा राधा को फुसला लेना इसका प्रमाण है—"सूरदा[स] प्रभु रसिक-सिरोमनि, बातनि भुरइ राधिका भोरी।"[2] दानलीला में कृष्ण के विनोदपू[र्ण]

1. 'सूरसागर', 1655
2. वही, 1291

वाग्वैदग्ध्य का मनोहर स्वरूप उन्मीलित हुआ है। मुरली-वादन की उनकी निपुण कला उनकी नागरता को और भी उजागर कर देती है। "छबीले, मुरली नैंकु बजाउ" तरुणियों का यह अनुरोध निरर्थक नहीं है।[1] रास-नृत्य में उनकी नागरता एवं रसिकता की मंद-मधुर अभिव्यक्ति हुई है। नृत्य-कला में तो वे विलक्षण नैपुण्य प्राप्त किये हुए दृष्टिगोचर होते हैं : "मानौ माई घन-घन अंतर दामिनि।" राधा ने जो कृष्ण को "कोक-प्रवीन" कहा है, वह युवतियों के "कंचन-कलशों" में भरे "महारस" के पान की उनकी ललक से चरितार्थ हो जाता है।

राधा के मानों के संदर्भ में कृष्ण का विरही-रूप कभी द्रवित, कभी अतीव दुर्बल बन गया है जिसका उल्लेख विप्रलंभगत 'माधुर्य-रति' के विवेचन में प्रदर्शित किया गया है। राधा के वियोग में उनका उत्कंठित रूप भी व्यंजित होता है जब वे राधा के मान-भंग के पश्चात् उसके आगमन की प्रतीक्षा में मार्ग में फूल बिछाते हैं, कठिन-कठिन कलियों को चुन-चुन कर अलग कर देते हैं, सामने की दीर्घ लताओं को हाथ से हटाते जा रहे हैं।[2] उनकी अधीरता चरम सीमा को प्राप्त कर जाती है जब चतुर्थ मान में वे राधा से प्राणविगलित अनुरोध करते हैं—

"तुम मम तिलक, तुमहिं मनभूषन, तुमहिं प्रान धन मेरे।
हौं सेवक सरनागत आयौं, जानहु जतन घनेरे॥

× × ×

हौं सेवक निज प्रानप्रिया कौ, कहौ तौ पत्र लिखाऊँ।
अब जनि मान करौ तुम मोसौं, यहै मौज करि पाऊँ॥" (3444)

"यशोदा के नवीन बालक" वाली राधा की टिप्पणी की प्रामाणिकता के लिए सूर की निम्न पंक्तियाँ पर्याप्त हैं—

"नीबी ललित गही जदुराई।
जबहिं सरोज धर्यौ श्रीफल पर, तब जसुमति गई साई॥
तत छन रुदन करत मनमोहन, मन मैं बुधि उपजाइ।
देखौ ढीठि देति नहिं माता, राख्यौ गेंद चुराइ॥" (1300)

यशोदा इसे "बाल सुत" का "विनोद" समझती हैं और मुसकरा कर वहाँ से चली जाती हैं। सूर का स्पष्टीकरण यह है—

"सूरदास के प्रभु की लीला, को जानै इहिं भाइ॥" (1300)

वास्तव में, सूर ने 'माधुर्य-भक्ति' का जैसा काव्य-सुलभ अनुवाद किया है, वह नितान्त मोहक है।

(ख) राधा

राधा के चित्रण में सूर के हृदय की सम्पूर्ण कोमलता, सम्पूर्ण माधुरी उच्छलित हो गयी है। कृष्ण के समान वह भी अनिन्द्य-सौन्दर्य की धनी है। वह "सहज रूप की

1. 'सूरसागर', 1834
2. वही, 3234

राशि" है जिसके अंग-प्रत्यंग में काम ने "रूप का बिचाड़" उत्पन्न कर दिया है। "अद्भुत एक अनूपम बाग" वाले प्रसिद्ध पद में ललिता ने उसके रूप की "अचरज कथा" का बखान किया है और कृष्ण से अनुरोध किया है कि "सूरदास प्रभु पियहु सुधा-रस, मानों अधरनि के बड़ भाग।"[1]

राधा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह श्याम की अनुरागिनी, प्यारी प्रियतमा है। यों तो समस्त व्रजनारियाँ कृष्ण के अनुराग-सरोवर में डूबी हुई हैं, तथापि राधा उनके साथ नीर-क्षीर की भाँति, जल-तरंग की भाँति घुल-मिल गयी है। वह बारबार कहती है कि वह अभी तक श्याम को नहीं पहचानती। वास्तविकता यह है कि वह अधजल गगरी नहीं है जो छलक पड़ती है। सखियाँ उसके कृष्ण-स्नेह की अपूर्वता से इतनी प्रभावित हैं कि वे कहती हैं—

"राधा परम निर्मल नारि।

× × ×

स्याम कौं इक तुहीं जान्यौ, दुराचारिनि और।
जैसैं घट पूरन न डोलैं, अधभरौ डगडौर॥
धनी धन कबहुँ न प्रगटै, धरै ताहि छिपाइ।
हैं महानग श्याम पायौ, प्रगटि कैसै जाइ॥" (2461)

राधा इतनी विनम्र है कि वह अपने प्रेम की प्रशंसा सुन कर लज्जित हो जाती है; तो भी अपने सौभाग्य की प्रतीति से वह विह्वल एवं पुलकित हो जाती है। वह "प्रभु-रस" से भरी है और उसके प्रेम का प्रकाश छिपाये नहीं छिपता—"सूर प्रभु-रस भरी राधा, दुख नहीं प्रकास।"

कृष्ण के अन्यान्य तरुणियों से रमण करने पर दुःखी होकर राधा ने संकल्प किया था, वह कृष्ण से मिलेगी, किन्तु उनके साथ पुनः रति-विलास नहीं करेगी और विधाता से प्रार्थना की थी—

"तिया कौ जनि जनम पाऊँ, जनि करै पति नारि।
जनम तौं पाषान माँगौं, सूर गोद पसारि॥" (3437)

किन्तु, राधा का संकल्प दृढ़ता नहीं जानता। वह हरि को पान खिलाने लगती है और "प्रान पलटि से लीने।" वस्तुतः राधा के स्वभाव की यही विशेषता रही है। उसके मन का मोम अधिक समय तक पिघलने से अपने को रोक नहीं सकता है। उसने कृष्ण-स्नेह के प्रारंभिक चरणों में ही माता-पिता आदि की डाँट सुनकर यह कातर सफाई दी थी—

"मैं अपनी-सी बहुत करी री।
मो सौं कहति कहा तू माई, मन कैं संग मैं बहुत लरी री॥" (2712)

राधा के चरित्र की एक उल्लेखनीय विशेषता है उसका निष्कपट भोलापन।

1. 'सूरसागर', 2728

इसी कारण, प्रथम दर्शन में ही कृष्ण ने उसे अपनी बातों में फुसला लिया था। बाद को वह उनके इस प्रकार वशीभूत हो गयी, जैसे "फिरति गुड़ी बस डोरी।" वह जानती है कि मनमोहन निष्ठुर एवम् "स्वार्थी" हैं, तथापि उसने उसके प्रेम में अपना मन वैसे लगा लिया है, जैसे "हल्दी-चूना" मिल जाते हैं। वह सचमुच अनुराग-कातर है; स्वार्थ की लेश-मात्र गंध उसके स्वभाव में नहीं लक्षित होती। उसने कृष्ण से अनुरोध किया है—

"बिनती एक करौं कर जोरे, इन बीथिन जनि आवहु।
जौं आवहु तौ मुरलि-मधुर-धुनि, मो जनि कान सुनावहु।।" (2302)

– 'इन गलियों में मत आओ, और आओ भी तो मुरली की मधुर-ध्वनि मत सुनाओ'—इस अनुरोध में कितनी हृदयस्पर्शी सरलता है !

इसी भोली राधा ने तो शृंगार करते समय दर्पण में अपनी परछाई देखकर समझ लिया था, ब्रज में कोई अन्य सुन्दरी आ गयी है और कृष्ण की मधुकरी वृत्ति का स्मरण कर अनुरोध किया था, "हे सुन्दरी ! तू यहाँ की अधमाई नहीं जानती; कन्हाई यहाँ युवतियों के वसनाभरण छीन लेते हैं; मेरे कहने से घर लौट जा, नहीं तो श्याम बलात्कार करेंगे।"

तथापि, राधा का भोलापन एक विलक्षण चातुरी से अनुरंजित है। एक बार वह सखियों-समेत यमुना नहाने गयी। इस बीच कृष्ण वहाँ अचानक पहुँच गये और उस "अपार शोभा-भीड़" में उसकी ओर देखने लगे। उसकी चितवन भी उनके रूप-सिन्धु की ओर सरिता की भाँति बह चली। सखियाँ उसका अनुराग समझ गयीं, किन्तु उसने बड़ी चातुरी से जवाब दिया "मैं नहीं कह सकती; कृष्ण का रूप, वर्ण या त्रिभंग कैसा है ? तुम लोगों ने तो उन्हें हजार बार देखा है। तुम्हीं बताओ।" इस पर जब सखियों ने कृष्ण का नखशिख-वर्णन कर दिया, तब पुनः वह रचकर ऐसा चातुर्यपूर्ण उत्तर देती है कि सखियाँ परास्त हो जाती हैं – "तुम लोगों ने उनका अंग-प्रत्यंग देखा। मैं तो केवल एक अंग ही देखती रह गयी कि इतने में नेत्रों में पानी भर गया। तब, वह रूप क्यों कर देखा जा सकता था ?" और यह तर्क देती है कि 'बुद्धि के पुराने बर्तन' में कृष्ण का प्रतिक्षण नवीन रूप-सौन्दर्य कैसे अटाया जा सकता है—

"कहा करौं, अति सुख, द्वै नैना, उमँगि चलत पल पानी।
सूर सुमेरु समाइ कहा लौं, बुधि बासनी पुरानी।।" (2402)

राधा का "नवल-नागरी"-रूप रस-प्रसंग में प्रकाशित हुआ है। वह अत्यन्त मृदुतापूर्वक पदों को भूमि पर रखती तथा उठाती है। मन्द मलयानिल के संस्पर्श से उसके सिर की ओढ़नी गिर जाती है और फहराने लगती है। पुलक के कारण कंचुकी-बन्द छूट गये हैं; वेणी में खँसे कुसुम नीचे गिरने लगे हैं; हृदय का हार टूट गया है।[1] तथापि, वह प्रिय के साथ "होड़ा-होड़ी" से नृत्य कर रही है और उसके अनंत भेदों का प्रदर्शन कर अनंग को लज्जित करने लगी है।[2] राधा लीला-विहारिणी है; क्रीड़ा एवं नृत्य तथा संगीत

1. 'सूरसागर', 1754
2. वही, 1763

उसके प्राणों की तंत्री झनझना देते हैं। तब क्या आश्चर्य यदि रास के बाद कृष्ण के साथ जल-विहार करते समय, राधा ने यमुना की तरंगों को थकित कर दिया है—

"राधे छिरकति छींट छबीला।
कुच-कुंकुम कंचुकि-बँद छूटे, लटकि रहीं लट गीलो ।।
× × ×
सूर स्याम-स्यामा रस क्रीड़त, जमुन-तरंग थकीली ।।" (1778)

"काम-केलि-सरोवरी", "कोक-कला-बिलासिनी" इस राधा की दशा कृष्ण के मथुरा चले जाने पर अतीव दयनीय बन गयी है। उद्धव ने व्रज से लौटने पर राधा का जो विरहिणी-रूप वर्णित किया है, वह कितना मर्मस्पर्शी है—

"देखी मैं लोचन चुवत अचेत।
मनहुँ कमल ससि त्रास ईस कौ, मुक्ता गनि-गनि देत ।।
कहुँ कंकन, कहुँ गिरी मुद्रिका, कहूँ टाड़ कहुँ नेत।
चेतति नहीं चित्र की पुतरी, समुझाई सौचेत ।।" (4732)

राधा-जैसी प्रेमिका साहित्य में अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। वह खालिस प्रेम की जीती-जागती करुणा-संवलित मूर्ति है। आचार्य द्विवेदी ने ठीक ही कहा है कि वह "शुरू से आखीर तक सरल बालिका है।"[1]

(ग) गोपियाँ

'सूरसागर' सचमुच नारी-चरित्र का काव्य है। किन्तु, इसमें सूर ने गोपियों के सामूहिक व्यक्तित्व का ही चित्रण किया है। उनके ऐसे स्पष्ट चित्र नहीं मिलते जिनमें रंगों अथवा रेखाओं का इतना तीव्र वैषम्य हो कि उसके आधार पर गोपियों का प्रकृतिगत वर्गीकरण किया जा सके, जैसा आचार्यों ने प्रस्तावित किया है।[2] हमारी धारणा है कि सूर के मानस में गोपियाँ प्रेमिकाओं की एक ऐसी सकुल जाति के रूप में अवतरित हुई हैं जो वयः-क्रम, कुलकानि तथा समस्त लौकिक सम्बन्धों की उपेक्षा कर, कृष्ण के अनुराग-सागर में आत्म-विलय के हेतु द्रुतगति वाली निर्झरिणियों की भाँति, प्रधावित रही हैं। वे एक बोली बोलती हैं; एक अभिलाषा रखती हैं; एक ही आशा से अनुप्राणित है; किंबहुना, एक ही रीति से अपने प्रेम का उपलालन करती हैं। अतएव, गोपियों का समष्टिगत चरित्र ही 'सूरसागर' में चित्रित समझना युक्तिपूर्ण है। आखिर, सोलह हजार गोपियों का वर्गीकरण सूर के वश में भी नहीं था।

(घ)

जब गोपियाँ के सामूहिक व्यक्तित्व की हम बात करते हैं, तब अवश्य ही यशोदा, देवकी जैसी बड़ी वय वाली गोपवनिताओं को उनसे हम पृथक् रख लेते हैं। यशोदा

1. 'हिन्दी साहित्य', पृ० 184
2. 'सूर साहित्य' (अ० द्विवेदी), पृ० 120

आदर्श मातृ-मूर्ति है। कृष्ण के 'जन्म' पर उसने जो धन लुटाया है, वह उसकी उल्लास-मयी उदारता का परिचायक है। वह गोपराज नंद की पत्नी है, अतः उसके घर में धन-धान्य की कमी नहीं है। नामकरण, अन्नप्राशन जैसे अवसरों पर उसका उल्लास बाँध तोड़ देता है। नाऊ को बाल कृष्ण का कान छेदते समय उसने जो घुड़की दी, जैसे उसका हृदय धुक-धुक करने लगा, वह उसके सुकुमार वात्सल्य का व्यंजना करता है। कृष्ण के लाड़-प्यार में उसने कोई कोर-कसर नहीं की, यद्यपि उसे मालूम था कि वे उसकी संतान नहीं हैं। उसने देवकी को दिये संदेश में ठीक ही कहा कि वह उसके "सूत की धाई" है। किन्तु, क्या यशोदा से बढ़कर ममतामयी जननी कहीं अन्यत्र मिलेगी ? वियोग-वात्सल्य के विवेचन में हम पहले देख चुके हैं कि कृष्ण के मथुरा चले जाने पर उसकी कैसी कातर, कारुणिक स्थिति हो गयी है।

(ङ)

अतएव, यशोदा और उस जैसी दो-चार नारियों को छोड़कर जब हम 'सूरसागर' की गोपियों पर विचार करते हैं, तब इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनकी जाति मूलतः एक है। इस संदर्भ में एक तथ्य यह हमारा ध्यानाकर्षण करता है कि इन गोपियों में भिन्न-भिन्न वयःक्रम की युवतियाँ सम्मिलित हैं। पाँच वर्ष की अवस्था में कृष्ण ने माखन-लीला आरम्भ की और तरुणियों ने उन्हें अपनी भुजाओं में बाँध-बाँध कर अपनी 'माधुर्य-रति' का तर्पण प्रारम्भ कर दिया। इन तरुणियों में कुछ अनूढ़ा कुमारियाँ थीं, कुछ विवाहित युवतियाँ, कुछ पुत्रवती प्रौढ़ाएँ। कृष्ण की लीलाएँ बारह वर्ष की वय तक चलती रहीं, तत्पश्चात् वे मथुरा की कंचन-नगरी के अधीश बन गये। यदि माखन-लीला के समय ऊढ़ा-अनूढ़ा गोपियों की अवस्था दस-बारह वर्ष से बीस-पच्चीस वर्ष तक मान ली जाय, तो कृष्ण के ब्रज छोड़ते समय तक उनकी अवस्थाएँ सत्रह-अठारह वर्ष से लेकर तीस-बत्तीस वर्ष तक की सीमा में बिखरी रही होंगी। शायद राधा इनमें सबसे छोटी थी।

एक बात यह भी विचारणीय है कि कृष्ण की प्रेमिकाओं की संख्या निरन्तर वर्धमान रही है। पनघट-प्रकरण में ज्ञात होता है कि अनेक नयी तरुणियाँ कृष्ण की अनुराग-माया में फँसती जा रही हैं। ये नयी प्रेयसियाँ राधा की समवयस्का भी हो सकती हैं। भ्रमरगीत-प्रसंग में एक गोपी उद्धव से कहती है, "कृष्ण वयः-संधि का सुख छोड़कर मधुपुरी चले गये—बैस-संधि सुख तज्यौ, सूर हरि गए मधुपुरी माहीं।"[1]

इस कथन से सिद्ध होता है कि कुछ गोपियाँ अभी वयः-संधि को प्राप्त हो रही हैं। ये राधा की समवयस्का हो सकती हैं। अतएव, इन गोपियों में एक ही अंतर हो सकता है, और वह होगा वयःक्रम का। अन्यथा सभी "मरम की भाली" से पीड़ित हैं, सभी इस प्रतीति से दुःखी हैं कि श्याम ने उन्हें ऐसे छोड़ दिया, जैसे सर्प अपना निर्मोक छोड़ देता है। सभी तरुणियों की एक शिकायत है: कृष्ण ने बातों में सुहृद का, किन्तु कर्म में कपटी का व्यवहार किया, अधर-माधुरी पिला-पिलाकर, प्रेम के बीच में बाघ की मूँछ का बाल उनके हृदयों में गड़ा दिया जिसकी मर्म-व्यथा के निराकरण के लिए उन्हें कोई ओषधि उपलब्ध नहीं है—

1. 'सूरसागर', 4466

"मधुकर दीन्हीं प्रीति दिनाई।
बातनि सुहृद कर्म कपटी के, चलनि चोर के भाई।।
प्रेम बीच बघबार सुधा-रस, अधर-माधुरी प्याई।
सो अब जाइ खग्यौ उर अंतर, ओषधि कछु न बसाई।।" (4471)

सभी गोप-तरुणियाँ श्याम-विश्लेष की चुनौती को स्वीकार कर, नीर-निमग्न नलिनी की नाईं, गोपाल के प्रति अपनी प्रीति बढ़ाती जा रही हैं और प्रेम-योगिनी बनकर ध्यान तथा योग की ध्वजा फहराने वाले "अद्वैत-दर्शी" उद्धव के धर्म-परिवर्तन के निमित्त नित्य-नवल स्नेह का मधुर गीत गाती जा रही हैं—

"नेह न होइ पुरानो रे अलि।
जल-प्रवाह ज्यौं सोभा-सागर, नित नव तन ब्रजनाथ इहाँ चलि।।

× × ×

दिन-दिन बढ़त नीर नलिनी ज्यौं, स्याम-रंग मैं नैन रहे पलि।
सूर गुपाल प्रीति जिय जाकैं, छूटति नाहिंन नेह सती सलि।।" (4478)

उद्धव को व्यंग्यपूर्ण उपालंभ देने में सभी व्रजनारियाँ समान शील से युक्त दीख पड़ती हैं। "प्रेम न रुकत हमारैं बूतैं"—यही उनके चरित्र की विशेषता रही है।

इन युवतियों में प्रेम का 'काम' से अपूर्व तलस्पर्शी सम्मिश्रण घटित हुआ है। मुरली-ध्वनि सुनकर सभी "आतुर-काम" होकर अर्ध-निशीथ में वन की ओर समान भाव से दौड़ पड़ी हैं। उद्धव ने सभी के सोते काम को समान भाव से जगा दिया है— "सोवत मनसिज आनि जगायौ, पठै सँदेस स्याम कै दूतैं।।[1]

राधा के समान ये तरुणियाँ भी निष्कपट, भोली-भाली हैं। मुरली को वे "छिनारि", "कुलजारि" आदि विशेषणों से सम्बोधित करती हैं, केवल इस कारण नहीं कि उसने उनसे हरि का प्यार छीन लिया है, अपितु इस कारण भी कि वह उन्हें मनमानी रीति से नाच नचाती है—"मुरली हरि कौं" नाच नचावति। एते पर यह बाँस-बँसुरिया नंद-नंदन को भावति।" उनकी यह टिप्पणी उनके अतिशय अनुराग-विह्वल स्वभाव का भोलापन व्यंजित करती है। दानलीला के प्रसंग में वे किस प्रकार 'आक्रामक' कृष्ण के वाग्वैदग्ध्य से पराजित होकर "काम-नृपति" की पतली छड़ी से आहत हो गयी हैं और अपने तन-मन का समर्पण कृष्ण के प्रति कर दिया है, यह भी उनके अतिशय भोलेपन का ध्वनन करता है। वे जीवन-रस की प्यास से पीड़ित हैं—यह उनके चरित्र की निजी विशेषता है। हिंडोल तथा फाग लीलाओं में उनकी जीवन-रस-पिपासा अत्यन्त मोहक बन गयी है। सभी कृष्ण के साथ झूला झूलने का आनन्द लेने के लिए चुन-चुनकर शृंगार करती हैं—

"सब पहिरि चुनि-चुनि चीर, चुहि-चुहि चूनरी बहु रंग।
कटि नील लहँगा, लाल चोली, उबटि केसरि अंग।।

1. 'सूरसागर', 4533

नव सात सजि नई नागरीं, चलीं झुंड-झुंडनि संग।
मुख-स्याम-पूरनचंद कौं, मन उमंगि उदधि तरंग।" (3448)

फाग में भी व्रजनारियों की यही जीवन-रस-पान की अदम्य कामना लक्षित हुई है। इनकी आनन्दकामी प्रकृति इन दोनों लीलाओं में पूर्ण आलोक के साथ उद्भासित हो उठी है। एक बात यह परिलक्ष्य है कि अपने समस्त अनुराग-जीवन में वे राधा को ही आदर्श मानती रही हैं, "राधा-भाव" ही उनका प्राप्तव्य अभीष्ट रहा है।

भ्रमरगीत-प्रसंग में उन युक्तियों के प्रेम का वह प्रवाह फूट पड़ा है जिसमें उद्धव का सम्पूर्ण ज्ञान बह गया है। नंददास की गोपियों से उनकी तुलना करते हुए आ० द्विवेदी ने बड़े सुन्दर ढंग से इन गोपियों के प्रेम की प्रशस्ति की है—"नंददास के उद्धव को तर्क में परास्त होना-पड़ा है; सूरदास के उद्धव अपना तर्क समझा ही नहीं पाते, उन्हें विजयी होने का मौका ही नहीं मिलता। नन्ददास की गोपियाँ युक्ति से प्रेम की महिमा स्थापित करती हैं; सूरदास की गोपियों के पास विरह का ऐसा खजाना है कि उसी को बाँटने से उन्हें फुरसत नहीं मिलती, युक्ति और तर्क कौन करे ?"[1]

सचमुच इन गोपियों ने विरह की चुनौती स्वीकार कर ली है और उनके प्रेम की वैजयन्ती, पूर्ण दीप्ति के साथ त्रिकाल में विलसती गयी है—

"ऊधौ, बिरहौ प्रेम करै।
सूर गुपाल प्रेम-पथ चलि करि, क्यौं दुख-सुखनि डरै।।" (4604)

दुःख-सुख को चुनौती देने वाली ये व्रजतरुणियाँ अविजेय प्रेम की प्रकटित मूर्तियाँ हैं।

———

1. 'सूर-साहित्य', पृ० 133

अध्याय 10

सूर की दार्शनिक मान्यताएँ

(क) शुद्धाद्वैत वा ब्रह्माद्वैत

सूर की दार्शनिक पीठिका मुख्यतः आचार्य वल्लभ द्वारा प्रवर्तित 'शुद्धाद्वैत' अथवा 'ब्रह्माद्वैत' है। शंकराचार्य के 'केवलाद्वैत' तथा भर्तृप्रपंच के 'अविभागाद्वैत' और रामानुज के 'विशिष्टाद्वैत' से पार्थक्य प्रदर्शित करने के निमित्त इस दर्शन का नाम 'शुद्धाद्वैत' पड़ा है। 'शुद्ध' से तात्पर्य यह है कि ब्रह्म कारण तथा कार्य (सृष्टि) दोनों रूपों में शुद्ध है, माया-सम्बन्ध से रहित है। 'अद्वैत' से तात्पर्य यह है कि ब्रह्म स्वगत, सजातीय एवं विजातीय, तीनों भेदों से रहित है। वल्लभ ने 'प्रस्थान-त्रय' की जगह, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीता के साथ श्रीमद्भागवत को मिलाकर, 'प्रस्थान-चतुष्टय' को अपने दर्शन का आधार बनाया है।

ब्रह्म का स्वरूप—शुद्धाद्वैत में ब्रह्म को "सच्चिदानंद" (सत्, चित् तथा आनंद) बताया गया है। सविशेषत्व (सगुणत्व) तथा निर्विशेषत्व (निर्गुणत्व) एक ही ब्रह्म के दो रूप हैं। ब्रह्म सर्वधर्मविशिष्ट माना गया है। अतएव वह सभी विरुद्ध धर्मों का आश्रय है। वह अणु में भी अणीयान् और महान् से भी महीयान् है; अदृश्य होते हुए भी प्रतिभज्ञान द्वारा ग्राह्य है; बहिष्ठ भी है और अन्तःस्थ भी है; प्रमाण भी है और प्रमेय भी है; अनेक भी है और एक भी है।

ब्रह्म के तीन प्ररूप हैं, यथा—**आधिदैविक अथवा परब्रह्म, आध्यात्मिक अथवा अक्षरब्रह्म और आधिभौतिक अथवा जगत्**। ये तीनों रूप परस्पर अभिन्न हैं। जड़ जगत् और चेतन जीव सभी ब्रह्म के 'विभाव' अथवा विशेष रूप हैं। सत्, चित् एवं आनंद तीनों धर्मों के आविर्भाव से युक्त ब्रह्म "अन्तर्यामी" कहलाता है और इसी रूप में वह सबमें व्याप्त है। इस प्रकार, 'आविर्भाव' तथा 'तिरोभाव' वल्लभ-दर्शन की एक निजी विशेषता है। अनुभव का विषय होना 'आविर्भाव' है और अनुभव का विषय न होना 'तिरोभाव' है। अपने चिदंश तथा आनंद को स्वेच्छया तिरोभूत कर ब्रह्म अपने आध्यात्मिक स्वरूप से, अर्थात् 'अक्षरब्रह्म' के रूप में, जगत् की सृष्टि करता है। ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव इसी अक्षरब्रह्म के रूप हैं। निर्गुण परब्रह्म अपनी अनंत शक्तियों के साथ अपनी ही आत्मा में निरंतर रमण करता रहता है। उस अवस्था में वह "आत्माराम" कहा जाता है। लेकिन, यही ब्रह्म जब अपनी शक्तियों के साथ बाह्य रूप में रमण करने लगता है, तब वह "पुरुषोत्तम" कहलाता है। ये अनंत शक्तियाँ नित्य रूप से 'पुरुषोत्तम' में स्थित रहती हैं। इनमें श्रिया, पुष्टि, गिरा, कान्त्या प्रभृति बारह शक्तियाँ प्रमुख हैं। ये ही शक्तियाँ श्रीस्वामिनी, चन्द्रावली, राधा, यमुना आदि आधिदैविक रूप-नामों में प्रकट

होकर पुरुषोत्तम के साथ नित्य विहार करती हैं। इन्हीं शक्तियों के साथ क्रीड़ा करने के लिए पुरुषोत्तम अपने रूप में से वृन्दावन, गोवर्धन, यमुना, गोकुल, पशु-पक्षी, वृक्षादि को प्रकट करते हैं।

जगत्—वल्लभ-दर्शन में ब्रह्म जगत् का समवायिकारण[1] तथा निमित्तकारण दोनों है। जगत् ब्रह्म का कार्य है; न तो यह प्रकृति जन्य है, न परमाणुजन्य है, न विवर्त-रूप ही है। कार्य कारण से अभिन्न होता है; अतः जगत् ब्रह्म से अभिन्न है, ब्रह्म ही है। इस प्रकार, वह मिथ्या नहीं है, जैसा शंकर मानते हैं। जगत् ब्रह्म का 'परिणाम' भी है। किन्तु, परिणाम दो प्रकार का होता है : पहली स्थिति में कारण में विकार आ जाता है, जबकि दूसरी स्थिति में कारण में विकार नहीं आता। दूध, दही बन जाता है, किन्तु दही का पुनः दूध रूप में लौट आना संभव नहीं। यह "विकृत परिणाम" है। इसके विपरीत सुवर्ण कटक, कुण्डल आदि आभूषण के रूप में बदल जाता है, किन्तु ये गहने पुनः सुवर्ण-रूप को प्राप्त कर लेते हैं। यह "अविकृत-परिणाम" है। वल्लभ 'जगत्' अथवा 'प्रपंच' को ब्रह्म का अविकृत परिणाम मानते हैं। प्रलयावस्था में जगत् अपने 'कारण' ब्रह्म की अवस्था में लौट आता है। इस प्रकार, सम्पूर्ण सृष्टि में 'सुवर्णद्वैत' परिव्याप्त है।

जगत् और संसार—वल्लभ-सिद्धान्त के अनुसार, 'जगत्' अथवा 'प्रपंच', जैसा अभी कहा है, वास्तविक है क्योंकि वह पुरुषोत्तम का आधिभौतिक रूप है। उसका कभी विनाश नहीं होता। भगवान् रमण अथवा क्रीड़ा के निमित्त ही जगत् के रूप में आविर्भूत होते हैं। जगत् का आविर्भाव भगवान् की 'माया-शक्ति' के द्वारा होता है। माया भगवान् से भिन्न वस्तु नहीं है। वह भगवान् में ही स्थित है, भगवान् की "सर्वभवनसामर्थ्यरूपा" शक्ति है, अर्थात् वह भगवान् की सब कुछ हो सकने का सामर्थ्य है। उसी स्वकीय सामर्थ्य से पुरुषोत्तम स्वात्मरूप प्रपंच या जगत् की सृष्टि करते हैं। संसार जगत् से भिन्न है। सम्पूर्ण लौकिक सम्बन्ध (मैं, मेरा आदि) संसार है। यह संसार भगवान् की अविद्या-शक्ति का कार्य है, जैसा भागवत में कहा है, माया तथा अविद्या एक-दूसरे से भिन्न हैं। माया-वादियों (शंकर आदि) ने अविद्या तथा माया को एक ही माना है जो वल्लभ को स्वीकार्य नहीं है। अविद्या, अज्ञान, भ्रम, असत् प्रभृति शब्दों का प्रयोग शास्त्रों में जीव के अहंता-ममतात्मक संसार के लिए ही हुआ है— ऐसी वल्लभाचार्य की मान्यता है। तत्वज्ञान हो जाने पर इस संसार की निवृत्ति अथवा इसका विनाश हो जाता है। अतः यह संसार ही मिथ्या है, ब्रह्मात्मक जगत् मिथ्या नहीं है।

जीव—भगवान् रमण करने की इच्छा (रिरंसा) से अपने आनंद को तिरोहित कर जीवरूप ग्रहण कर लेते हैं, जबकि जगत् में चिदंश तथा आनंदांश दोनों का तिरोभाव रहता है। इस प्रकार, जगत् पुरुषोत्तम ब्रह्म की क्रीड़ास्थली है और जीव उनकी क्रीड़ा का माध्यम है।

ब्रह्म से जीव का उदय उसी प्रकार होता है, जैसे अग्नि से स्फुलिंग या विस्फुलिंग (चिनगारी) का "व्युच्चरण" होता है। चिनगारी अग्नि से 'उत्पन्न' नहीं होती, वह

---

1. 'समवायिकारण' को 'उपादानकारण' भी कहते हैं। बर्तन का उपादान कारण 'मृत्तिका' है जो समवायिकारण भी है।

'व्युच्चरित' होती है, अर्थात् अग्नि से छिटक कर निकलती है। अतएव, जीव की उत्पत्ति नहीं होती, वह ब्रह्म की भाँति 'नित्य' है। इस प्रकार, वल्लभ-मतानुसार, जीव भगवान् का 'अंश' है, 'प्रतिबिम्ब' नहीं।

अणुभाष्य में आचार्य ने जीवभाव-ग्रहण का विशद् वर्णन करते हुए बताया है कि भगवान् के 'ऐश्वर्य' के तिरोधान से जीव में दीनता आती है; 'यश' के तिरोधान से उसमें हीनता का उदय होता है; 'श्री' के तिरोधान से वह जन्मादि समस्त आपत्तियों का भाजन बनता है; 'ज्ञान' के तिरोधान से उसकी देहादि में आत्मबुद्धि हो जाती है; 'वैराग्य' के तिरोधान से उसमें विषयासक्ति उत्पन्न होती है; अथवा 'आनन्द' के तिरोधान से तो "जीवभाव" ही घटित हो जाता है।

वल्लभ-दर्शन में जीव मुख्यतया तीन प्रकार के बताये गये हैं— शुद्ध, संसारी और मुक्त। 'शुद्ध' जीव ब्रह्मरूप है क्योंकि वह सांसारिक विषयों से कदापि प्रभावित नहीं होता। 'संसारी' जीव अविद्या से ग्रस्त होकर नाना कष्ट सहता है। गुरु-कृपा अथवा भगवान् के अनुग्रह से विषय-वासनाओं से छुटकारा पाने वाला संसारी जीव 'मुक्त' जीव कहलाता है।

मुक्ति—मुक्ति अथवा मोक्ष सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ माना गया है। वल्लभाचार्य ने भागवतानुसार मुक्ति के चार भेद किये हैं—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। भगवान् के लीलाधाम में पहुँचना 'सालोक्य-मुक्ति', भगवान् के चरण-कमलों की समीपता प्राप्त करना 'समीप्य-मुक्ति', भगवान् के साथ उन्हीं के समान आचरण करना 'सारूप्य-मुक्ति' और भगवान् के साथ एक होकर मिल जाना 'सायुज्य-मुक्ति' कहलाती है।

लौकिक वृन्दावनादि—आचार्य ने परब्रह्म तथा श्रीकृष्ण में पूर्ण अभेद माना है—"परब्रह्म तु कृष्णो हि।" पुरुषोत्तम ब्रह्म में जब इस प्रकार बाह्य रमण की इच्छा हुई कि इन लीलाओं का ज्ञान अन्यों को भी हो और श्रुतियों ने इन्हें देखने की प्रार्थना की, तब उन्होंने सारस्वत कल्प में ब्रज में अवतार लिया और श्रुतियाँ गोपी-रूप में अवतरित हुईं। इस प्रकार शुद्धाद्वैतानुसार, पुरुषोत्तम के आविर्भाव के साथ उनका सम्पूर्ण दिव्य लीला-परिकर भी ब्रज में लौकिक गोकुल, गोवर्धन तथा वृन्दावन के रूप में अवतरित हुआ।

वल्लभाचार्य के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य 'कैवल्य' नहीं है। भगवान् रस-रूप हैं, आनन्द-रूप हैं। आनन्द के तिरोधान से ही 'जीवभाव' हुआ था। उसी रस या आनन्द की प्राप्ति से "**दिव्यभाव**" **हो जाना ही जीवन का चरम लक्ष्य है**। अन्य शब्दों में अनन्य प्रेम तथा पूर्ण आत्मसमर्पण से प्रभु का अनुग्रह अर्जित कर, रसरूप प्रभु की अनुभूति प्राप्त करना, उनकी रासलीला में भाग लेना ही वल्लभ-मतानुसार जीवन का परम लक्ष्य है। इसकी प्राप्ति के लिए पुष्टि-भक्ति का विधान हुआ है। कृष्ण की सेवा ही भक्ति है। सेवा का तात्पर्य है मानसी अनुरक्ति—"कृष्ण सेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता।" चरमावस्था को प्राप्त मानसी अनुरक्ति "व्यसन" बन जाती है। 'व्यसनावस्था' में जीव तीव्र विरह का अनुभव करता है।

(ख) सूर में शुद्धाद्वैतीय तत्त्व

वल्लभाचार्य के उपर्युक्त सिद्धान्तों का सूर पर प्रभाव पड़ा है। 'सूरसागर' के कृष्ण परब्रह्म ही हैं। उनमें परस्पर-विरोधी धर्मों की संस्थिति है। प्रथम माखन-चोरी के समय ही उन्होंने कहा है कि "सुख-भोग के लिए मैंने जन्म लिया है, यशोदा मुझे बालक, बाल-रूप जानेंगी और मैं गोपियों के साथ मिलकर सुखभोग करूँगा।"[1] ऐसे ही, "बलि बलि चरित गोकुल-राइ" वाले पद में दावानल-पान के साथ गर्म दूध को शीतल करके पीने, गोवर्धन धारण करने के साथ दोहनी को पकड़ने से बाँह में पीड़ा होने आदि परस्पर-विरुद्ध धर्मों की अवस्थिति कृष्ण में बतायी गयी है।[2] "कृष्ण-भक्ति करि कृष्नहिं पावै" पद में सूर कृष्ण को परब्रह्म बताते हुए कहते हैं कि यह जगत् कृष्ण से ही प्रकट होकर उन्हीं में लय हो जाता है। यहाँ वल्लभ के आविर्भाव-तिरोभाव की कल्पना ध्वनित है। सूर पुनः कहते हैं कि कृष्ण अद्वैतरूप हैं, अमल, अकल, अजन्मा इत्यादि हैं और वही नाना रूपों में सुशोभित हैं।

"पहिलै हौं ही हो तब एक।
अमल, अकल, अज भेद-विवर्जित, सुनि बुधि विवेक॥
सो हौं एक अनेक भाँति करि शोभित नाना भेष।"[3]

"**पुरुषोत्तम ब्रह्म**" की वल्लभीय कल्पना निम्न पंक्तियों में व्यक्त हुई है —

"बृन्दावन निज धाम, कृपा करि तहाँ दिखायौ।
सब दिन जहाँ बसंत, कल्प-बृच्छनि सो छायौ॥
कुंज अतिहि रमनीक तहँ, बेलि सुभग रहीं छाइ।
गिरि गोबर्धन धातुमय, झरना झरत सुभाइ॥" आदि (1793)

इन पंक्तियों में, अलौकिक वृन्दावन में पुरुषोत्तम कृष्ण के विहार करने; गोवर्धन, कालिन्दी आदि के वर्तमान रहने; श्रुतियों के गोपियों-रूप में अवतरित होने तथा वृन्दावन में क्रीड़ा करने इत्यादि का वर्णन हुआ है जो शुद्धाद्वैतीय मान्यता के अनुसार है।

अन्तर्यामी ब्रह्म की कल्पना "नैननि निरखि स्याम-स्वरूप; रह्यौ घट-घट ब्यापि सोई" के कथन में व्यंजित हुई है। '**अक्षरब्रह्म**' की व्यंजना "जज्ञ प्रभु प्रगट दरसन दिखायौ; बिष्नु-विधि-रुद्र मम रूप ये तीनिहुँ दच्छ सौ बचन यह कहि सुनायौ" में हो रही है। जगत् की सृष्टि, पालन तथा संहार का कथन—जो अक्षरब्रह्म का कार्य है — अग्र पंक्तियों में सूर ने किया है—

---

1. 'सूरसागर', 886
2. वही, 1116(3)
3. वही, 381

"प्रभु तुव मर्म समुझि नहिं परे।
जग सिरजत पालत संहारत पुनि क्यौं बहुरि करै।।
ज्यौं पानी मैं होत बुदबुदा, पुनि ता माहिं समाइ।
त्यौंही सब जग प्रगटत तुम मैं, पुनि तुम माहिं बिलाइ।।" (4920)

संसार की अनित्यता तथा माया के स्वरूप का कथन भी सूर ने शुद्धाद्वैतानुसार किया है। "यह संसार सुवा सेमर ज्यौं सुंदर देखि लुभायौ" के कथन में संसार की नश्वरता की व्यंजना हुई है।[1] "माधौ जू मन माया बस कीन्हौं" तथा "माधौ नैंकु हरकौ गाइ" जैसे पदों में माया से बचने की प्रार्थना सूर ने की है।[2]

वल्लभाचार्य ने चार प्रकार की मुक्तियों तथा तीन प्रकार के जीवों का निरूपण किया है जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। 'सूरसागर' में इन सभी मुक्तियों तथा जीवों का वर्णन उपलब्ध होता है। नीचे ये निर्दशित किये गए हैं—

(1) "अपुनपौ आपुन ही बिसर्यौ।
जैसे स्वान काँच-मंदिर मैं, भ्रमि-भ्रमि भूकि पर्यौ।।"—आदि

इस पद में अविद्याग्रस्त 'संसारी जीव' का वर्णन हुआ है।

(2) "अपुनपौ आपुन ही मैं पायौ।
सब्दहि सब्द भयौ उजियारौ. सतगुरु भेद बतायौ।"—आदि

इस पद में 'मुक्तजीव' का कथन हुआ है।

(3) "चलि सखि, तिहिं सरोवर जाहिं।
जिहिं सरोवर कमल कमला, रबि बिना बिगसाहिं।।"—आदि

यहाँ **'सालोक्य मुक्ति'** का कथन है।

(4) "भृंगी री, भजि स्याम कमल-पद जहाँ न निसि कौ त्रासा।।"—आदि

यहाँ **'सामीप्य-मुक्ति'** की व्यंजना है।

(5) "राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव, माधव राधा, क्रीट भ्रंग गति ह्वै जु गई।।"—आदि

यहाँ 'सारूप्य मुक्ति' वर्णित हुई है।

(6) "सुवा, चलि ता बन कौ रस पीजै।
जा बन रामनाम अम्रित-रस, स्रवन-पात्र भरि लीजै।।"—आदि

इस पद में 'सायुज्य-मुक्ति' का संकेत हुआ है।

---

1. 'सूरसागर', 335
2. वही, 46, 56

जैसा पहले कहा है, वल्लभ-मतानुसार जीवन का चरम लक्ष्य 'कैवल्य' नहीं, अपितु रसरूप भगवान् के आनंद की प्राप्ति है क्योंकि उनके आनंदांश के तिरोधान से ही 'जीव-भाव' की उत्पत्ति हुई है। अतः वल्लभ के अनुसार भगवान् की रसरूपिणी रासलीला में भाग लेना ही जीवन का परम उद्देश्य है। सूर ने इसका अनेकशः कथन किया है, यथा—

"सूर आस करि बरन्यौ रास। चाहत हौं वृन्दावन बास ॥
राधा (बर) इतनी करि कृपा।
निसिदिन स्याम सेउँ मैं तोहि। यहै कृपा करि दीजै मोहि ॥" (1798)

अध्याय 11

सूर की काव्य-विषयिणी मान्यताएँ

(क) सूर की कवि-चेतना

तुलसी के समान सूर ने अपनी काव्य-मान्यताओं के विषय में कोई कथन नहीं किया है। 'मानस' के बालकाण्ड में तुलसी ने स्पष्टरूपेण 'कवि' और 'कविता' के संबंध में निरूपण किया है। "वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि" का आरंभ में ही उल्लेख कर, वे काव्यांगों में निष्णात् कवि होने का निर्भ्रान्त उल्लेख करते हैं और "सुरसरि सम सब कहँ हित होई" का कथन कर, अपनी काव्य-रचना का प्रयोजन भी विज्ञापित करते हैं। "बुध-जनों" के सम्मान की आकांक्षा व्यक्त कर, वे प्रमाणित कर देते हैं कि वे "कवियश:प्रार्थी" हैं। सूर ने कहीं यह अभिलाषा व्यक्त नहीं की है कि उन्हें 'कवि' समझा जाय। इसी कारण काव्य-विषयक स्थिर विवेचन का वह "समारोह" उनके 'सागर' में परिलक्षित नहीं होता जो तुलसी के 'मानस' में हमें आकर्षित करता है।

तथापि, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि सूर की भक्त-चेतना अनिवार्यत: कवि की चेतना है और उन्होंने अपनी रचना में कवि-धर्म का पूर्ण निर्वाह किया है। रास-वर्णन के संदर्भ में उन्होंने, पहली बार और अंतिम बार, "कवि" शब्द का उल्लेख किया है, यथा—

"नीरस कवि न कहैं रस-रीति। रसिकहिं रस लीला पर प्रीति ।।"[1]

इस कथन से ज्ञात होता है कि सूर 'कवि' के लिए रसज्ञ, रसचेतना से समन्वित होना आवश्यक समझते हैं। उन्हें कविकर्म की नीरसता अभीष्ट नहीं है। "रस रीति" का गायक ही प्रकृत कवि है—उनकी यही मान्यता व्यंजित होती है। 'सूरसागर' में 'प्रीति' एवम् 'प्रेम' शब्दों के साथ "रस" शब्द भूरिश: प्रयुक्त हुआ है। उससे भी ज्ञात होता है कि सूर अपनी रचना में रस के उदगिरण से प्रतिबद्ध रहे हैं। इस प्रकार, सूर भारतीय काव्य-परम्परा में प्रतिष्ठित 'रस-सिद्धान्त' के परिपोषक हैं।

(ख) रस की पहचान

लेकिन, सूर का 'रस' लौकिक व्यक्तियों का, सामान्य साहित्य का आस्वाद्य रस नहीं है। अन्य कृष्ण-कवियों की भाँति, सूर का अभीष्ट रस "हरि-रस" अथवा "कृष्ण-

---

1. 'सूरसागर', 1798

रस" है।[1] "जिस रस में शिशु कृष्ण को जिमाते समय, नंद-यशोदा विलसित हो रहे हैं, वह त्रिलोक में उपलब्ध नहीं है"[2]—यह सूर का स्पष्ट कथन है। इस रस की व्याख्या भी उन्होंने प्रकारान्तरेण की है—"जिसका मन नंदलाल में लग गया, उसे अन्य रस फीके प्रतीत होते हैं। दूध में डालने पर भी मछली जल के बिना सुख नहीं पाती। जैसे सरिता सिन्धु में मिल जाने पर पुनः प्रवाह में नहीं लौटती, वैसे ही कमललोचन में एक बार अनुरक्त हो जाने पर चित्त पुनः अन्यत्र नहीं जाता। हरि-रस में छका व्यक्ति उसी रस में निमग्न डोलता फिरता है। गूँगे के गुड़ की भाँति इस रस की व्याख्या नहीं हो पाती।"[3] सूर इस रस को "प्रेम-रस" कहते हैं और यह प्रेम हरिचरणों में "रति" है।[4] अर्थात्, सूर के मान्यतानुसार, रस=प्रेम-रस=कृष्ण-रस - हरिपद में 'रति।'

अष्टछाप के नंददास ने इस रस की यों व्याक्या की है—"नंदकुमार रसमय, रस के कारण और रसि : हैं। इस संसार में जो कुछ इस दिखायी पड़ता है, उसके आधार श्रीकृष्ण ही हैं। कविगण जो रस वर्णित करते हैं, वह सब कृष्ण का ही रस है। अग्नि से अगणित दीपक प्रज्वलित होते हैं और अन्ततः उसी में मिल जाते हैं। उसी प्रकार जो प्रेमरस है, वह हरि के कारण है और उनमें ही शोभा देता है।"[5] चतुर्भुजदास के अनुसार, कृष्ण-रस शरद-शशि की भाँति है और भक्तों की आँखें चकोरिनी की भाँति इस रस के पान में लिप्त रहती हैं। सूर ने और अधिक स्पष्ट रीति से अपने इसी वांछित रस का व्याख्यान किया है—

"कहत सुनत बाढ़त रसरीति। बक्ता स्रोता हरि पद प्रीति ॥
रास रसिक गुन गाइहो ॥" (1798)

अतएव, सूर का अभिलषित रस 'कृष्ण-रस' है जो हरि-चरणों में प्रीति का पर्याय है। 'पुष्टिमार्ग' में दीक्षित हो जाने के बाद, इस रस की जाति अधिक निश्चित हो गयी है—

"आनंद-कंद, सकल, सुखदायक, निसि दिन रहत केलि रस औद।' (737)

अर्थात्, यह प्रकाम्य रस आनंद-कन्द, श्रीकृष्ण की "केलियों का रस" है जिसमें भक्त सूर भी अपने आराध्य की भाँति नक्तंदिवा "आर्द्र" रहने की कामना से अनुप्राणित रहे हैं। "केलि रस" भगवान् की लीलाओं का ही सुधावर्षी रस है। गोवर्धननाथ जी ने सूर को आदेश दिया था कि "अब तुम मेरी लीला में आयकै लीला-रस को अनुभव करो।"[6] अतएव, सूर का काव्य-रस "लीला रस" है जिसका भूरिशः वर्णन उन्होंने 'सागर' में किया है। आचार्य वल्लभ ने 'सुबोधिनी' टीका में "लीला-रस" को "नाट्य-

1. 'सूरसागर' 341, 12794
2. वही, 856
3. वही, 353
4. वही, 354, 355
5. 'रसमंजरी', 1/6
6. 'सूरदास की वार्ता' (मीतल), पृ० 55

रस'' के समान बताया है। अन्यत्र श्रीकृष्ण की लीला को चौदह रस वाली लीला'' कहा गया है जिनमें चार पुरुषार्थं चार रस हैं और भक्ति को मिलाकर श्रृंगारादि दस साहित्य-रस सम्मिलित हैं।[1]

इस संदर्भ में यह उल्लेख्य है कि कृष्ण कवियों ने ''रास-रस'' को विशिष्ट महत्त्व प्रदान किया है। 'रासपंचाध्यायी' में नन्ददास ने उसे ''उज्ज्वल रस'' कहा है और प्रेम-भक्ति के पिपासुओं से यह सिफारिश की है कि वे कोटि यत्नों से पोई हुई इस ''उज्ज्वल रस साल'' को सावधानी से पहने रहें।[2] सूरदास ने भी रास के ''रस-विलास'' में सुर, असुर, नर, नारी सबको मोहित कर, कर उसकी महत्ता निरूपित की है।[3] अतएव, सूर का अभीष्ट रस ''लीला-रस'' है जिसमें ''श्यामा-श्याम'' के ''बिमल बिलास'' से पूर्ण रास का अप्रतिम महत्त्व है[4] और जिसके सुधा-पान के निमित्त वे याचनाशील हैं—

''जाँचत दास, आस चरननि की, अपनी सरन बसावहु।
मन अभिलाष स्रवन जस पूरित, सूरहिं सुधा पियावहु।।'' (1754)

(ग) ''रस-प्रपंच'' और सूरदास

आचार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में रस-निष्पत्ति का यह प्रसिद्ध सूत्र उल्लिखित किया है : ''विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।'' उन्होंने स्पष्ट किया है कि विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से जब 'रति' आदि कोई स्थायिभाव आस्वाद्य बनता है, तब 'रस' की निष्पत्ति होती है। सूर इस परम्परा-प्राप्त शास्त्रीय विधान के प्रति पूर्ण सतर्क दीखते हैं। इस प्रसंग में एक तथ्य यह लक्षणीय है कि वे इस ''रस-प्रपंच'' अथवा रस के उपादनों में विभाव, अपितु 'आलंबन-विभाव' के चित्रण को अतिशय महत्त्व प्रदान करते हैं। वात्सल्य-रति के प्रकाशन में बालक कृष्ण के मनोभिराम सौन्दर्य-चित्र उपलब्ध हैं और राधा-कृष्ण की केलि-क्रीड़ाओं के प्रकीर्तन में अपने आराध्य युगल की तारुण्य से निखरने वाली, रूप-शोभा के सूर ने ललित-ललाम चित्रों की मोहक आरती सजा दी है—

''तरुन श्रीबृषभानु-तनया, तरुन नंद-कुमार।
सूर सो क्यौं बरनि गावै, रूप-रस सुख-सार।'' (3082)

प्रकारान्तर से सूर का मुख्य वर्ण्य रस राधा-कृष्ण के ''रूप-रस'' का ही उप-प्लवन है। रूप-वर्णन में वे 'नख-शिख' परम्परा के पोषक हैं जिसका उन्होंने स्पष्ट कथन भी किया है।[5]

---

1 'वल्लभ पुष्टिप्रकाश', पृ० 277
2, 'रासपंचाध्यायी', छन्द 30-44
3. 'सूरसागर', 1665, 1688, 1772, 1791, 1801 आदि
4. वही, 1754
5. 'वही', 1694

(घ) काव्य-प्रयोजन और सूर

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य-प्रयोजनों का बहुविध निरूपण हुआ है। चतुर्वर्ग-फल-प्राप्ति से लेकर आनन्द की उपलब्धि तक का विस्तीर्ण फलक आचार्यों ने अपनी व्यवस्थाओं में नाप लिया है। कुन्तक का "अन्तश्चमत्कार" परवर्ती ध्वनिवादी आनन्द-वर्धन के निरूपणों में, उपनिषदों में कथित ब्रह्मानुभूति के आनन्द में विलीन हो गया है।[1] मम्मट ने परम्परा-प्राप्त प्रयोजनों का यों समाहार किया है—

"काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परिनिर्वृतये कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे।"

"काव्य यश के लिए, अर्थोपार्जन के लिए, व्यवहार-ज्ञान की प्राप्ति के लिए, अशिव के नाश के लिए, तात्कालिक आनन्द के लिए और कान्तासम्मित मधुर उपदेश के लिए होता है।"

सूर ने काव्य का प्रणयन भक्ति-भाव से किया है। अतएव, उनका अभीप्सित प्रयोजन उसी भक्ति-भूमि में अन्वेषणीय है। यश, अर्थ तथा व्यवहार से सम्बद्ध मम्मट के पहले तीन प्रयोजन उनके लिए अकल्पनीय हैं। चौथा प्रयोजन, अशिव का विनाश अन्य रूप में उन्हें अनुप्रेरित अवश्य करता रहा है। सांसारिक मायाजाल में फँसना और मोह, वासनादि का आखेट बनना सूर जैसे भक्त-कवियों का महान् "अशिव" है जिससे वे त्राण पाने के लिए भगवान् की शरण में जाते हैं। विनय के पदों में सूर बारम्बार "भव-जलधि" से पार उतरने और सांसारिक माया-मोह, तृष्णा-वासनादि से मुक्ति पाने की प्रार्थना भगवान् से करते हैं। उनकी "कृपा-दृष्टि की वर्षा"[2] के लिए वे बराबर विनय करते हैं। अतएव, अन्य भक्त-कवियों की भाँति, सूर के लिए काव्य भगवद्-भक्ति और भवसागर को पार करने का माध्यम है।

हरि की "रस-लीलाओं" का गान प्रारम्भ करने के बाद, सूर मुख्यतः "हरि-चरणों में प्रीति" की आकांक्षा से अनुप्राणित रहे हैं और साथ ही "रस-रीति" की वृद्धि की कामना भी करते रहे हैं। रास के वर्णन में वे कहते हैं—

"कहत सुनत बाढ़त रस-रीति। वक्ता स्रोता हरि-पद प्रीति॥
रास-रसिक-गुन गाइहो।" (1798)

प्रस्तुत कथन सूर के अभीष्ट काव्य-प्रयोजन को, प्रकारान्तरेण, व्यंजित करता है। इसमें वक्ता और श्रोता, कवि और भावक, दोनों के लिए समान उद्देश्य की व्यवस्था-सी की गयी है। मम्मट के उपरिलिखित श्लोक में विद्वानों ने प्रथम चार प्रयोजनों को कवि के लिए और अंतिम दो को भावुक के लिए चरितार्थ्य बताया है। सूर के काव्य-

---

1. "चतुर्वर्गफलास्वाद मप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते।" 'वक्रोक्तिजीवित', 1/5

2. 'सूरसागर', 185

प्रयोजनों में इस प्रकार का कोई 'द्वैत' लक्षणीय नहीं है। "रस-रीति" की वृद्धि और "हरि-पद प्रीति" कवि तथा भावक, दोनों के लिए श्लाघ्य उद्देश्य है। रास का रस "प्रेम का रस" और राधा-कृष्ण की केलियों का 'रस' है। काव्य का महनीय लौकिक प्रयोजन इस 'रस-सागर' में निमज्जन करना है। वात्सल्य-वर्णन में भी सूर ने कहा है कि क्रीड़नशील "यशोदा-नंदन" की "उज्ज्वल" छवियों के दर्शन से जो "रस" प्राप्त होता है, उसके सामने अन्य रस खारे प्रतीत होते हैं।[1] "परम कुशल कोविद लीलानट" की बाल-लीलाओं का वर्णन अपार "सुख" तथा "आनन्द" का उत्पादक है।[2] अतएव, सूर और उनके सहृदय पाठकों के लिए, राधा-कृष्ण की लीलाओं से उपलब्ध 'रस' का आस्वादन 'आनन्द' की सृष्टि करता है।

यहाँ हम सूर के अभीष्ट आनन्द का मम्मट-कथित "परनिर्वृति" से वैलक्षण्य रेखांकित करना आवश्यक समझते हैं। संस्कृत के आचार्यों ने "अन्तश्चमत्कार" से जन्य जिस आनन्द का निरूपण किया है, वह "ब्रह्मास्वाद सहोदर" बताया गया है।[3] स्पष्ट ही, यह औपनिषद् ब्रह्मानुभूति 'रहस्य' की वस्तु बन जाती है और इसी कारण समान सहृदयों के लिए अधिगम्य नहीं है। इसके विपरीत, सूर जिस सुख अथवा आनन्द का कथन करते हैं, वह रहस्यमय नहीं है, अपितु उन रस-लीलाओं के आस्वादन से उपलभ्य है जो "लीला-नट", "रसिक-शिरोमनि" श्रीकृष्ण के द्वारा लौकिक भूमि पर, लौकिक अनुषंगों में, सम्पादित की गयी है। अर्थात्, चाहे भावुक कवि चाहे भावक, दोनों के लिए काव्य का प्रयोजन इस रसगर्भित आनन्द की प्राप्ति है जो लौकिक होते हुए भी अलौकिक है, अथवा अलौकिक होते हुए भी लौकिक है।

सूर ने "भृंगी री, भजि स्याम-कमल-पद" वाले प्रसिद्ध पद में उस "रस" की कामना की है जो कथमपि क्षयिष्णु नहीं है, जिसमें "काम" तथा "ज्ञान" रसमय हो जाते है, जिसकी कल्पना-मात्र से मन प्रफुल्लित होकर "प्रेम-सिन्धु" में डूबने-उतराने लग जाते हैं।[4] रेखांकनीय विन्दु यह है कि सूर का अभीष्ट आनन्द वायवीय नहीं है, प्रत्युत "प्रेम-सिन्धु" में निमज्जित हो जाने का परिणाम है और अपरिमेय "मधुर रस" में निमग्न करने के साथ, श्रीकृष्ण के रस-सिन्धु में प्रविष्ट कर देने वाला है —"अतिहि मगन महा मधुर रस, रसना मध्य समाहि।"[5] भगवद्भजन अथवा भक्ति इसी आनन्द के आस्वादन का सहचरण करती है जिसकी तुलना में "विषय-रस" अत्यन्त हीन-हेय बन जाते हैं।[6] स्मरणीय है कि सूर की भक्ति-योजना में "कृष्ण-रस" की उपलब्धि केन्द्रीय तत्त्व है, "रस" के अभाव में वे कुछ सोच ही नहीं सकते हैं।[7] इसी कारण उनके काव्य से भावक को जो आनन्द प्राप्त होता है, अथवा उन्हें स्वयमेव उसके प्रणयन से जो आनन्द मिलता है, वह 'रसनीय' है, आस्वाद्य है। यह तथ्य उनके अभिलाषित 'आनन्द' अथवा 'रसानंद'

1. 'सूरसागर', 753
2. वही, 772, 754, 775, 783, 766 आदि
3. 'साहित्यदर्पण', 3/2
4. 'सूरसागर', 339
5. वही, 338
6. वही, 337
7. वही, 341

को दुहरा रहा है, संस्कृत काव्यशास्त्रियों के 'ब्रह्मानन्द' से विलक्षण बना देता है। पुनः स्मरणीय है कि "कृष्ण-रस" वायवी नहीं, अपितु लौकिक भूमियों पर, लौकिक परिवेश में निष्पन्न हुआ है और कृष्ण तथा उनकी सहयोगिनी गोपवनिताएँ सामान्य अस्थिमज्जा से घटित, सामान्य रस-बुभुक्षा से अनुप्राणित रही हैं। उल्लेखनीय है कि वल्लभ-सम्प्रदाय में कृष्ण के वियोग में भी आनन्द की उपस्थिति मानी गयी है और उसे 'गणितानन्द' की संज्ञा प्रदान की गयी है।

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में यह निष्कर्ष निकालना असंगत नहीं है कि सूर के अनुसार, काव्य का चरम प्रयोजन उस 'रसानन्द' की निष्पत्ति है जो भक्ति-भूमि को सरसित, परिप्लुत बनाता है। "कान्तासम्मित उपदेश" का प्रयोजन सूर की मूल योजना में किसी महत्त्व का नहीं। यद्यपि उनके द्वारा प्रकीर्तित 'रसलीलाएँ', मधुर काव्य-शैली में सम्प्रेषणीय होने से परोक्षरूपेण, एक प्रकार का 'कान्तासम्मित' उपदेश-दान करती प्रतिभासित हो सकती हैं : वह उपदेश लौकिक व्यवहार-जगत् में प्रेम की वरणीयता है अथवा हरि-लीलाओं के कीर्तन, कथन या श्रवण की अनुप्रेरणा है।

एक अन्य प्रयोजन 'लोक-मंगल' है जो तुलसी के 'मानस' के अनुशीलन से आधुनिक समीक्षकों के काव्यानुचिन्तन में महत्त्वपूर्ण बन गया है। "सुरसरि सम सब कहँ हित होई" वाला तुलसी का कथन आधुनिक उपयोगितावादी दृष्टि से समंजस प्रतीत होता है। सूर ने इस प्रकार का कोई स्पष्ट उद्देश्य उल्लिखित नहीं किया है। मूलतः "स्वान्तःसुखाय" उन्होंने पद-रचना की है। तथापि, लोक-भावना से जुड़े होने के कारण, लोकमंगल का प्रयोजन परोक्षरीत्या अवश्य उन्हें अनुप्राणित कर रहा है। इस लोकमंगल की कुंजी उन्हें प्रेम के आदान एवं स्वीकरण में प्राप्त हुई है। "प्रेम बँध्यौ संसार",—उनके सम्पूर्ण काव्य-प्रणयन की सारभूत देन है। अतएव, परोक्षतया लोक-मंगल का प्रयोजन भी सूर स्वीकारते हैं, यद्यपि उसे मुखर महत्त्व उनकी मूल्य-सरणि में नहीं मिल पाया है।

(ङ) माधुर्य-रति के अनुषंग और सूर

'सूरसागर' में माधुर्य-रति अथवा श्रृंगार-रस की, जिसे रूप गोस्वामी ने 'मधुर रस' या 'उज्ज्वल रस' कहा है, पयस्विनी तरंगायमान है। कृष्ण तथा राधा, दोनों 'रसिक-रसिकिनी' हैं और "कोक-कला" में "व्युत्पन्न" हैं। सूर 'रसवादी' कवि हैं और यह सिद्ध है कि उन्हें भारतीय काव्य-परम्परा का सम्यक् ज्ञान है। अतएव, श्रृंगार रस के सन्दर्भ में हावभावादि तथा नायक-नायिका के संबंध में जो निरूपण साहित्यशास्त्र में हुए हैं, उनका प्राञ्जल बोध उन्हें प्राप्त है। गौड़ीय सम्प्रदाय की भाँति वल्लभ-सम्प्रदाय में भी काव्यशास्त्रीय ग्रंथों की व्यवस्थित रचना हुई थी, इसका प्रमाण यद्यपि नहीं मिल सका है। लेकिन, माधुर्य-रति के उपवर्णन में निश्चयमेव सामान्य साहित्यशास्त्रीय मान्यताएँ अथवा रूढ़ियाँ सूर तथा अन्य अष्टछापीय भक्त-कवियों को मान्य थीं, इसमें विवाद का अवकाश नहीं है। एक बार यह स्वीकार कर लेने के बाद कि सूर के "स्वामी-स्वामिनी" रसिक तथा कोक-कला "विशारद" हैं, कवि के सामने श्रृंगार रस की समग्र शास्त्रीय व्यवस्थाएँ खुल पड़ी हैं और उसने लीला-वर्णन में उनका भरपूर उपयोग किया है। यह उपयोग इस तथ्य की व्यंजना करता है कि सूर की काव्य-विषयिणी मान्यताओं की परिधि में ये सभी रूढ़ियाँ एवं पद्धतियाँ सम्मिलित हैं।

(च) नायिका-वर्णन

शास्त्रों में नायिका-भेद-निरूपण का समारोह दृष्टिगोचर होता है, धर्मानुसारी, मनोदशानुसारी तथा अवस्थानुसारी किये गए भेदों की संख्या सैकड़ों में पहुँच गयी है। प्रथम मानक के अनुसार 'स्वकीया', 'परकीया' तथा 'सामान्या' तीन कोटियाँ नायिकाओं की होती हैं। राधा अथवा गोपियाँ दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक दृष्टि से कृष्ण की 'स्वकीया' हैं, किन्तु 'सूरसागर' के मधुर-मसृण प्रेम-जगत् में वे सभी प्रायः 'परकीया' के सौरभ से सुवासित हो उठी हैं। व्रजनारियों में कोई 'सामान्या' नहीं है, यद्यपि वे स्वयं कुब्जा को 'सामान्या' (सामान्य रसिकों की उपभोग्या) समझती हैं।[1] 'मुग्धा', 'मध्या' तथा 'प्रगल्भा' वयःक्रमानुसारी भेद हैं। 'गर्विता', 'अन्यसंभोगदुःखिता' और 'मानवती' के भेद मनोदशानुसारी हैं, किन्तु सूर ने अन्य नवीन भेदों का भी निरूपण किया है। अवस्थानुसारी भेदों में 'स्वाधीन-पतिका', 'वासकसज्जा', 'विरहोत्कंठिता' इत्यादि एकादश नायिकाएँ गृहीत हुई हैं। सूर ने उन सभी नायिकाओं का वर्णन किया है और अपनी ओर से नवीन भेदों का निरूपण भी किया है।

'वयःसन्धि-प्राप्ता' तथा 'नवलअनंगा' मुग्धाओं के; 'विचित्रसुरता', 'प्ररूढ़स्मरा' इत्यादि मध्याओं के और 'रति-कोविदा', 'आनंद-सम्मोहिता' इत्यादि प्रगल्भाओं या प्रौढ़ाओं के अनेक चित्र 'सूरसागर' में 'उपलब्ध होते हैं।[2] मनोदशानुसारी प्रकारों में 'मदनाहृता', 'प्रेमदीना', 'प्रेमरस-छकी',[3] 'रूपासक्ता' इत्यादि नवीन नायिकाएँ चित्रित हुई हैं। रास-प्रकरण की नायिकाएँ प्रायः 'मदनाहृता' और 'प्रेम-दीना' हैं।[3] "रीती मटुकी सीस धरैं" जैसे दानलीला-विषयक पदों में 'प्रेमरस-छकी' नायिकाओं के चित्र उपलब्ध होते हैं।[4] 'अभिलाष-हेतुक' विप्रलंभ के अंतर्गत प्राप्त वैसे पद जिनमें गोपियाँ श्याम के रूप-दर्शन हेतु तरसती हैं, 'रूपासक्ता' नायिका के दृष्टान्त हैं[5] जिनका निरूपण पूर्वतन आचार्यों ने नहीं किया है। 'प्रेमासक्ता' नायिकाएँ सूर के प्रणय-लोक को विशेषित करती हैं।[6] वैसे ही 'आत्म-समर्पणशीला' नायिकाएँ सूर की व्रजनारियों में प्रायः उपलब्ध होती हैं। एक चित्र नीचे उद्धृत है—

"मन यह कहति देह बिसरायैं।
यह धन तुमहीं कौं सँचि राख्यौ, इहिं लीजै सुख पायैं॥
जोबन-रूप नहीं तुम लायक, तुमकौं देति लजाति।
ज्यौं बारिधि आगैं जल-किनुका, बिनय करति इहिं भाँति॥
अमृत-सर आगैं मधु रंचक मनहिं करति अनुमान।'
सूर स्याम सोभा की सींवाँ, तिन पटतर का आन॥' (2208)

---

1. "बै बहुरवन, नगर की सोऊ।
तैसोई संग बन्यौ अब दोऊ॥" ('सूरसागर', 3762)
2. 'सूरसागर', 2065, 2670, 2296, 2320, 3228, 1819, 2314
3. वही, 1611, 1638
4. वही, 224 आदि
5. वही, 2447, 2449 आदि
6. वही, 2533, 2483

'प्रेमगर्विता', 'रूपगर्विता', 'सुरतगर्विता' इत्यादि का अनेकशः वर्णन सूर ने किया है। परकीयाओं के अंतर्गत 'मुदिता', 'विदग्धा', 'गुप्ता' इत्यादि के चित्र उपनिबद्ध हुए हैं।[1] 'कुलटाएँ' तथा 'अनुशयनाएँ' 'सूरसागर' में उपलब्ध नहीं हैं। सूर ने 'गुप्ताओं' में एक ऐसी कोटि का वर्णन किया है जो अपनी प्रीति अथवा परितृप्ति को प्रिय-विषयक उपालंभों से छिपाना चाहती है। 'सूरसागर' की गोपियाँ माखनलीला, पनघटलीला प्रभृति प्रकरणों में यशोदा को कृष्ण की "अचगरी" के विषय में उपालंभ देती हैं, यद्यपि वे मन से भीतर-भीतर उनकी छेड़खानियों से प्रसन्न वा हर्षित हैं। ऐसी प्रेमिकाएँ "हर्षोपालंभ-गुप्ता" की पृथक् कोटि में रखी जा सकती हैं।[2]

अवस्थानुसारी नायिकाएँ एकादश कोटियों में आती हैं, यथा—'स्वाधीनपतिका', 'वासकसज्जा', 'विरहोत्कंठिता', 'खंडिता', 'कलहान्तरिता', 'विप्रलब्धा', 'प्रोषित-पतिका', 'अभिसारिका' इत्यादि। इनमें से सभी के चित्र 'सूरसागर' में अवतीर्ण हुए हैं। 'विरहोत्कंठिता' या 'उत्कंठिता' नायिका के चित्र निम्न पदों में अंकित हुए हैं—

"राधा रचि-रचि सेज सँवारति।
तापर सुमन सुगंध बिछावति, बारंबार निहारति।" आदि (2647)
"चन्द्रावली स्याम-मग जोवति।
कबहुँ सेज कर झारि सँवारति, कबहुँ मलय-रज भोवति॥" आदि (3116)

'अभिसारिकाओं' में, सामूहिक रूप से प्रियमिलन-हेतु चन्द्रिका-चर्चित विभा-वरी में अभिसार करने वाली व्रजतरुणियाँ 'शुक्लाभिसारिकाओं' की विशिष्ट कोटि का उन्मीलन करती हैं जो सामान्य साहित्य में उपलब्ध नहीं है।

दानलीला के प्रसंग में गोप-वनिताओं का एक वह विलक्षण स्वरूप उद्घाटित हुआ है जिसमें कृष्ण के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण करने के अनन्तर वे परितृप्त होकर कृष्ण तथा उनके गोप-मित्रों को प्रसन्नतापूर्वक दही-माखन खिलाती हैं। ऐसी गोपियाँ, 'परि-तृप्तकामा' कही जा सकती हैं। नीचे ऐसी नायिका का एक चित्र पूरा का पूरा उद्धृत करने का लोभ-संवरण नहीं हो पा रहा है—

"मेरो दधि कौ हरि स्वाद न पायौ।
जानत इन गुजरिनि कौ सो हैं, लयौ छिड़ाइ मिलि ग्वालिनि खायौ॥
धौरी धेनु दुहाइ छानि पय, मधुर आँचि मैं औंटि सिरायौ।
नई दोहिनी पोंछि पखारी, धरि निरधूम खिरनि पै तायौ॥
तामैं मिलि मिसिरी मिस्रित करि, दै कपूर-पुट जावन नायौ।
सुभग ढकनियाँ ढाँकि बाँधि पट, जतन राखि छीकैं समुदायौ।
हौं तुम कारन लै आई गृह, मारग मैं न कहूँ दरसायौ।
सूरदास-प्रभु रसिक-सिरोमनि, कियौं कान्ह ग्वालिनि मन-भायौ॥" (2218)

1. 'सूरसागर', 2548, 2054, 1299, 1352, 2319 आदि
2. वही, 2106, 2039 आदि

ऊपर के संक्षिप्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि सूर को नायिका-परम्परा स्वीकार्य है और उन्होंने नवीन नायिकाओं का भी वर्णन किया है जो उनकी रससिद्ध काव्य-चेतना की व्यंजना करता है।

अलंकार-हाव-चित्रण

शृंगार अथवा माधुर्य-रति के उपवर्णन में आचार्यों ने नायिकाओं के सत्वज 'अलंकारों' का चित्रण किया है। ये अलंकार उद्दीपन तथा अनुभाव, दोनों कोटियों में समाविष्ट हो सकते हैं। विश्वनाथ ने ऐसे 28 अलंकार गिनाये हैं। इनमें 'भाव', 'हाव' तथा 'हेला' "अंगज" कहलाते हैं क्योंकि उनका सम्बन्ध शरीर से है। 'शोभा', 'कान्ति', 'दीप्ति', 'माधुर्य', 'प्रगल्भता', 'औदार्य' तथा 'धैर्य'—ये सात "अयलज" हैं क्योंकि ये यत्न से साध्य नहीं हैं। इनके अतिरिक्त 'लीला', 'विलास', 'विच्छित्ति' 'बिब्बोक', 'किलकिञ्चित', 'विभ्रम', 'ललित', 'मद', 'विहृति', 'तपन', 'मौग्ध्य', 'विक्षेप', 'कुतूहल', 'हसित', 'चकित' और 'केलि'—ये अठारह "स्वभावज" कहें गये हैं क्योंकि ये निसर्गतः युवती नायिकाओं में दृष्टिगोचर होते हैं।[1] भानुदत्त ने इन अठारह स्वभावजों में प्रथम दस को 'हाव' की अभिधा प्रदान की है जो अंगजों में गृहीत 'हाव' से भिन्न हैं। सूर ने इन सभी अलंकारों का चित्रण किया है। वयःसंधि में उत्पन्न होने वाला काम-विकार 'भाव', भृकुटी-नेत्रादि के व्यापारों से संभोगेच्छा के प्रकाशक मनो-विकार 'हाव' और अतिस्फुट मनोविकार 'हेला' कहे गये हैं। 'हेला' का उदाहरण निम्न पद में द्रष्टव्य है—

"नागरि गागरि जल भरि ल्यावै।
सखियनि बीच भर्‌यो घर सिर पर, तापर नैन चलावै॥
डोलति ग्रीव, लटति नकबेसरि, मंद-मंद गति आवै॥
भृकुटी धनुष, कटाच्छ बान, मन पुनि-पुनि हरिहिं लगावै॥" आदि (2056)

'शोभा', 'कान्ति' एवम् 'दीप्ति' प्रायः समानार्थक समझे जा सकते हैं। लेकिन साहित्यशास्त्रियों ने इनमें सूक्ष्म भेद किया है और सूर ने इनके चित्र अंकित किये हैं। रूप, यौवन, सुखभोग आदि से सम्पन्न शरीर की सुन्दरता 'शोभा' है; काम के उन्मेष से अतिविस्तीर्ण शोभा 'कान्ति' है और अतिविस्तीर्ण कान्ति 'दीप्ति' है।[2] "राधे तेरौ बदन बिराजत नीकौ" में 'शोभा'; "आजु राधिका रूप अन्हायौ" में 'कान्ति' और "भोरहिं सोभा सिर सिन्दूर" में 'दीप्ति' प्रतिबिम्बित हुई है।[3] सभी अवस्थाओं में रमणीयता की प्रतीति माधुर्य है। "भामिनि सोभा अधिक भई री" में यह 'माधुर्य' चित्रित हुआ है।[4] अनुराग के अतिशय के कारण प्रिय का अनुकरण 'लीला'; प्रियदर्शन-स्मरण इत्यादि से हँसने, बोलने इत्यादि के वक्र व्यापार 'विलास'; अल्पभूषण, वसन इत्यादि से की गयी वेश-रचना 'विच्छित्ति'; मन में प्रेम के रहते हुए भी प्रिय की उपेक्षा 'बिब्बोक'; प्रिय के सन्निकर्ष में अथवा अन्य स्थितियों में कुछ मुस्कराहट, कुछ रोदन, कुछ त्रास आदि 'किलकिञ्चित',; प्रिय की कथा व चर्चा के समय अनुराग छिपाने

1. 'साहित्यदर्पण', 3/89-92
2. 'साहित्यदर्पण', 3/95-96
3. 'सूरसागर', 2300, 3329, 3286
4. वही, 3282

के लिए प्रेमिका का कान खुजलाना आदि 'मोट्टायित' और केश, स्तन, अधरादि के ग्रहण करने से हर्ष होने पर भी घबराहट या किंचित् क्रोध 'कुट्टमित' कहलाता है।[1] 'सूरसागर' की नायिकाओं में उन सभी 'स्वभावजों' का चित्रण उपलब्ध होता है। एक-दो चित्र दृष्टान्त-रूप में नीचे उद्धृत हैं—

बिब्बोक : "बरज्यौ नहिं मानत तुम नैंकहुँ, उलझत फिरत कान्ह घर ही घर।
मिस ही मिस देखत जु फिरत हौ, जुवतिनि-बदन कहौ काकै बर॥" (2691)

किलकिञ्चित : "सोच पर्‌यौ मन राधिका, कछु कहत न आवै।
कछु हरषै, कछु दुख करै, मन मौज बढ़ावै।" इत्यादि (2662)

मोट्टायित : "मूँदि रहे प्रिय प्यारी-लोचन।
अति हित बेनी उर परसाए, वेष्ठित भुजा अमोचन॥" इत्यादि (2821)

कुट्टमित : "आजु रंग फूले कुँवर कन्हाई।
कबहुँक अधर दसन भर खंडत, चाखत सुधा मिठाई॥

× × ×

मुख निरखति सकुचति सुकुमारी, मनहीं मन अति भावत।
तब प्यारी कर गहि मुख टारति, नैंकु लाज नहिं आवत।
सूरदास-प्रभु काम सिरोमनि, कोक-कला दिखरावत॥" (3075)

अन्य स्वभावजों के चित्र भी सूर ने अंकित किये हैं जिनके उदाहरण हम यहाँ जानबूझ कर उद्धृत नहीं कर रहे हैं। किन्तु अलंकार-प्रसंग समाप्त करने के पूर्व हम एक विशिष्ट पद की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं जिसमें एक जाति-विशेष के 'किलकिञ्चित' का चित्रण हुआ है—

"राधेहि मिलेहुँ प्रतीति न आवति।
जदपि नाथ विधु-बदन बिलोकत दरसन कौ सुख पावति॥
भरि भरि लोचन रूप परम निधि उर में आनि दुरावति।
विरह बिकलमति दृष्टि दुहूँ दिसि सँचि सरधा ज्यौं धावति॥

× × ×

कबहुँक करति विचार कौन हौं, को हरि कै हिय भावति।
सूर प्रेम की बात अटपटी, मन तरंग उपजावति॥" (2741)

राधा के इस कथन में विरहोन्मुख 'किलकिञ्चित' की व्यंजना हुई है जो प्रेम की एक विशिष्ट दशा की बोधक है। इसे रूप गोस्वामी का 'प्रेमवैचित्य' नहीं कहा जा

1. 'साहित्यदर्पण', 3/98-103

सकता। इसमें 'चकित', 'विक्षेप', 'मौग्ध्य' एवम् 'तपन' के अलंकार भी मिश्रित हो गये हैं जिससे इस चित्र का माधुर्य बढ़ गया है।

वर्तमान प्रकरण की समाप्ति में हम यह कहना चाहते हैं कि सूर ने नायिकाओं के वर्णन में चमत्कारप्रियता के बदले स्वाभाविक सौन्दर्य को ही अधिक महत्त्व दिया है और नवीन भेदों का चित्रण कर, नायिका-भेद की शास्त्रीय परम्परा को समृद्ध बनाया है। अलंकारों के चित्रण में भी सूर के भावुक भक्त-हृदय की सहज, किन्तु ललित अभिव्यक्ति हुई है। हमारी ऐसी प्रतीति है कि इन चित्रों में "सूर का मन रम जाता है, अन्तःकरण द्रुत-दीप्त बन जाता है और सरस्वती स्वयं उनकी जिह्वा पर आसन जमा लेती है; और तब, ये हाव-भाव के चित्र अत्यन्त सहज वैभव से निकलने लगते हैं।"[1]

(च) रसेतर सिद्धान्त और सूरदास

इसके अतिरिक्त, अन्य काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों के प्रति सूर का दृष्टिकोण क्या था, इसे भी उनकी पद-रचना से ही अनुमानित किया जा सकता है।

'सूरसागर' में रूपक, उपमा, व्यतिरेक तथा उत्प्रेक्षा अलंकारों की भरमार दीखती है। अन्य अलंकारों की भी सुष्ठ योजना हमारा ध्यानाकर्षण करती है। नाद-सौन्दर्य उसके पदों में अतीव मनोहर है। इस सबसे यह प्रतीत होता है कि सूर 'अलंकार-तत्त्व' को भी 'रस-तत्त्व' के सहयोगी-रूप में महत्त्वपूर्ण समझते हैं। तथापि, वे 'अलंकारवादी' नहीं हैं,'रसवादी' हैं। उनके द्वारा नियोजित अलंकार उनकी भाव-सम्पदा को निखारने के निमित्त ही मूल्यवान् समझे जायँगे। एक पद भी ऐसा उपलब्ध नहीं होता जिसमें अलंकार का प्रयोग शुद्ध चमत्कार-दृष्टि से किया गया हो। उनके लम्बे सांगरूपकों में कवि-सुलभ सावधानी तथा औचित्य-निर्वाह के दर्शन होते हैं। उत्प्रेक्षाएँ अतीव सटीक तथा मनोरम बनी हैं। अन्य शब्दगत एवम् अर्थगग अलंकारों के विषय में भी यही स्थिति दीख पड़ती है। अतएव, यह मानना युक्तिसंगत होगा कि सूर आनन्दवर्धन के साथ यही मानते हैं कि रस-भावादि के तात्पर्य का आश्रय ग्रहण करके ही अलंकारों का सन्निवेश समीचीन है और तभी वे अपनी सार्थकता सिद्ध कर सकते हैं—

"रस भावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम्।" (ध्वन्यालोक)

'रस-तत्त्व' के जुड़े होने के कारण ऐसा समझना अयौक्तिक नहीं होगा कि सूर 'रसध्वनि' के समर्थक हैं। किन्तु, ध्वनि की चमत्कारी गुत्थियों में उनका विश्वास नहीं। रसाश्रित होने के कारण उनका 'ध्वनि-तत्त्व' सहजतया हृदयस्पर्शी है, सहजतया बोधगम्य है। कूट पदों में अवश्य तनिक चमत्कारप्रियता प्रतिभासित होती है, किन्तु उन्हें उनकी मौलिक प्रतिभा का प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता। रस की "व्यंग्यता" उन्हें मान्य है, किन्तु रस-तत्त्व को प्रांजल एवं मर्मस्पर्शी बनाने के लिए ही। "रस-रीति" की प्रयोग-बहुलता से यह ध्वनि निकलती समझी जा सकती है कि सूर 'रीति-सम्प्रदाय' की स्थापनाओं से भी अवगत हैं और उन्होंने रस को प्रस्फुट बनाने के लिए 'वैदर्भी' आदि आवश्यक रीतियों का उपयोग किया है। अपने आराध्य के "गुणों" का गान करते-करते

---

1. 'सूर का शृंगार-वर्णन' (लेखक कृत), द्रष्टव्य, पृ० 230-269 (द्वितीय खण्ड

वे 'प्रसाद' तथा 'माधुर्य' नामक काव्य-''गुणों'' के परिपोषक बन गये हैं। लाक्षणिक प्रयोगों तथा वैदग्ध्यपूर्ण ''भंगी-भणिति'' का प्रयोग 'सूरसागर' में इतनी प्रचुरता से उपलभ्य है कि यह सद्यः स्वीकारा जा सकता है कि सूर 'वक्रोति सम्प्रदाय' के मूलभूत तत्त्वविधान से भी भली-भाँति अवगत हैं।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि सूर की कारयित्री प्रतिभा के उज्ज्वल प्रकाश में क्या अलंकार, क्या ध्वनि, क्या रीति एवं गुण और क्या वक्रोक्ति सभी शास्त्रीय सम्प्रदायों का समुचित सहयोग निष्पन्न हुआ है और यह सहयोग पूर्णतः उनके अभीप्सित 'रस-तत्त्व' के उपकार, उपलालन एवम् परिप्लवन में ही नियोजित रहा है।

सूर ''अविचारितरमणीय'' के समर्थक हैं, ''रमणीयार्थ प्रतिपादक'' पदयोजना उनकी रचनाधर्मिता को अनुप्राणित करती रही है। राजशेखर की अभिधा में, सूर ''रसकवि'' हैं और ''रसनिर्भरता'' ही उनकी काव्य-विपंची को क्वणित करती पायी जाती है।

(छ) काव्य-हेतु और सूरदास

संस्कृत आचार्यों ने काव्य-हेतुओं का निरूपण करते हुए सामान्यतः 'प्रतिभा', 'व्युत्पत्ति' तथा 'अभ्यास' को काव्य का कारण बताया है। भट्टतौत के अनुसार नव-नव उद्भावनाएँ करने वाली प्रज्ञा अथवा बुद्धि 'प्रतिभा' है : ''प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।'' अभिनवगुप्त अपूर्व वस्तुओं के निर्माण में समर्थ प्रज्ञा को 'प्रतिभा' कहते हैं : ''अपूर्ववस्तु निर्माणक्षमा प्रज्ञा।'' मम्मट ने प्रतिभा को ही 'शक्ति' कहा है। शास्त्रादि के अवलोकन से प्राप्त निपुणता 'व्युत्पत्ति' है। गुरु-उपदेश से काव्य-रचना में बार-बार प्रवृत्त होना 'अभ्यास' है।

सूर ने अन्य विन्दुओं के समान काव्य-हेतुओं का भी कोई प्रत्यक्ष कथन नहीं किया है। लेकिन, 'सूरसागर' के पहले ही पद से उनकी मान्यता का अनुमान किया जा सकता है। जब वे भगवान् की कृपा से पंगु के गिरि लाँघने, अंधे के सब कुछ दिखायी पड़ने, बहरे के सुनाई पड़ने और निष्कंचन के सिर पर छत्र धारण करने के कथन के साथ, ''गूँग पुनि बोलै'' का भी उल्लेख करते हैं, तब वह निरर्थक नहीं समझा जाना चाहिए। भौतिक अन्धता उनके लिए ज्वलन्त तथ्य थी ही। अतः, गूँगे के बोलने लगने में भक्त सूर का यह विश्वास ध्वनित है कि काव्य में वाणी का उद्भास भगवत्कृपा से होता है। अर्थात्, हरि-कृपा 'काव्य को हेतु' है—सूर ऐसा मानते हैं।

दूसरा परोक्ष हेतु उनके लिए 'गुरु-कृपा' है। कम से कम हरिलीला-गान की प्रेरणा तो गुरु-कृपा का ही प्रसाद है जिसका स्पष्ट कथन सूर ने किया है—

''धनि सुक मुनि भागवत बखान्यौ।
गुरु की कृपा भई जब पूरन, तब रसना कहि गान्यौ।'' (1791)

× × ×

''कह्यौ भागवत सुनु अनुराग। कैसैं समुझैं बिनु बड़ भाग॥
श्री गुरु सकल कृपा करी॥ (1798)

— - —

अध्याय 12

सूरसागर का अंगी रस

(क) अंगी रस की अवधारणा

'सूरसागर' के अंगी रस की जब मैं बात करता हूँ, तब स्पष्टतः मेरा अभिप्राय उसके दशम स्कन्ध से है। कारण कि वही समस्त सूरसागर का सारभूत है और उसी के सहारे "पुष्टिमार्ग के जहाज" सूरदास की कीर्ति स्थापित है।

'ध्वन्यालोक' में व्यवस्था दी गयी है कि जो कवि प्रबन्धों में "छायातिशय" का योग चाहता है, उसके लिए अनेक रसों में से किसी विवक्षित रस को अंगी रूप में विनिविष्ट करना चाहिए। यह अंगी रस वही होता है जो बार-बार अनुसंधीयमान होने के कारण रचना का प्रधानभूत स्थायी रस बनता है।[1]

'सूरसागर' यद्यपि कीर्त्तन-पदों का संकलन है, तथापि उसमें कृष्ण-कथा के आश्रयण से एक प्रकार की प्रबन्धात्मकता भी वर्तमान है। पुनः, मुक्तकीय कोष-काव्यों, यथा— गाथासप्तशती, आर्यासप्तशती, बिहारी-सतसई आदि में भी किसी मूल रस की स्थिति स्वीकार की जा सकती है। अतएव, 'सूरसागर' के 'अंगी रस' की स्थापन-चेष्टा असंगत नहीं समझी जायेगी।

(ख) कृष्णरस : शान्तरस : भक्तिरस

हमने पूर्वप्रकरण में दिखाया है कि सूर का प्रकाम्य रस 'लीला-रस' है जिसे प्रकारान्तर से 'कृष्ण-रस', 'प्रेम-रस' अथवा 'केलि-रस' कहा गया है। लेकिन, सूर तथा अन्य उन जैसे "कृष्ण-रस" का गान करने वाले कवि भक्त थे। भक्ति की एक विशेषता

---

1. "प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां नानारसनिबन्धने।
एको रसोऽङ्गीकर्त्तव्यस्तेषामुत्कर्षमिच्छता॥" (3/21)

—"प्रबन्धेषु महाकाव्यादिषु नाटकादिषु वा विप्रकीर्णतयाङ्गाङ्गिभावेन बहवो रसा उपनिबध्यन्त इत्यत्र प्रसिद्धौ सत्यामपि यः प्रबन्धानां छायातिशययोगमिच्छति तेन तेषां रसानामन्यतमः कश्चिद्विवक्षितो रसोऽङ्गित्वेन विनिवेशयितव्यं इत्ययं युक्ततरो मार्गः।" (3/21—वृत्ति)

× × × ×

—"प्रबन्धेषु प्रथमतरं प्रस्तुतः सन् पुनः पुनरनुसंधीयमानत्वेन स्थायी यो रसस्तस्य सकलबन्धव्यापिनो रसान्तरैरन्तरालवर्तिभिः समावेशो यः स नाङ्गितामुपहन्ति।"
(3/22-वृत्ति)

होती है सांसारिक विषय-सुखों में विरक्ति और भगवान् में सर्वातिशायिनी अनुरक्ति। पहली प्रवृत्ति 'शान्तरस' की जननी बनती है जिसका स्थायी भाव "तृष्णाक्षय-सुख" है। आनंदवर्धन ने 'महाभारत' में जिस "निगूढ़" एवम् "रमणीय" अर्थ की स्थापना की है, वह 'भगवान् वासुदेव' की एकमात्र, पारमार्थिकी 'नित्य' सत्ता की व्यंजना का पर्याय है। 'महाभारत' में शान्तरस का अंगित्व स्थापित करते हुए, उन्होंने जो निरूपण-शैली अपनायी है, उसमें शान्तरस 'भगवद्-रति' की प्रकारान्तरेण प्रेरणा प्रदान करता है जो 'भक्ति' की मूल वस्तु है।[1] अतएव, यह माना जा सकता है कि शान्तरस विकसित होते-होते, समयान्तर में स्वतंत्र 'भक्तिरस' का उद्भावक बन गया है। अभिनवगुप्त से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक की विशद् काव्यशास्त्रीय परम्परा में भक्ति-रस का किसी-न-किसी रूप में विवेचन उपलब्ध होता है। मधुसूदन सरस्वती तथा रूप गोस्वामी जैसे वैष्णव आचार्यों ने समारोहपूर्वक भक्ति रस का निरूपण किया है। रूप गोस्वामी ने इसकी व्याख्या यों की है: "श्रवण, दर्शनादि से भक्तों के हृदय में आस्वादित होने वाली कृष्ण-विषयिणी रति जो स्थायीभाव है, वही विभावों, अनुभावों, सात्त्विकों और व्यभिचारियों के द्वारा भक्तिरस बन जाती है।"[2]

वल्लभ-सम्प्रदाय में 'भक्तिरस' के निरूपक किसी व्यवस्थित प्रयास का अद्यापि पता नहीं चल सका है। वल्लभाचार्य ने भक्तिरस को "धर्मसहित" और अन्य साहित्य-रसों को "केवल" रस बताया है।[3] 'वेणुगीत' की व्याख्या में उन्होंने यह भी कहा है कि श्रृंगार ही रस है, यदि वह 'धर्मसहित' हो—"श्रृङ्गार एव सर्वरसाः अभावे हि रसिकानां रुचिनोत्पाते अतएव विचित्रगीतम्"।

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में, 'सूरसागर' का मूल रस 'भक्तिरस' कहा जा सकता है, अथवा वल्लभ के शब्दों को मिलाकर, उसे "धर्मसहित श्रृंगार" भी कहा जा सकता है। रूप गोस्वामी ने 'उज्ज्वलनीलमणि' में उसे "मधुररस" अथवा "उज्ज्वल-रस" भी कहा है। कृष्णोपासक अन्यान्य सम्प्रदायों में भी "उज्ज्वलरस" का उल्लेख हुआ है। अतः, 'सूरसागर' के रस को 'मधुररस' या 'उज्ज्वलरस' भी कहा जा सकता है। सूर ने, जैसा पहले कहा गया है, "कृष्ण-रस" तथा "केलिरस" का कथन किया है। अतएव, विकल्पतः 'सूरसागर' का अंगी रस "कृष्ण-रस" या "केलि-रस" की अभिधा से अभिहित किया जा सकता है।

परन्तु, हमारी दृष्टि में, उपर्युक्त रसों में से कोई भी 'सूरसागर' का मूल रस नहीं माना जा सकता। 'भक्ति-रस' का प्रसार अत्यन्त व्यापक है और 'मधुर' अथवा

---

1. 'ध्वन्यालोक,' चौखंबा, 1965, पृ० 572-75

2. "विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः॥
स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः।
एषा कृष्णारतिः स्थायी भावो भक्तिरसो भवेत्॥"
—'भक्तिरसामृतसिन्धु', दक्षिणविभाग, विभाव लहरी, 5-6

3. "रसो हि द्विविधः, धर्मसहितः केवलश्च, केवलो नाट्यो, प्रसिद्धो धर्मसहितो।"

4. 'वेणुगीतम्', 'भागवत', श्लोक 10/21/12 का भाष्य।

'उज्ज्वल' रस केवल माधुर्य-रति का प्रकाशक है। साथ ही, "कृष्ण-रस" में रस का उपभोक्ता किंवा आलंबन एकवचनात्मक हो जाता है, जबकि 'सूरसागर' के 'प्रेमरस' के उपभोक्ता वा आस्वादयिता बहुवचनात्मक हैं। 'शृंगाररस' का विकल्प भी अस्वीकार्य होगा, क्योंकि उसमें अतिशय लौकिकता या सांसारिकता का अवभास होता है। "धर्म-सहित शृंगार" में विशेषण-विशेष्य की अपेक्षा होती है, अतः उसे भी स्वीकारना युक्ति-संगत नहीं दीखता। "केलि-रस" के "केलि" में सापेक्षिक संकीर्णता की गंध आती है। अतएव, इसे भी 'सागर' का केन्द्रीय रस नहीं माना जा सकता। हमने पूर्व परिच्छेद में दिखाया है कि 'वार्ता' के साक्ष्यानुसार, श्रीनाथजी ने सूर को "लीला-रस" का अनुभव करने का निर्देश दिया था। सूर ने मूलतः भगवान् की सगुण लीलाओं का ही गान किया है, उसमें भी 'भागवत' की दशमस्कन्धीय पूर्वार्द्ध की ही लीलाएँ प्रमुख रही हैं। अतएव, हमारी स्थापना है कि 'सूरसागर' का अंगी रस "लीला-रस" है।

(ग) लीला-रस : सूरसागर का रस

कोशकार ने 'लीला' शब्द की यों व्युत्पत्ति दी है: "लयनमिति ली-सम्पदादित्वात् क्विप्। लियं लातीति। ला+कः।" और इसका अर्थ किया है—क्रीड़ा, केलि, अथवा विलास। 'सुबोधरत्नाकर' में 'लीला' की परिभाषा में कहा गया है: "अनायासेन हर्षात् क्रियमाणा चेष्टा या सा लीला।" अर्थात्, बिना प्रयासपूर्वक की गयी चेष्टा 'लीला' कही जायेगी। वल्लभाचार्य ने भागवत के तीसरे स्कन्ध की 'सुबोधिनी' टीका में भगवान् की लीला की व्याख्या करते हुए "विलास की अतृप्यमाण इच्छा" को 'लीला' बताया है। उनका कथन है कि "यह लीला कार्य के व्यतिरेक से कृति-मात्र है। इससे उत्पन्न कार्य का कोई प्रयोजन नहीं होता। इसमें कर्त्ता को प्रयास भी नहीं करना पड़ता है। किन्तु, अन्तःकरण में आनन्दमय उल्लास से पूर्ण कार्यजनन के समान कोई क्रिया उत्पन्न होती है। लीला का लीलानन्द के अतिरिक्त कोई अन्य उद्देश्य नहीं होता। यह लीला भगवान् की नित्यलीला का विलास है।" अवधेय है कि पुष्टि-मार्ग में दो प्रकार की लीलाएँ स्वीकृत हैं: पहली, परोक्ष लीला जो गोलोक में चलती रहती है; और दूसरी, प्रत्यक्ष लीला जो भगवान् के अवतार लेने के बाद भूलोक में उतर आती है। अवतार की स्थिति में यही 'परोक्ष' गोलोक-लीला 'प्रत्यक्ष' ब्रजलीला बन जाती है।

वल्लभ ने "लीलामुक्ति" को भक्ति की सर्वोत्कृष्ट अवस्था बतायी है। यह लीलाजन्य आनन्द उनके अनुसार, प्रेम या काम पर आधारित है। 'प्रेम-भक्ति' सभी भक्तिभेदों में सारभूत तथा काममूलक है। इस प्रेम का आधार काम है। वल्लभ ने इसी कामभाव को लीलानन्द का साधन बताया है, यथा—

"कामेन पूरितः कामः संसारं जनयेत्स्फुटम्।
कामभावेन पूर्णस्तु निष्काम स्यात् न संशयः॥
आतो न कापि मर्यादा भग्ना मोक्षफलापि च।
अतः एवगतो लोको निष्काम सर्वथा भवेत्॥"

(षोड्शग्रंथाः, पृ० 4)

अतएव, उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'लीला' केलि,

क्रीड़ा अथवा विलास की असीम अभिलाषा से पूर्ण, अनायास व्यापार है जिसका लीला के अतिरिक्त अन्य कोई उद्देश्य नहीं है और जिसमें अभिव्यक्त प्रेम 'काम' अथवा 'कामना' से रसार्द्र है। 'सूरसागर' दशमस्कंध का अंगी रस यही 'लीला-रस' है जिसमें न 'भक्तिरस' की व्यापकता है, न ही 'मधुररस' की एकदेशीयता और न 'कृष्ण-रस' की एकवचनात्मकता।

(घ) लीलारस का शास्त्रीय स्वरूप

साहित्यशास्त्रीय दृष्टि से 'सूरसागर' के लीलारस के घटक-उपादान ये हैं—

स्थायीभाव—कृष्ण-दर्शन व कृष्ण-मिलन की उत्कट कामना या अभिलाषा। **आलंबन विभाव** : बाल अथवा किशोर कृष्ण, यशोदादि और राधा तथा अन्य गोपियाँ। **उद्दीपन विभाव** : शिशु कृष्ण के 'बालविनोद', मुरली-वादन और उनकी नाना अचगरियाँ।

अनुभाव—वत्सल-रति की अनेकविध अभिव्यक्तियाँ और व्रजवनिताओं की "रसिक-मणि" श्रीकृष्ण के रूप-दर्शन वा मिलन की उत्कट ललक या अभिलाषा।

व्यभिचारी--मरण, जुगुप्सा, आलस्य प्रभृति कतिपय अवसादमूलक संचारियों को छोड़कर प्रायः शेष समस्त व्यभिचारी भाव। **सात्त्विक** : स्तंभ, स्वेद, रोमांचादि लगभग सभी सात्त्विक। ये भी एक प्रकार के 'अनुभाव' ही हैं। अट्ठाइस सत्वज 'अलंकार'—हाव, हेला, लीला, विलास, विच्छित्ति आदि—इस 'रस' के श्रृंगार-संदर्भों में चरितार्थ्य हैं और ये कभी उद्दीपन, कभी अनुभाव, दोनों बनते हैं। 'आलंबन विभाव' के सम्बन्ध में स्मरणीय है कि कृष्ण प्रायेण 'विषयालंबन' रहे हैं और नन्द-यशोदादि तथा गोपवनिताएँ 'आश्रयालंबन' रही हैं, किन्तु कतिपय प्रसंगों में यह स्थिति उलट गयी है अथवा दोनों के बीच की विभाजक रेखा मिट गयी है।

अतएव, विवेच्य लीलारस के दो स्पष्ट आयाम परिलक्ष्य हैं : पहला, वात्सल्य-लालित और दूसरा, माधुर्य-लालित। ध्यातव्य है कि 'सूरसागर' के सीलारसार्णव में 'लोक-रस', 'शास्त्र-रस,' और 'दिव्य-रस', तीनों परस्पर प्रायः मिल गये हैं जिससे लीलारस का आस्वाद बढ़ गया है।

(ङ) वात्सल्य-लालित लीलारस

जैसा हमने पहले एक प्रसंग में कहा है, 'सूरसागर' का वात्सल्य रस व्यष्टिगत न होकर समष्टिगत बन गया है। शिशु-कृष्ण की बाल-लीलाएँ केवल नन्द-यशोदा के आस्वादन की वस्तु नहीं हैं, प्रत्युत समग्र घोष-समुदाय उनका भोक्ता या आस्वादयिता है। सूर ने प्रारंभ में ही हमें सावधान कर दिया है कि उनके 'प्रभु' की लीलाएँ 'प्रेम-सागर' में विभाजित सम्पूर्ण ब्रज-समूह के लिए हैं : "कृष्ण जनम सु प्रेमसागर, क्रीड़ैं सब ब्रज लोग।'[1] स्मरण दिलाने की अपेक्षा नहीं कि 'प्रेम' तथा 'क्रीड़ा', ये ही दो तत्त्व लीलारस के प्राण हैं।

---

1. **'सूरसागर'**, 644

बाल कृष्ण के सभी "बालविनोद", उनकी सभी शिशुसुलभ क्रियाएँ तथा क्रीड़ाएँ भगवान् की मानवी लीलाएँ हैं। कभी नंद-यशोदा, कभी व्रज की नर-नारियाँ रसभोक्ता के रूप में वर्तमान हैं। काव्यशास्त्रीय उपादानों के प्रदर्शनार्थ एक पद नीचे उद्धृत किया जा रहा है—

"देखि माई हरि जू की लोटनि।
यह छबि निरखि रही नँदरानी, अँसुवा ढरि ढरि परति करोटनि।।
परसत आनन मनु रवि-कुंडल, अंबुज स्रवत सीप सुत जोटनि।
चंचल अधर, चरन-कर चंचल, मंचल अंचल गहत बकोटनि।।
लेति छुड़ाइ महरि कर सौं कर, दूरि भई देखति दुरि ओटनि।
सूर निरखि मुसुकाइ जसोदा, मधुर मधुर बोलति मुख होठनि।।" (805)

—"हे माई ! चलकर कन्हैया का लोटना तो देखो। वे आँखों से कटोरा-भर आँसू बहाते जा रहे हैं और यशोदा वह शोभा देख रही है। आँसू ऐसे प्रतीत होते हैं मानो सूर्य के समान चमकने वाले गोल कुण्डलों के गाल पर छू जाने से (प्रसन्न हुए) कमल (नेत्रों) से मोतियों के जोड़े निकले बहे जा रहे हों। होंठ चलाते हुए, हाथ-पैर पटकते हुए, वे मचल कर नखों से यशोदा का आँचल नोचते जा रहे हैं और यशोदा के हाथ से अपना हाथ छुड़ाकर, देखते-देखते, इतनी दूर भाग कर ओट में, छिप जाते हैं कि यशोदा उन्हें पकड़ नहीं पाती। कन्हैया की यह नटखटी देख कर यशोदा मुसकराती है और मुँह-ओठों से मधुर-मधुर वचन बोल कर उन्हें मनाए जाती है।"

शास्त्रीय अभिधावली में बाल कृष्ण की लोटने वाली छवि की प्रेक्षणाभिलाषा यहाँ 'स्थायीभाव' है। नंदरानी यशोदा एवम् वक्ता गोपवनिता 'आश्रयालंबन' और शिशु-कृष्ण 'विषयालंबन' हैं। उनका भूमि पर लोटना, आँसू बहाना, भाग कर छिपना आदि 'उद्दीपन विभाव' हैं। यशोदा का शिशु की यह नटखटी वाली छवि देखना, मुसकराना इत्यादि 'अनुभाव' हैं। हर्ष, गर्व, अवहित्था (मनोभावों का छिपाना) औत्सुक्य आदि 'व्यभिचारी' हैं। इन सभी उपादानों के संयोग से वात्सल्यमूलक 'लीलारस' की निष्पत्ति हुई है। केन्द्रीय विन्दु यही है कि यहाँ बाल कृष्ण की 'लीला' ही आस्वाद्य हुई है, यह गौण है कि उसकी व्यंजना का आधार वत्सल-रति है।

'माखनचोरी' के संदर्भ में वात्सल्यमूलक लीलारस की धारा अधिक प्रांजल बन गयी है। माखन-चित्रों में बालक कृष्ण कवि के ही अनुसार, "परम कुशल कोविद लीला-नट" बन गये हैं[1] और उनकी "अचगरियाँ" बढ़ गयी हैं। उलूखल-बंधन के प्रसंग में तरुणियों के उपालंभों से उत्पन्न यशोदा की खीझ, उसकी अस्वाभाविक कठोरता, कृष्ण की "रसाल बाल बयस", "दधि-चोर" के नयनों से गिरने वाली मौलिक आभा से युक्त अश्रुओं की धारा—ये सभी विन्दु गुंफित होकर वात्सल्य की सृष्टि करते हैं जो अन्ततः 'लीला-रस' की ही पोषिका है।

वत्सल-रति की छाया में पल्लवित लीला-रस का एक अनुपम वैशिष्ट्य यह है कि युवतियों की बाल कृष्ण-विषयिणी "प्रीति" का सौरभ माधुर्य-भाव से अनुरंजित हो गया है। यह भी वात्सल्य-लालित लीलारस की एक अनुपम अभिव्यक्ति है। एक चित्र देखें—

1. 'सूरसागर', 772

"बाल कृष्ण को देखते ही मेरे प्राण पलट गये हैं। मेरा तन-मन सभी काला हो गया है। मैंने वह रूप हृदय के भीतर संचित कर लिया है और उस पर पलकों का ताला लगा दिया है। मेरे हृदय में चारों ओर उजाला फैल गया है। समुद्र में जैसे बूँद लुप्त हो जाती है, वैसे ही मेरी चेतना उस रूप-पयोधि में डूब गयी है। मैं उनमें समा गयी हूँ कि वह मुझमें समा गये हैं, यह नहीं समझ पाती। जल-थल, नभ, कानन, भीतर-बाहर सर्वत्र मेरे नयनों के आगे नन्ददुलारे नाच रहे हैं। कुलकानि, लोकलाज सभी कुछ छूट गयी है। जिन बड़े-बूढ़ों के सामने मैं देहली तक नहीं आती थी, अब उनके सामने सिर उघार कर घूम रही हूँ। सास-ननद समझती हैं, मुझे कोई रोग हो गया है, इसलिए वे जादू-टोना, जंत्र-मंत्र आदि उपाय कर रही हैं और घर-घर मुझे ले जाकर निवेदन करती हैं; इसके रोग का कुछ विचार करो। मुझसे कुछ कहते नहीं बनता। उस दिव्य रूपरस के आगे अन्य सभी रस खारे प्रतीत हो रहे हैं।" सूर कहते हैं, इस रस का स्वाद वह लोभी रसिक ही जान सकता है जिसने उसे सचमुच चखा है।[1]

वर्तमान पद 'रूपासक्ति' का मनोहर दृष्टान्त है जिसकी भक्ति-जगत् में प्रतिष्ठा है। क्रीड़ारत शिशु-कृष्ण के रूपरस की तुलना में अन्य लौकिक रसों के खारा प्रतीत होने में भक्त-कवि ने ब्रह्मानुभव की रसानुभूति की ओर संकेत किया है जो अनिर्वचनीय होती है। रहस्यात्मक प्रभाव से अनुरंजित वात्सल्य के प्रस्तुत चित्रण में वेदान्त का दिव्य रस भी समा गया है। लौकिक वत्सलता का कमनीय 'आदर्शीकरण' यहाँ प्रतीयमान है। उपमा, तद्गुण, रूपक, संदेह आदि अलंकारों की एकत्र व्यंजन काव्य-रसाभ्यासियों के लिए भी प्रचुर रसनीय सामग्री प्रस्तुत करती है। वत्सल-रति के अनेक ऐसे चित्र उपलभ्य हैं जिनमें, जैसा आरंभ में कहा है, 'लोक-रस' का चषक, 'काव्य-रस' तथा श्रुति के 'दिव्य-रस' से परिपूर्ण होकर मधुर आस्वाद उत्पन्न करने लगता है। कृष्ण की लीलाओं का रस उनके 'द्वैत' स्वरूप, बाल तथा किशोर, के चित्रण से, जिसका प्रस्फुटन माखन-चोरी के प्रकरण में हुआ है, अधिक गाढ़ा बन गया है। कृष्ण ने स्वयंमेव कहा है, "मैंने सुख के निमित्त ही गोकुल में जन्म लिया है; यशोदा मुझे बालरूप समझेंगी और मैं गोपियों से मिल कर सुखभोग करूँगा।"[2]

वर्तमान संदर्भ को समाप्त करने के पूर्व, हम यह स्मरण कराना आवश्यक समझते हैं कि व्रजनारियों को इन सभी प्रसंगों में कृष्ण के रूप तथा उनकी "अचगरियों" के प्रेक्षण अथवा उनसे शारीरिक सान्निध्य या मिलन की "कामना" कार्यशील रही है जो लीलारस का स्थायीभाव है।

(च) माधुर्य-लालित लीलारस

'सूरसागर' की वर्णित मधुर लीलाएँ कृष्ण-मिलन की प्रत्यक्ष वा परोक्ष कामना से जुड़ी हुई हैं। चीरहरण, पनघट, रास, दान आदि सभी लीलाओं में व्रजतरुणियाँ "श्याम-रस" की पिपासु दिखायी पड़ती हैं जो अंतिम विश्लेषण में "काम-रस" ही है। "हम चाहति मृदु हँसनि-माधुरी जातैं उपजत काम"—मुरली-ध्वनि सुनकर अर्ध-निशीथ में आयीं व्रजनारियों का यह कातर अनुरोध "कोक-विलास" में चरितार्थ हो गया है—

1. 'सूरसागर', 753
2. वही, 886

"निरखि नैन रस-रीति रजनी-रुचि,
काम-कटक फिर कलह मच्यौ।
सूर धनुष धीरज न धर्यौ,
तब उलटि अनंगे अनंग तच्यौ।" (1757)

महाप्रभु ने "विलास की अतृप्यमाण इच्छा" को लीला का व्यवच्छेदक धर्म बताया है। रासलीला में यही उत्कट "विलास"-कामना कार्यशील रही है। रास-मंडल में नृत्यशील "श्यामा-श्याम" को "सुधा-सर" में क्रीड़ा करते हुए देखकर, भक्त सूरदास का मन भी मचल पड़ा है और वे पुकार उठे हैं—

"जाँचत दास, आस चरननि की, अपनी सरन बसावहु।
मन अभिलाष स्रवन जस-पूरित, सूरहिं सुधा पियावहु॥" (1754)

पुनः उल्लेख्य है कि इस लीला-चित्र में नृत्य के लौकिक रस के साथ काव्य के शास्त्रीय रस और भक्ति के दिव्य रस की ऊर्म्मियाँ भी युगपत् नर्तनशील बन गयी हैं। उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं इत्यादि का जैसा अभिराम, कमनीय मेला इन पदों में नियोजित हुआ है और कवि का भक्त-हृदय अपने "प्रभु" की क्रीड़ा-माधुरी के सुधा-पान के लिए जिस सच्चाई से खुल पड़ा है, उससे इन तीनों रसों की मनःप्रह्लादिनी त्रिवेणी प्रवाहित होकर, अन्ततः 'लीलारस' के आस्वाद को गाढ़ा बना देती है।

हिंडोल तथा फाग लीलाओं में सूर के 'लीलारस' की संभोगाश्रित स्रोतस्विनी प्रवाहित हो गयी है जिसमें गोपियों की हरि-मिलन तथा उनके साथ सामूहिक क्रीड़ा की संचित अभिलाषा पूर्णत्व को प्राप्त कर गयी है। 'हिंडोल' में "मोहन राइ" के कमनीय तरुणियों के साथ झूला झूलने से आनंद की वल्लरी बढ़ती जा रही है जिसे देखकर मनोज स्वयं भूमि पर धनुष-बाण रख देता है और चकित-थकित हो गया है[1] और सूर सदा की भाँति हमें स्मरण दिलाते हैं—"देह धरि प्रभु सूर बिलसत, ब्रह्म पूरन सार।"[2] होली-वर्णन में 'लीलारस' का प्रवाह स्वच्छन्द गति से उमड़ने लगा है। कनक-रचित पिचकारियों से छुटी कुंकुम-रस की कुल्याएँ ब्रज की खोरियों में प्रवाहित हो गयी हैं; झाँझ, मृदंग आदि वाद्यों के बजने से उत्पन्न 'ध्वनि-संगम' इस प्रवाह को और भी उल्लास-मय बनाता है। लगता है जैसे "अनुराग-सरोवर" तट-बंधों को तोड़ कर उफना पड़ा हो।[3] तथापि, व्रजनारियों की हरि-दर्शन की अतृप्यमाण लालसा उनके नेत्रों में अबीर पड़ जाने से बाधित हो रही है—

"दरसन तैं अंतर परै हो, करहु अबीर अधीर।
तुमहि कहौ कैसैं जियैं, जहँ मीन न पावैं नीर॥"[4]

---

1. 'सूरसागर', 2820
2. वही, 2836
3. वही, 3526
4. वही, 3500

कृष्ण के रूप-दर्शन की उत्कट कामना, उनका अतीव समीपी संयोग पाकर भी अतृप्त रही है। यही अतृप्ति 'लीलारस' की प्राणभूत पहचान है।

प्रवास-विप्रलंभ के पटल में भी व्रजवधुओं का कामना-दीप अप्रतिहत दीप्ति के साथ प्रज्वलित होता रहा है। अब वह पूर्वापेक्षा अधिक करुणार्द्र बन गयी है। तरुणियों के मन में यह "हौंस" (अभिलाषा) बनी रह गयी है कि "श्याम-सुन्दर ने पुन: उनकी बाँह नहीं पकड़ी।"[1] भ्रमरगीत-प्रसंग में घोष-ललनाओं की सुकुमार कामना अधिक कातर बन गयी है। वे उद्धव को विश्वास दिलाती हैं—"हम श्यामसुन्दर की बिना मोल की दासी हैं। हमारी हालत वैसी हो गयी है जैसी बिना डोर की गुड़िया की होती है। हमारे मन में अन्य कोई लालसा शेष नहीं रह गयी है। हम केवल चाहती हैं कि प्रभु दर्शन दें।"[2] ('दर्शन' अपेक्षित है।)

श्रीकृष्ण का मथुरा वा द्वारिका प्रवास भी उनकी 'लीला' का एक महत्त्वपूर्ण अंश है। महाप्रभु ने संभोगावस्था के प्रत्यक्ष सुखानुभव के साथ विप्रयोगजन्य दु:खानुभव की भी याचना की है। व्रजनारियों का यह दु:खानुभव उनकी कृष्ण-मिलन-लालसा की गहरी कसक एवं अन्तर्व्यथा का प्रकाशक है।

निष्कर्षत:, यह स्थापना निराधार नहीं है कि "कृष्ण-रस" का जो सागर सूर की रचना में उमड़ पड़ा है, उसमें 'काम', 'कामना', 'प्रेम' और 'अनुराग', सभी एकात्म, एकरस बन गये हैं, अथवा उनकी अभिव्यक्ति मूलत: समष्टिगत रही है। अतएव, वह रस अन्ततोगत्वा 'लीला-रस' में परिणत हो गया है जिसमें "विलास की अतृप्यमाण इच्छा", कभी मुखर, कभी कातर भाव से, व्रजनारियों के अन्तर्जीवन को अधिशासित करती रही है। भौतिक संयोग या वियोग का लोक-रस, कवि के शास्त्र-रस एवम् भक्त के "ब्राह्मरस" से मिश्रित होकर, इस 'लीलारस' की धारा को रमणीय, हृदयस्पर्शी तथा "सहृदय-श्लाघ्य" बना गया है।

---

1. 'सूरसागर', 3836
2. वही, 4253

अध्याय 13

सूर की भाषा

(क) साहित्यिक ब्रजभाषा

सूरदास ने जिस भाषा में रचना की है, वह जनसामान्य में बोली जाने वाली वह 'ब्रजभाषा' नहीं है जो मथुरा में तथा उसके आसपास प्रचलित है। वस्तुतः अष्टछाप के अन्य कवियों की भाँति सूर की ब्रजभाषा में अवधी तथा खड़ीबोली का भी मिश्रण लक्षित होता है। वह साहित्यिक ब्रजभाषा है जिसमें अवधी तथा भोजपुरी के व्याकरणिक रूप भी प्रायः उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ, कतिपय सर्वनामों का प्रयोग उद्धृत किया जा सकता है, यथा—

ब्रजभाषा के वास्तविक प्रयोगों, "मेरो", "हमारे", "तेरो", "तिहारो" के बदले सूर ने क्रमशः "मोर", "हमार", "तोर" तथा "तोहार" जैसे पदों का प्रयोग किया है। ऐसे ही, ब्रजभाषा में 'ओ'-ध्वनि वाले शब्दों का प्राचुर्य है, जबकि सूर ने 'औ'-ध्वनि वाले शब्दों का प्रयोग किया है, यथा—"ऐसो" के लिए "ऐसौ", "झगरो" के लिए "झगरौ" का प्रयोग किया है।[1] पुनः, ब्रजभाषा में 'ण' सदैव 'न' में बदला होता है। किन्तु, कतिपय पदों में सूर ने 'ण' का ही प्रयोग किया है, यथा—"कारण", "कृष्ण" आदि[2], यद्यपि 'ण' के बदले 'न' का प्रयोग प्रायः हुआ है और तत्तत् पदों में भाषा का माधुर्य बढ़ गया है—जैसे "चरन", "किंकिनी", "मनि" आदि से संबद्ध पदों में संगीत का सौरस्य उतर आता है।[3] पुनः, टकसाली ब्रजभाषा में केवल दन्त्य 'स' होता है, जबकि 'सूरसागर' 'श' तथा 'ष' भी उपलब्ध होते हैं।[4]

तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त प्रसंगों में सूर ने एकरूपता नहीं बरती है और उनकी भाषा परम्परा से प्राप्त साहित्यिक ब्रजभाषा है, न कि सामान्य बोलचाल की ब्रजभाषा, जैसा कभी-कभी समझ लिया जाता है।

(ख) शब्दसमूह

'सूरसागर' में प्रयुक्त शब्द समूह में अस्सी प्रतिशत शब्द ऐसे मिलते हैं जो स्वर-संशोधन के साथ संस्कृत से गृहीत हुए हैं जिन्हें 'तद्भव' कहा जाता है। बीस प्रतिशत में

1. 'सूरसागर', 1364, 1352
2. वही, 983, 4531
3. वही, 770, 1798 आदि
4. वही, 1005 ("कुशल"), 426 ("विषय") आदि

तत्सम (संस्कृत), अरबी-फारसी और देशी बोलियों के प्रयोग आते हैं। कतिपय शब्दों को उल्लिखित किया जा सकता है, यथा—माधव, मुरारि, कमल, कपोल, मनोहर, छवि, प्रीति, कोविद, आभरण, उदार, उदधि, कम्बु, राजीव, मयूर-चंद्रिका, रसिक, मणि, अंचल, मोद, विनोद, विरंचि, मल्लिका, दम्पति, सुधा, सरसी, प्रतिज्ञा, दिवस, रोमांच, पुलकित, जल, तरंग, अग्नि, नवल, नागरी, व्युत्पन्न जैसे सैकड़ों संस्कृत के शब्द एवम् पद 'सूरसागर' में प्रयुक्त हुए हैं। 'तद्भव' शब्दों का भी प्रयोग सूर ने किया है, यथा—बच्छ (वत्स), बच्छल (वत्सल), कटाच्छ (कटाक्ष), कान्ह, केहरि (केसरी), बृच्छ (वृक्ष), खार (क्षार), सायर (सागर), ऊसर (ऊषर), अनत (अन्यत्र), गाहक (ग्राहक) आदि। इनके अतिरिक्त, देशज शब्दों का प्रयोग सूर के पदों में माधुर्य की सृष्टि करता है, यथा—'घैरू', 'घैया', 'खुटिला', 'ढबरी', 'ढाढ़ी', 'झगुली', मौड़ा', 'जाख' (पूजा), 'छाक' (कलेऊ), 'अँकोर', 'पैड़े', 'खोही', 'बाखरि', 'अमात' (समा जाना) आदि।

मुगल-काल में अरबी-फारसी जैसी विदेशी भाषाओं के शब्द भी सामान्य बोल-चाल में प्रयुक्त होने लगे थे। सूर ने ऐसे शब्दों का भी प्रयोग किया है, यथा—अमीन, खसम, मुसाहिब, खवास, मसक्कत, अवारजा, दलाली, दामनगीर, मुहकम, गरीब-निवाज आदि।

विजातीय शब्दों को एकसाथ मिला देना सूर की विशेषता है। तत्सम, तद्भव तथा जनबोलियों के शब्दों का युगपत् प्रयोग उनकी भाषा-शैली को विशेषित करता है, यथा—

"प्रीति करि दीन्हीं गरैं छुरी।
जैसे बधिक चुगाइ कपट कन, पाछैं करत बुरी।" (3803)

यहाँ 'प्रीति, 'बधिक', 'कपट' जैसे तत्सम शब्द; 'कन' जैसा तद्भव शब्द और 'गरैं', 'छुरी', 'चुगाइ', 'पाछैं' जैसे जनबोलियों के शब्द एकसाथ प्रयुक्त हुए हैं। दूसरा उदाहरण देखें—

"रस की ऊख उखारि सूर प्रभु, बई बिरह की बारी।" (4450)

'रस' तत्सम के साथ 'ऊख उखारि' जैसे ठेठ देशज शब्दों को और 'बिरह' के साथ 'बारी' (वाटिका) जैसे शब्द को संयुक्त कर देने में सूर किसी मानसिक अवरोध का अनुभव नहीं करते। कभी-कभी जनबोलियों के साधारण शब्दों में वे अतिशय व्यंजना भर देते हैं। "झगरा" एक ऐसा ही शब्द है जिसका अर्थ होता है, वाग्युद्ध अथवा पारस्परिक हितों का संघर्ष। सूर के इस शब्द के दो प्रयोग द्रष्टव्य हैं, यथा—

(i) "प्रात तैं झगरो पसार्‌यौ।" (2173)
(ii) "सूरदास प्रभु कबहिं मिलौगे, तजि गयो गोकुल मिटि गयौ झगरा।" (3925)

प्रथम कथन 'दानलीला' से उद्धृत कृष्ण का कथन है जो तरुणियों से आंगिक दान माँग रहे हैं और वे इन्कार कर रही हैं। भावक समझ सकते हैं, 'झगड़ा' तो कृष्ण ने ही मचा रखा है, अतः युवतियों पर यह आरोप व्यर्थ है। यहाँ भी "झगरो" की व्यंजना

सामान्य वाच्यार्थ से कुछ अधिक है। दूसरे उद्धरण में, व्रजनारियों ने विरह-दशा का निवेदन किया है। "झगड़ा मिट गया"—इस "झगड़ा" में तमाम व्यंजनाएँ गर्भित हो गयी हैं। पूर्व अचगरियों तथा पूर्व विनोद-लीलाओं, पूर्व संयोग-सुखों से लिपटी शतशः स्मृतियों की "रेल-पेल" उन प्रेम-पुत्तलिकाओं के अन्तर्मानस को क्लेशित कर रही है। प्रस्तुत प्रयोग इसी मानसिकता का द्योतक है। देशज प्रयोगों के आलोक में उन्होंने अभीष्टार्थ के लिए नये शब्द भी गढ़ लिये हैं। "लड़बौरी" एक ऐसा ही गढ़ा शब्द है जो राधा के लिए आया है जिसका अभिप्राय है—अतिशय सरल, विवेकहीन, अनुरागिनी। भोजपुरी का एक अति-सामान्य शब्द "सरस-निरस" है जिसका अर्थ होता है, न बहुत अधिक, न बहुत कम अथवा थोड़ा अधिक, थोड़ा कम। सूर ने इसका प्रयोग राधा-कृष्ण के "रतिसंग्राम" के संदर्भ में बिलकुल सहजभाव से किया है, यथा—

"सूर के स्वामि, स्वामिनी राधा, सरस-निरस कोउ नाहीं।" (2746)

"सरस-निरस" का यह प्रयोग दिखलाता है कि सूर का जन-मानस से कित घनिष्ठ परिचय है।

(ग) दो प्रवृत्तियाँ

यद्यपि सूर ने शब्द-प्रयोग में सामान्यतः पर्याप्त उदारता प्रदर्शित की है, तथापि परम्परा से मिली काव्यभाषा का एकान्त तिरस्कार उनके लिए शक्य-सम्भव नहीं हो सका है। शब्दावली की योजना में उनकी दो प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं: राधा-कृष्ण के रूप-वर्णन में उनकी पद-संघटना तत्समबहुल बन जाती है, जबकि बाललीला और प्रणय के प्रसंगों में उसमें तद्भव तथा देशी शब्दों का बाहुल्य हो जाता है। पहली प्रवृत्ति में देववाणी की अभिजात "संस्कृति" से वे अनुप्राणित हैं और भारतीय क्लासिकल परम्परा से अपना सम्बन्ध बनाये रखने के अभिलाषी दिखायी पड़ते हैं। ऐसे प्रसंगों में उनकी भाषा प्रायः समस्त पदों से पूर्ण बन जाती है। किन्तु, दूसरी प्रवृत्ति उन्हें लोकभाषा तथा लोकजीवन से सामीप्य स्थापित रखने में सहयोग देती है। 'भ्रमरगीत' का प्रसंग, इसी कारण, अनेक मुहावरों तथा कहावतों से प्रकीर्ण दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ, कुछ निम्नलिखित प्रयोग दर्शनीय हैं—

"दाई आगैं पेट दुरावति।"
"बहुतैं मूड़ चढ़ायौ।"
"आक चचोरत छाँड़ि ऊख कौ मूँढ़।"

इसी प्रसंग में कतिपय प्रयोग ऐसे हुए हैं जिनसे भाषा में विचित्र लाक्षणिक सौन्दर्य आ गया है, यथा—

"आए जोग सिखावनि पाँड़ें।
परमारथी पुरानन लादे, ज्यौं बनजारे टाँड़ें।।
हमरे गति-पति कमलनयन की, जोग सिखैं हो राँड़े।
कहौ मधुप कैसे समाहिगे, एक म्यान दो खाँड़े।।

× × ×

काहे कौं झाला लै मिलवत, कौन चोर तुम डाँड़े।
सूरदास तीनौं नहिं उपजत, धनियाँ, धान, कुम्हाँड़े ॥" (4222)

पहली पंक्ति में ही उद्धव के प्रयास की व्यर्थता का संकेत कर दिया गया है और बाद की पंक्तियाँ अनेक चटकीली, व्यंग्यपूर्ण उक्तियों से उस व्यर्थता का उपबृंहण करती हैं। संस्कृत-बहुल पदसंगठन से प्रतीत होता है कि सूर प्रेम-प्रवण हृदय की हलचलों को अभिव्यक्ति प्रदान करना अस्वाभाविक समझते हैं। कृष्ण के "बालचरित" हों, अथवा तरुणियों के प्रणय-प्रसंग हों, वे तत्काल लोकसुलभ अभिव्यंजना के धरातल पर उतर आये हैं। 'खोइस', 'सोइस', 'मोर', 'तोर' जैसे जनबोलियों के शब्द 'सागर' में ऐसे प्रकरणों में बिखरे हुए उपलब्ध होते हैं।

(घ) प्रयोग-सौष्ठव

शब्दों के प्रयोग में सुर सतत सावधान दिखलायी पड़ते हैं। कभी उनकी दृष्टि संगीतात्मक प्रभाव पर, कभी अनुप्रास-सौन्दर्य पर और कभी भाव-माधुर्य पर केन्द्रित होती है। पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों ने 'सादृश्य-विधान' को, जिसे वे "पैरलेलिज्म" कहते हैं, महत्व दिया है। 'सूरसागर' में यह योजना भूरिशः दृष्टिगोचर होती है। सादृश्य के तीन रूप लक्षित किये गये हैं : ध्वन्यात्मक, अभिधानात्मक और रूपात्मक।[1] 'सूरसागर' से तीनों के उदाहरण दिये जाते हैं—

(i) "मुकुट लटकनि भृकुटि मटकनि।"
"मनमोहिनी तोतरी बोलनि मुनिमन हरनि सुहँसि मुसुकनियाँ।"

—ये ध्वन्यात्मक उदाहरण हैं।

(ii) "(माधव) तनक चरन अरु तनक तनक भुज, तनक बदन बोलै तनक सौबोल।
तनक कपोल तनक सी दँतियाँ तनक हंसनि पर लेत हैं मोल ॥"[2] आदि

—इस पद में 'तनक' शब्द का बीस बार प्रयोग लक्षित किया गया है। ऐसे ध्वन्यात्मक प्रयोग संगीत की सृष्टि में सहायक होते हैं। "सारंग" शब्द का प्रयोग सूर ने दृष्टिकूट वाले पदों में किया है, किन्तु यहाँ यह योजना शाब्दिक चमत्कार ही अधिक उत्पन्न करती है।

---

1. "पैरलेलिज्म" (Parallelism) के ये तीन रूप अंग्रेजी में क्रमशः "फोनोलोजिकल" (Phonological), "लेक्सिकल" (Lexical) और "मार्फोलोजिकल" (Morphological) कहे गये हैं। (लेखक)

2. 'सूरसागर', 600

(iii) "(तब) धाइ खायौ, अहि जगायौ, मनो छूटे हाथियाँ।
सहसफन फुँफकार छाँड़े, जाइ काली नाथियाँ॥"[1]

—यहाँ 'हाथियाँ' और 'नाथियाँ' में रूपात्मक साम्य नियोजित हुआ है जिसका प्रभाव संगीतात्मक प्रवाह में दीख पड़ता है।

कभी-कभी सूर तमाम पर्यायों की, अभीष्ट भाव-सम्प्रेषण के लिए, एकत्र भीड़-सी लगा देते हैं। इस एकत्रीकरण में उनकी कला पुनः विवक्षार्थ को हृदयंगम कराने में ही नियोजित हुई है। काली-दमन-प्रसंग की निम्न पंक्तियाँ देखें—

"गिरिधर, ब्रजधर, मुरलीधर, धरनीधर, माधौ, पीतांबरधर।
संख-चक्र-धर, गदा-पद्म-धर, सीस-मुकुट-धर, अधर-सुधा-धर॥" आदि[2]

प्रस्तुत पद में भगवान् के जितने विशेषणात्मक रूप हैं, उन सबका कथन कर अन्त में सूर 'प्रभु' के "गोप-वेष-धर" रूप की महिमा प्रदान करते हैं क्योंकि इसी रूप में श्रीकृष्ण काली के विषवाही फणों पर "चरण-कमलों" से नृत्य कर चुके हैं। इस "गोप-वेष" में कृष्ण के शौर्यमूलक, माधुर्यमूलक ("मुरलीधर", "अधर-सुधा-धर") तथा वैष्णवावतारमूलक सभी ज्ञात रूपों का सामंजस्य अवतीर्ण हुआ है क्योंकि उन्होंने परम विषैले नाग के फुफकारते फणों पर असीम शौर्य, असीम आत्मविश्वास तथा असीम मृदुल माधुर्य के साथ नृत्य किया है।

समुचित पदों के प्रयोग में सूर ने कभी ध्वनि, कभी अर्थ और कभी दोनों को आधार बनाया है। गोवर्धन-धारण प्रसंग में मेघों के घिर आने के चित्रण में ध्वनि-मूलक शब्दों का प्रयोग किया है, यथा—"घहरात", "गररात", "दररात", "चपला चमचमाति" आदि।[3] कृष्ण के सौन्दर्य-जैसे मधुर प्रसंगों में सूर ने माधुर्य-गुणयुक्त शब्दों की योजना की है, यथा—

"सोभित सु-कपोल अधर अलप-अलप दसना।
किलकि-किलकि बैन कहत मोहक मृदु रसना॥"[4]

"लाल", "ललन" आदि मधुर शब्दों की योजना से बाललीला के अनेक पद मधुर आस्वाद से युक्त हो गये हैं। कृष्ण के लिए लगभग दो दर्जन शब्द प्रयुक्त हुए हैं। लेकिन, प्रसंगानुकूलता का ध्यान प्रायः बराबर दिखायी पड़ता है। "मोहन", "श्याम", "हरि", "माधौ" जैसे पर्यायों के प्रति कवि का विशेष अनुराग लक्षित होता है। रास अथवा अन्य केलि-प्रसंगों में कृष्ण के लिए "रसिकमनि" अथवा "रसिक-सिरोमनि" जैसे शब्द बहुलतया प्रयुक्त हुए हैं।

---

1. 'सूरसागर', 1192
2. वही, 1190
3. वही, 1461
4. वही, 708

किन्तु, कतिपय पदों में सूर के पौराणिक ज्ञान ने भी उनके शब्द-चयन को प्रभावित किया है। उदाहरणतः—"मिहिर-तनया-पुलिन" और "सिंहिका कै सूनु" पद लिये जा सकते हैं। पहला पद यमुना के लिए प्रयुक्त है जो "मिहिर" अर्थात् सूर की पुत्री हैं, और दूसरा राहु के लिए आया है जो कश्यप ऋषि की पत्नी दिति की पुत्री सिंहिका का 'सूनु' अर्थात् पुत्र है। वैसे ही सूर ने कई संदर्भों में "रसलम्पट" शब्द का प्रयोग किया है जिसे साम्प्रदायिक साहित्य में श्रीकृष्ण के लिए प्रयुक्त किया गया है।

(ङ) सर्जनात्मक सामर्थ्य

सूर ने अपनी भाषा का सर्जनात्मक सामर्थ्य बढ़ाने के लिए अनेक उपाय किये हैं। मुख्यतया रूप तथा प्रेम के चित्रकार होने से, उनके पदों में बासीपन और थकावट पैदा करने की गंध आ सकती थी। किन्तु, इस स्थिति से बचने के लिए सूर ने 'पर्यायवाची' शब्दों का खुलकर प्रयोग किया है और नवीन पर्याय बनाये भी हैं। सौन्दर्य-चित्रों में उन्होंने 'देख', 'पेख', 'बिलोक', 'निरख', 'चितय' आदि पर्यायों का प्रयोग तो किया ही है, किन्तु दर्शन के भाव को ही व्यक्त करने के लिए "तरि सकत न सोभा", "नैन न अनत भटकहीं", "पलक भुलाने", "स्याम-छबि-सिन्धु समाने", "चाख्यो रूप-सुधा" आदि अभिनव पदों का संघटन किया है।

काव्य-भाषा रूपक तथा उपमा की सहायता से नये विशेषणों तथा क्रिया-विशेषणों की रचना करती है, क्योंकि सामान्य विशेषणादि उसकी अभिलषित भावमूर्ति को अभिव्यक्त करने में असमर्थ सिद्ध होते हैं। उदाहरण-हेतु—सूर का एक चित्र दर्शनीय है। राधा की भृकुटियाँ टेढ़ी और आकर्षक हैं। इसके लिए 'धनुष' का उपमान परम्परा में गृहीत है। किन्तु, उससे भी कवि का विवक्षित सौन्दर्य नहीं खुलता। तब वह कामदेव के धनुष का सहारा लेता है और कहता है—"राधा की भृकुटियों के देखने से ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कामदेव ने सम्पूर्ण विश्व पर विजय प्राप्त कर लेने के उपरान्त अपने धनुष को सीधा कर लिया है।" प्रस्तुत चित्र की कमनीयता तब खुलती है जब उसमें सन्निहित भावच्छवियों को आप टटोलें: राधा की भृकुटियाँ सौन्दर्य के देवता कामदेव के धनुष की स्पर्धा करती हैं। सामान्य धनुष की वक्रिमा से राधा की भृकुटियों के अविजेय आकर्षण का विभावन नहीं हो सकता। अतः, कामदेव के धनुष की अपेक्षा हुई जिसने विश्व-विजय कर ली है। उसके बाद जो वह धनुष तन गया है, उससे यह अभिप्रेत है कि राधा की भृकुटियाँ कृष्ण को विजित कर, अब रोष से तन गयी हैं। इस प्रकार, प्रस्तुत बिम्ब की व्यंजना समृद्ध बन गयी है।

उसी प्रकार, क्रियाविशेषणीय प्रयोग का एक संबद्ध उदाहरण लीजिये। कवि का विवक्षार्थ है, "कृष्ण राधा के पूर्ण नियंत्रण या वश में होगये हैं।" किन्तु इसे सीधे कहने में कृष्ण का राधा के प्रति समर्पण का भाव प्रभावशाली रीति से विवृत नहीं होता। अतएव, सूर भारतीय परम्परा में प्रथित 'कविसमयों' का प्रयोग करते हैं और कहते हैं—"कृष्ण राधा के रूप से ऐसे मुग्ध हैं, जैसे चातक स्वाती की बूँद से, जैसे चकोर चन्द्रमा से, चक्रवाक सूर्य से, हिरण नाद से, मीन जल से और परछाईं शरीर से।" स्पष्ट है कि सूर ने यहाँ अभीष्ट भाव को नये 'क्रियाविशेषणों' की उद्भावना कर, मोहक रीति से अभिव्यक्ति प्रदान की है।

राधा के रूप का एक अन्य चित्र दर्शनीय है। इसमें कथन-भंगिमा अभिनव वक्रिमा से संयुक्त हो गयी है। संदर्भ मानिनी की मनुहार का है। भाषा में उसके अनुकूल मनावन की शैली अपनायी गयी है। "चलि राधे ! हरि रसिक बुलाई। कमल-नयन कछु मरम कह्यौ है, मोहन बचन करन-पुट लाई।" यहाँ 'मर्म' अथवा 'रहस्य' के कथन से प्रसंग के सौन्दर्य का संकेत मिलने लगता है। अनन्तर, सखी राधा से कहती है कि "उसके रूप ने तारों, बाल-सूर्य, शशि, सुरधनु, कमल, दामिनी आदि की शोभा चुरा ली है और अब उन सभी ने अपनी-अपनी शोभा की वापसी के लिए देवलोक में कामदेव से गुहार मचा रखी है, अतएव उसे सद्यः 'दीनबंधु' के पास चलना चाहिए।"[1] सहृदय पाठक आसानी से कवि की भाषा-भंगिमा का सौरस्य अनुभव कर सकते हैं। सीधे-सपाट कथन से वह चमत्कार नहीं आता। प्रतीक सब पुराने घिसे-पिटे हैं, किन्तु कथन-भंगी का वैचित्र्य बिम्ब को सौन्दर्यपूर्ण बना देता है। "दीनबंधु" शब्द भी अत्यन्त अर्थवान् बन गया है। अपनी-अपनी शोभा चुराये जाने से, ये वस्तुएँ (सूर्य, शशि, कपोत आदि) "दीन" बन गयी हैं, जबकि हरि "दीनबंधु" हैं, इसी कारण उनका यह बुलावा है।

पाश्चात्यों ने 'भाषा-शैली' में 'डीवियेशन' (सामान्य कथन से बिचलाव) को महत्व प्रदान किया है। 'सूरसागर' की भाषा-संरचना में यह "बिचलाव" प्रचुरता से उपलब्ध होता है। ऊपर के रूप-चित्र में यह 'बिचलाव' दृष्टिगोचर हुआ है। सामान्य बोलचाल में ऐसे प्रयोग प्रायः 'रूढ़ लक्षणा' का स्वरूप ग्रहण करते हैं। सूर ने इस जाति के अनेक प्रयोग किये हैं, यथा—

"सुत-मुख देखि जसोदा **फूली**।"
"अँखियाँ हरि-दरसन की **प्यासी**।"
"अँखियाँ हरि-दरसन की **भूखी**।"
"निसि-दिन **बरसत** नैन हमारो।"

उक्त क्रियापदों के प्रयोग में उपलब्ध 'बिचलाव' वियोगिनी व्रजवनिताओं की कातर दशा की व्यंजना करता है। 'नैन समय' तथा 'आँख समय' के पदों में यह लाक्षणिक पद्धति भरपूर अपनायी गयी है।

कवि की भाषा का मुख्य प्रयोजन होता है—अभीष्ट अनुभव की धार को तीव्र बनाना, किसी मानसी प्रत्यक्ष को प्रांजल बनाकर उसे इस प्रकार सम्प्रेषित करना जिससे ग्रहीता का तद्विषयक अनुभव-बोध प्रस्फुट तथा पूर्ण हृदयग्राह्य बन सके। सूर ने भाषा के इस शक्ति-सामर्थ्य का प्रचुर उपयोग किया है। निम्नोद्धृत पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"इहिं उर माखन-चोर गड़े।
अब कैसेहुँ निकसत नाहीं, ऊधौ तिरछे ह्वै जु अड़े।" (3731)

कृष्ण 'त्रिभंगी-मुद्रा' में वंशी बजाते रहे हैं। 'वही छवि तरुणी के हृदय में बसी हुई है।' इस सामान्य कथन से कवि का विवक्षार्थ पूर्णतः नहीं खुलता। अतः, उसने "गड़े" क्रिया का प्रयोग किया है। "तिरछे" पद की अर्थवत्ता यह है कि सीधी गड़ी वस्तु

तो निकाली जा सकती है, किन्तु 'तिरछे' गड़ी वस्तु निकालने पर सम्पूर्ण हृदय-देश विदीर्ण हो जायेगा। अतः कवि का व्यंग्यार्थ, यह कि कृष्ण की रूपच्छवि तरुणी के भुलाये नहीं भूलती, इन पदों के प्रयोग से मार्मिकतया खुल जाता है।

कभी-कभी अत्यंत सहज भंगिमा में, बिना किसी वाग्वैदग्ध्य के, सूर विरह-व्यथा की तीव्रता की व्यंजना कर देते हैं --

"ऊधौ, कही सु फेरि न कहिऐ।

जौ तुम हमैं जिवायौ चाहत, अनबोले ह्वै रहिऐ।।"

युवती की इस मर्म-वाणी में कोई विदग्धता नहीं, कोई चातुर्य नहीं। सीधी, सादी, साधारण बोलचाल की भंगी में उसके विरह-दुःख की निविड़ता की व्यंजना यहाँ हो गयी है। ऐसे घनेरो प्रयोग 'सूरसागर' में उपलब्ध हैं।

पावस-वर्णन में, परम्परा-प्रथित तत्वों को लेकर ही, सूर कभी-कभी ऐसी भाषा-भंगी अपनाते हैं जिससे व्यंजना में ताजगी आ गयी है और विरहिणी तरुणियों के संतप्त सारल्य पर भावक पिघले बिना नहीं रह पाता। यथा—

"किधौं" घन गरजत नहि उन देसन।

"किधौं" हरि हरषि इंद्र हठि बरजे, दादुर खाए सेषन।।

'किधौं' के प्रयोग से पूरे चित्र में ताजगी के साथ "सहृदय-श्लाघ्य" सौरस्य की अवतारणा भी हुई है।

लोकभाषा की व्यंजनाओं से सूर पूर्णतः 'रसमस' हैं। अनायास उचित प्रसंग मिलने पर उनकी वाणी इन व्यंजनाओं को पकड़ लेती है। कृष्ण की भ्रामरी वृत्ति से रुष्ट राधा का निम्न उद्‌गार देखिये—

"तिया कौ जनि जनम पाऊँ, जनि करैं पति नारि।

जनम तौ पाषान माँगौं, सूर गोद पसारि।।" (3437)

'स्त्री का जन्म राधा को पुनः न मिले, यदि वह स्त्री का पुनर्जन्म पाये भी तो वह अविवाहित रहे, 'पति' के प्यार में न फँसे; सबसे अच्छा है कि वह पत्थर ही बने।' अनेक मर्मस्पर्शी भावच्छवियाँ इस कथन में अनुस्यूत हो गयी हैं। स्त्री का जन्म लेने पर पति-प्यार में उलझना ही पड़ेगा, क्योंकि नारी बिना प्यार के रह नहीं पायेगी और पुरुष का प्यार कितना अस्थिर, कितना कपटपूर्ण होता है। "गोद पसारि" पद में राधा की प्रार्थना की सच्चाई झलकती है: ग्रामीण नारियाँ आज भी आँचल पसार कर भगवान् से कामना-पूर्ति-हेतु प्रार्थना करती देखी जाती हैं। ऐसी अभिव्यक्तियाँ देशज शब्दावली में ही स्थापित हैं जिसका सटीक ज्ञान सूर को है। एक ऐसी ही अन्य अभिव्यक्ति है—"तिनकौ कठिन करेजौ सखि री जिनको पिय परदेस।" जनबोलियों की भंगिमाएँ उनमें प्रचलित शब्दों से लिपटी हुई होती हैं और उन शब्दों के स्थानापन्न अन्य तत्सम शब्दावली से वे भंगिमाएँ नष्ट हो जाती हैं।

कभी सूर ऐसी पद-योजना का नियोजन करते हैं जो उनके वर्ण्य-विन्दु को अधिक अर्थवत्ता से गर्भित कर देती है। उदाहरणार्थ, निम्न पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

"कहा रस बरियाई की प्रीति ।
जो न गड़े उर-अंतर ऊधो, भुस पर की सी भीति ।।" (3905)

'बरियाई की प्रति में रस नहीं होता'—यहाँ प्रथमतः भोजपुरी के शब्द 'बरियाई' में जो लोकसुलभ व्यंजना है, वह खड़ीबोली के अन्य प्रतिरूप में नहीं मिल सकती। "रस" तत्सम होने पर भी, लोक-व्यवहार में सुलभ है। "प्रीति" के सम्यक् विभावन के लिए निषेधात्मक कथन से एक विधेयात्मक ('पौज़िटिव') बिम्ब दिया गया है, यह कि उसे हृदय में "गड़" जाना चाहिए और फिर, दूसरा उपमा वाला बिम्ब आता है "भुस की सी भीति" का। भूसे पर निर्मित दीवाल कभी स्थिर कभी नहीं रह सकती। अर्थात्, प्रेम जब हृदय में दृढ़ता से जम जाय, तब वह प्रेम है और नहीं तो वह केवल एक निरर्थक, प्रदर्शनीय आचरण है जिसमें कोई सार-तत्त्व नहीं।

'सागर' में अनेक पद उपलब्ध हैं जिनमें अभीष्ट भाव को अभिव्यक्त करने के लिए कभी सहज लोक-भंगी का, कभी सहजता के साथ किसी लाक्षणिक अथवा आलंकारिक जोड़ का उपयोग किया गया है। उत्प्रेक्षाओं के प्रयोग से तो सूर की अभिव्यक्ति में विशेष सौन्दर्य अवतीर्ण हो गया है।

(च) भाषिक बोध

मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन लोकोन्मुख था। परिणामतः, समस्त भक्तकवियों ने जनभाषा में रचना की है। कबीर जैसे कवियों ने जनसमुदाय से "रैपर्ट" अथवा तादात्म्य स्थापित करने के लिए और बहुत कुछ अपनी अनभिज्ञता से प्रेरित होकर संस्कृत को "कूपजल" घोषित कर दिया और "भाखा" को "बहता नीर" बताकर उसे ही अपनी अभिव्यक्तियों का माध्यम बनाया। "भाखा" के इस जनोन्मुख प्रवाह ने तुलसी तथा केशवदास को भी प्रभावित किया। केशव के अभिजात संस्कार इतने दृढ़ थे कि वे लोकभाषा को उपरितः अपनाते हुए भी, उसकी 'स्पिरिट' से सदा दूर रहे। तुलसी ने "भाषा" अपनायी, किन्तु संभवतः संकोच के साथ—"भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी।" सूरदास इन सभी रचनाकारों से पृथक् दृष्टिगोचर होते हैं। उन्होंने न तो कबीर की विद्रोही भंगिमा अपनायी है, न वे केशव के आभिजात्य से आक्रान्त हैं, न तुलसी के "निगमागम-सम्मतं" की घोषित शास्त्र-प्रतिबद्धता के ही कायल हैं जिनसे अनुप्राणित होकर 'मानस' जैसे ग्रन्थों में संस्कृत पदावली के प्रयोग की सचेष्ट प्रवृत्ति लक्षित होती है।

सूरदास कृष्णभक्ति के आन्दोलन की केन्द्रीय भूमि ब्रज की लोक-संस्कृति से घनिष्ठतया जुड़े हुए थे। अतएव, ब्रजभूमि में बहने वाले "नीर"-प्रवाह में वे आपाद-मस्तक डूबे प्रतीत होते हैं। किन्तु, परम्परा से संस्कृतबहुल काव्य-भाषा का जो 'पैटर्न' चला आ रहा था, उसके प्रति भी सूर सावधान हैं। अतएव, उनकी भाषा में यदि एक तरफ तत्सम पदावली का परम्परागत प्रयोग है, तो दूसरी तरफ लोकभाषा की रूपच्छटाएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। हमने देखा है कि 'सागर' में बहता "नीर"-प्रवाह

मुख्यतः जनोन्मुख है और उसमें लोकाभिव्यक्तियों के "अनेक संवाद" भर गये हैं।[1] सूर अपने वर्णनों में इतने तन्मय हैं, लीला-परिधि में समाने वाली समस्त भावच्छवियों को इतनी सहजता से पकड़ लेते हैं कि उनकी भाषा को "समाधि भाषा" कहना अनुचित नहीं होगा।[2]

यदि परिमित शब्दों में कहना हो तो हम कहेंगे कि सूर का "भाषिक बोध" ब्रज की लोक-संस्कृति से अनुप्राणित है, उसी से सरसित एवम् प्राणवान् है—काव्य के 'कथ्य' के साथ-साथ, उन्होंने उसकी संवाहिका भाषा को भी एक नयी समर्थ सँस्कृति प्रदान की है।

———

1. "करी बिहारी सतसई, भरी अनेक सवाद।"

2. वल्लभाचार्य ने 'श्रीमद्भागवत' के दशम स्कन्ध की भाषा को "समाधि-भाषा" कहा है। (लेखक)

अध्याय 14

सूर की शिल्प-माधुरी

काव्य-शिल्प : दो अंग

वात्स्यायन के मतानुसार, नृत्य, गीत प्रभृति चौसठ बाह्य क्रियाएँ और आलिंगन, चुंबन प्रभृति चौसठ आभ्यन्तर क्रियाएँ 'शिल्प' कहलाती हैं।[1] इन दोनों प्रकार की क्रियाओं को 'कला' भी कहा गया है। अतएव, 'शिल्प' और 'कला' लगभग समानार्थक हैं। यह भी लक्षणीय है कि शिल्प अथवा कला में सचेतन आयास का भाव भी अन्तर्भुक्त है। काव्य-हेतुओं में भारतीय आचार्यों ने 'शक्ति' एवम् 'निपुणता' के साथ जो 'अभ्यास' भी गृहीत किया है, वह मुख्यतः काव्य के शिल्प-पक्ष को ही रेखांकित करता है। कविता अनुभूतियों का सम्प्रेषण करती है और सम्प्रेषणीयता का तत्त्व शिल्प के आश्रित होता है। अतएव, कवि के लिए अनुभूतियों की सम्प्रेषण-कला में निष्णात होना आवश्यक है। रसनिर्भर काव्य में अनुभूति तथा अभिव्यक्ति की समरसता वांछनीय होती है क्योंकि दोनों में दरार पड़ जाने पर कविता का हृद्यत्व बाधित हो जाता है। भट्टनायक ने आत्म-साक्षात्कार से उत्पन्न 'रस' से काव्य-रस की विशिष्टता बताते हुए कहा है—

"वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रसं यद्बालतृष्णया।
तेन नास्य समः स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हि यः॥"

"जिस रस को वाणी-रूपी धेनु सहृदयजन-रूपी वत्स में स्नेह-वशात् प्रस्तुत करती है, उसकी तुल्यता वह रस नहीं कर सकता जिसे योगी लोग (विना रसावेश के) दुहा करते हैं।"[2]

इस प्रकार, रस-कवि के लिए रस का "आवेश" होना आवश्यक है और इस आवेश का सम्प्रेषण अभिव्यक्ति की विदग्ध निपुणता पर अवलम्बित होता है। सुतराम्, काव्य-व्यापार में शिल्प का अ-प्रतिषेध्य महत्व है।

सूरदास रसाभ्यासी कवि हैं। रस की धारासार वर्षा कराने में उनका शिल्प विलक्षण सहयोग प्रदान करता है। उनकी काव्य-कला का परीक्षण 'रचना-प्रक्रिया' और 'रचना-शैली' के दो संश्लिष्ट शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है।

---

1. संस्कृत शब्दार्थ-कौस्तुभ, चतुर्थ संस्करण, पृ० 1156
2. ध्वन्यालोक, 'लोचन', प्रथम उद्योत।

(1) रचना-प्रक्रिया

(क) रचनाशीलता का स्वरूप

मैककिनन ने काव्यात्मक तथा कलात्मक रचना को रचनाकार की आन्तरिक आवश्यकताओं, प्रत्यक्षों, मूल्यांकनों आदि की अभिव्यक्ति बताया है। डी-हान तथा हैविगर्स्ट नामक गवेषकों ने कलागत रचनाशीलता को भावों, संवेदनों तथा भावनाओं का व्यापार कहा है। यह तब घटित होती है जब कलाकार अनुकरण नहीं कर उत्तेजनों को वैयक्तिक ढङ्ग से नये रूप में मिलाता है। इस प्रकार, कलाकार की रचनाशीलता किसी तथ्य का अन्वेषण नहीं, अपितु ऐसी कृति का उत्पादन है जिससे उसका अन्तःकरण परितृप्ति-लाभ करता है। एक अन्य वैज्ञानिक अन्वेषक लेहायस के अनुसार, "रचना के, गाढ़ता तथा गहराई की दृष्टि से, तीन स्तर होते हैं: प्रथम, सहज अभिव्यक्ति का; द्वितीय, टेकनिकल आविष्कार का; और तृतीय, समंजस निष्पत्ति का। इन त्रिविध स्तरों के अनुरूप रचना-कृति की गुण-गरिमा निर्धारित होती है। अतएव, वह तीसरे स्तर की कृति को सर्वश्रेष्ठ मानता है क्योंकि वह कलाकार वा रचनाकार की नितान्त मौलिक उपज होती है जिसमें सामंजस्य का सुडौलपन निहित होता है।"[1]

रचनाशीलता की प्रक्रिया का विवेचन करते हुए, ग्रैहम वैलास नामक विद्वान् ने उसके चार चरणों का उल्लेख किया है, यथा—(1) जगत् अथवा जीवन के विषय में सूचनाएँ एकत्र करना; (2) एकत्रीकरण के प्रयास में अल्पकालीन ठहराव जिस अवधि में प्राप्त अनुभव रचनाकार के मानस में स्वतंत्रतापूर्वक मिश्रित एवं प्रवाहित होते रहते हैं; (3) अन्तःप्रेरणा अथवा प्रतिभा की आकस्मिक चमक जिसमें ठहराव की अवधि में उत्पन्न अनुभव-सम्बन्ध अर्थवान्, स्पष्ट पहचान में आने योग्य, एकीकृत अनुभव का रूप ग्रहण कर लेते हैं; इसे ही "अन्तःप्रकाश" ('इल्यूमिनेशन') कहा गया है और (4) क्रियान्वयन अथवा सम्मूर्तन।[2]

उपर्युक्त उल्लेखों से कवि अथवा कलाकार की रचनाशीलता का निरूपण यों किया जा सकता है: "रचनाकार में प्रवृत्त होने के पूर्व, कवि अथवा कलाकार जीवन या जगत् के विषय में अपनी आन्तरिक प्रवृत्तियों के अनुकूल किसी वस्तु या तथ्य का 'प्रत्यक्षण' करता है। यह प्रत्यक्षण प्रारम्भिक संवेदनों से सामंजस्य होने से एक अनुभव-विशेष का रूप ग्रहण करता है जो कवि अथवा कलाकार के अन्तर्मानस में 'प्रतिभा की चमक' होता है। आन्तरिक दीप्ति के क्षणों में उपलब्ध यही मानसी प्रत्यक्ष किंवा अनुभव-विशेष शब्दमयी अथवा रेखा-रंग-मयी अभिव्यक्ति पाकर कविता अथवा चित्र बन जाता है।"

प्रसिद्ध रोमांटिक कवि वर्ड्सवर्थ ने कविता को "शक्तिशाली भावनाओं का सहज प्रवाह" बताने के बाद, अन्य प्रसंग में यह भी कहा है कि "शान्ति-स्थिर मनोदशा में

---

1. "Dynamics of Creativity"—Dr. K. N. Sharma, 1979, p. 61-63

2. वही, पृ० 6-7

स्मरण हुए संवेगों'' से कविता का आविर्भाव होता है। अर्थात्, प्राथमिक अनुभूतियों की सहज अभिव्यक्ति से आगे बढ़कर, प्रकृत कविता शान्त मानसिक क्षणों में अनुभूत उस अनुभव-विशेष अथवा मानसिक प्रत्यक्ष का सम्मूर्तन है जिसमें अनुभूतियों का बिखराव नहीं, प्रत्युत एक समन्वित, समंजस बिम्ब का संगठित सौन्दर्य लक्षित होता है। टी० एस० इलियट ने, कविता के निर्वैयक्तिक स्वरूप का निरूपण करते समय, यही बात यों कही है—''कवि का मानस प्लैटिनम धातु के एक बारीक धागे के समान है जिसकी उपस्थिति में 'ऑक्सीजन' तथा 'सल्फर डाइ-ऑक्साइड' नामक दो गैसें मिलकर 'सल्फरस ऐसिड' को जन्म देती हैं जिसमें प्लैटिनम का कोई अंश विद्यमान नहीं रहता। इसी प्रकार, कवि के मानस में अगणित अनुभूतियाँ तथा संवेग एकत्र होते रहते हैं जो, कालात्यय में, परस्पर घुल-मिल कर एक कलात्मक संवेग ('आर्ट इमोशन') बन जाते हैं जिसमें कवि के निजी व्यक्तित्व का सर्वथा विलोप हो जाता है।'' 'व्यक्तित्व के विलोप' में अतिरंजना के होने पर भी, इलियट ने उसी रचना-रहस्य को इंगित किया है जिसे वर्ड्सवर्थ ने अथवा आधुनिक मनोविज्ञान-गवेषकों ने भिन्न-भिन्न ढंग से रेखांकित किया है। दूसरे शब्दों में, कलाकृति रचनाकार के शान्त-स्थिर मानसी प्रत्यक्ष का सम्मूर्तन है जिसे सम्प्रेष्य बनाने के लिए उसने शब्दों अथवा रंग-रेखाओं का नियोजन किया है। इटैलियन सौन्दर्य-शास्त्री क्रोचे ने जिस ''सहज ज्ञान'' अथवा पूर्णतया ''अभि-व्यक्त'' मानसी बिम्ब को ''सौन्दर्य'' कहा है, उसमें भी अनुभूतियों के बिखराव-रहित, समंजस स्वरूप ग्रहण करने के आभ्यन्तर तथ्य को बलाघात दिया गया है—जब वह 'आन्तरिक अभिव्यक्ति' की बात करता है, तब उसका अभिप्राय यही समंजस मानसी प्रत्यक्ष है जिसके बाह्य स्वरूप ('एक्सटर्नलाइजेशन') को वह द्वितीय कोटि की सृष्टि मानता है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन का निचोड़ यह है कि कवि की रचना उसके समंजस मानसी प्रत्यक्ष का बाह्य रूप है जिसे उसने प्रतिभा की दीप्त लपटों में उपलब्ध किया है। ''नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा'' को प्रतिभा कहा भी गया है।

(ख) सूर की रचनाशीलता

वल्लभाचार्य से 'बाह्य संबंध' होने के अनंतर, सूर के हृदय में समग्र हरिलीला ''स्फुरित'' हो गयी—ऐसा 'वार्त्ता' का साक्ष्य है। यह ''स्फुरण'' मानसी प्रत्यक्ष ही है जो कवि की रचनाधर्मिता को परिभाषित करता है। प्रतिभा की चमकती दीप्ति में हरि-लीलाओं का जो मानसी स्वरूप उत्कीर्ण हुआ, वह भक्त-कवि के शान्त-सुस्थिर मनस्-पटल पर एक निश्चित रमणीय बिम्ब के समान तैरने लगा था। उस मानसी प्रत्यक्ष में वह बिम्ब बिखराव से रहित था और उस बिम्ब में भक्त-कवि की तमाम अनुभूतियाँ एवम् संवेग घुल-मिलकर, हरि-लीलाओं के सौन्दर्य को उद्भासित करने लगे थे। वे ही प्रत्यक्षीकृत सौन्दर्य-बिम्ब 'सूरसागर' के लीला-वर्णन में मूर्तित हुए हैं।

सूर के मानसी प्रत्यक्ष और उसकी वाङ्मयी अभिव्यक्ति में प्रायः पूर्ण सामंजस्य दृष्टिगोचर होता है। शब्दों में अवतरित इस मानसी प्रत्यक्ष में एक प्रकार का गुलाबी सौन्दर्य है जो हमें आकर्षित करता है। पूर्ण-विकसित पाटल-प्रसून तभी शोभाधायक बनता है जब उसकी तमाम पंखुड़ियाँ, गोलाई में खिलती हुई, चारों ओर से सिमट कर, एक वर्तुल आकार में परिणत हो गयी होती हैं। सूर के वर्णित चित्रों में यही गुलाबी सौन्दर्य निखर गया है।

रचनाशीलता के संदर्भ में पाश्चात्यों ने कवि या कलाकार को "सौन्दर्य का द्रष्टा" ही नहीं, "सौन्दर्य का स्रष्टा" भी माना है। वस्तुत: रचना की पूरी प्रक्रिया सौन्दर्य के सर्जन में चरितार्थ होती है। किन्तु, इस 'सृष्टि' का मूल आधार कवि की अन्तर्दृष्टि ही है। जैसा ऊपर कहा है, प्रातिभ प्रकाश की अनायासित दीप्ति में कलाकार को सौन्दर्य का प्रत्यक्ष होता है, वहीं उसका सौन्दर्य-दर्शन पारा-जैसी झिलमिलाहट में चमक उठता है। तभी समर्थ कवि या कलाकार उसे सावधानी से पकड़ता है और अपनी रूपविधायिनी कल्पना के रंगों एवम् दीप्तियों में उस सहजोपलब्ध सौन्दर्य-तत्त्व को रंजित कर प्रांजल बनाता है। इस प्रकार, वह 'सौन्दर्य-द्रष्टा' से आगे बढ़कर 'सौन्दर्य-स्रष्टा' भी बन जाता है। तभी वह "काव्य-संसार का प्रजापति" बन पाता है। हरि-लीलाओं का जो मानसी सौन्दर्य-बिम्ब सूर के अन्तःकरण में प्रस्फुटित हुआ, जो सौन्दर्य-दृष्टि उन्हें प्राप्त हुई, वह उनकी मूर्ति-विधायिनी कल्पना के पारस से संयुक्त होकर, 'सूरसागर' के लीला-वर्णन में अपार लालित्य-मंदाकिनी प्रवाहित कर रही है। उपर्युक्त "नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा" प्रतिभा भी है और वही कल्पना भी है। सूर के लीला-चित्रों में अवतरित लालित्य उनके सहज सौन्दर्य-दर्शन का वह प्रस्फुट स्वरूप है जो उनके सौन्दर्य-स्रष्टृत्व के शील से मंडित होकर नितान्त कमनीय तथा मोहक बन गया है। भारतीय आचार्यों ने कविता के लिए जिस "अविचारितरमणीय" का कथन किया है, वह वस्तुतः कवि के मानसी सौन्दर्यानुभव का ही प्रांजल, परिमार्जित संस्करण है जिसे मूर्ति-विधायिनी कल्पना अथवा प्रतिभा सम्प्रेषणीय बनाती है। 'सूरसागर' का लीला-वर्णन ऐसे ललित बिम्बों का अक्षय्य आगार है।

सूर की एक विशेषता है कि जिस मूर्ति का उन्हें मानसी प्रत्यक्ष हुआ है, उसका व्यंजक एक वाक्य या पंक्ति वे पद के आरंभ में कथित कर देते हैं और तब क्रमशः उस चित्र के 'डीटेल' भरने लग जाते हैं। उदाहरणतः नीचे का पद देखें—

"सखी री मुरली लीजै चोरि।
जिनि गुपाल कीन्हें अपनैं बस, प्रीति सबनि की तोरि।।
छिन इक घर-भीतर, निसि-बासर, धरत न कबहूँ छोरि।
कबहूँ कर, कबहूँ अधरनि, कटि कबहूँ खोंसत जोरि।।
ना जानौं कछु मेलि मोहिनी, राखे अँग-अँग भोरि।
सूरदास प्रभु कौ मन सजनी, बँध्यौ राग की डोरि।।" (1275)

प्रस्तुत पद में गोपियों की मुरली के प्रति सपत्निभाव की व्यंजना है। वे महसूस करती हैं कि उसने कृष्ण को "राग की डोरी" में बाँध लिया है जिस कारण वे उनके अनुराग की अवहेलना कर रहे हैं। इस मुख्य प्रतिपाद्य को सूर, ध्वनि-रूप में, पहली पंक्ति में ही सूचित कर देते हैं—"हे सखी! आओ मुरली चुरा ली जाय।" और तब, क्रमशः एक-एक करके उस विचारित चोरी का कारण बता रहे हैं: "इसने गोपाल को, हम सबों की प्रीति तोड़कर, अपने वश में कर लिया है; वे बराबर उसी के बजाने में व्यस्त रहते हैं। कभी उसे हाथ पर, कभी होठ पर रखते और कभी कमर में खोंस लेते हैं।" इतने तक, सूर मुरली-वादन का वस्तुगत चित्र अंकित करते हैं और उसके बाद मुरली के प्रति कृष्ण के रहस्यपूर्ण आकर्षक का कथन करते हैं: "नहीं मालूम, यह मुरली अपने अंगों में कौन-सी मोहिनी छिपाये हुए है जिससे कृष्ण उसके राग की डोरी में बँध गये

हैं।" सजग पाठक आसानी से समझ सकते हैं कि सूर ने मुख्य कथ्य को पहली पंक्ति में संकेतित कर, कैसे उसे रूपायित किया है। चित्र की प्रत्येक रेखा सहज रीति से उभरती चली गयी है, कहीं कोई आयास का चिह्न नहीं दीख पड़ता। और, पद की पूरी अर्थ-भावना से एक संश्लिष्ट सौन्दर्य का बोध होता है। यहाँ कवि ने एक मानसिक भाव, एक प्रतीति का चित्रण किया है जो स्वतः पूर्ण एवं विश्वासोत्पादक है। यह चित्र उसके मानसी प्रत्यक्ष का प्रतिबिम्ब है। वह प्रत्यक्ष कतिपय आवश्यक विन्दुओं के समरस होने का परिणाम है।

रूप-चित्र प्रायः सदैव सूर के मानसी प्रत्यक्ष की पूर्णता के व्यंजक हैं। चाहे कृष्ण, चाहे राधा—किसी के भी रूप-सौन्दर्य के चित्रण के मूल में कवि का प्रत्यक्षीकरण एक समंजस बिम्ब का रूप ग्रहण करता दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि इन चित्रों में परम्परा-भुक्त उपमानों का विनियोग हुआ है, तथापि वे उपमान जानबूझकर केवल बाह्यालंकृति के हेतु लाये हुए नहीं हैं। उनके प्रयोग के मूल में कवि का मानसी बिम्ब है जिसे उसने कल्पना की रचनात्मक ऊष्मा में उपलब्ध किया है। वह प्रत्यक्ष इस कारण भी विशिष्ट या पूर्ण हो गया है कि कवि के आराध्य लौकिक लीलाओं के परिवेश में भी मूलतः अलौकिक हैं, अथवा इस कारण कि वह अलौकिक सत्ताओं को प्रसन्न-मधुर लीला को मानुषी अभिधानों में बन्दी बनाना चाहता है। इन रूपचित्रों में सूर की मानसी-प्रतीति की लोकोत्तरता स्पष्ट झलक जाती है।

लेकिन, ऐसे चित्रों में भी पद की पहली पंक्ति व्यंजनीय सौन्दर्य-मूर्ति की 'मूल ध्वनि' को अनुरणित करती है और परवर्ती पंक्तियाँ उसका उपबृंहण करती हैं। एक पद यों प्रारंभ होता है :

"मुख पर चंद डारौं वारि।

कुटिल कच पर भौंर वारौं, भौंह पर धनु बारि॥" (2455)

कवि कृष्ण के मुख पर चन्द्रमा को न्यौछावर करता है; कुटिल केशों पर भ्रमर को न्यौछावर करता है; भौंहों पर धनुष को न्यौछावर करता है। उपमान परिचित, परम्पराप्रथित हैं। कृष्ण के अंगों की विलक्षण शोभा की तुलना में उपमानों की हेयता, त्याज्यता की भावना कवि के मानसी साक्षात्कार का अंग बन जाती है और मुख पर चन्द्रमा को न्यौछावर करने की जो भावना आरम्भ में उत्पन्न हुई है, वह सम्पूर्ण पद में दुहरायी गयी है, इसलिए कि उसे दुहराने से ही कवि का मानसी प्रत्यक्ष पाठक के लिए भी सम्प्रेषणीय बन पाया है। हम जिस कलात्मक विन्दु को रेखांकित करना चाहते हैं, वह है कवि के प्रत्यक्ष की अन्विति या सामंजस्य का उसकी वाङ्मयी अभिव्यक्ति में प्रति-बिम्बन। अर्थात्, मानसी साक्षात्कार और बाह्य अभिव्यंजना में कोई 'द्वैत' नहीं, कोई 'दरार' नहीं है, दोनों समरस हैं। रास-नृत्य के चित्रों में प्रत्यक्ष और उसकी अभिव्यक्ति का सामरस्य दर्शनीय है।

कहीं-कहीं सूर का प्रत्यक्ष, किन्तु खंडित-सा प्रतीत होता है। आगे का प्रसिद्ध पद विचारणीय है—

"मानौ माई घन-घन अंतर दामिनि ।
घन दामिनि दामिनि घन अंतर, सोभित हरि ब्रज-भामिनि ।।
जमुन पुलिन मल्लिका मनोहर, सरद-सुहाई जामिनि ।
सुंदर ससि गुन रूप-राग-निधि, अंग-अंग अभिरामिनि ।।"

आदि (1666)

प्रथम दो पंक्तियों में श्यामवर्ण कृष्ण तथा गौरवर्ण तरुणियों के परस्पर सट कर त्वरित नृत्य करने की व्यंजना की गयी है। जिस सौन्दर्य-दृश्य का साक्षात्कार कवि कर रहा है, वह नृत्य-जगत् में भी अलौकिक समझा जायेगा। बादल-बादल के बीच में बिजली और बिजली-बिजली के बीच में बादल, और कभी-कभी बादल में बिजली और बिजली में बादल—प्रत्यक्ष सचमुच रमणीय है। बादल कृष्ण का और बिजली तरुणियाँ का प्रतीक है। कृष्ण इतनी क्षिप्रगति से नृत्य करते हैं कि दर्शक की आँखें धोखे में पड़ जाती हैं। एक साँवले कृष्ण दो बन जाते हैं और तब उन दो बादलों के बीच में एक तरुणी-रूपी बिजली घिर जाती है। पुन: दो गोरी तरुणियों के बीच एक साँवले कृष्ण घिर जाते हैं, तब प्रतीत होता है जैसे दो बिजलियों के बीच एक काला बादल घिर गया है। और, जब कृष्ण किसी तरुणी के अंग से नाचते-नाचते सट जाते हैं, तब बादल में बिजली और बिजली में बादल का अवभास होने लगता है। नृत्य-शोभा का प्रस्तुत मानसी साक्षात्कार अद्भुत, विलक्षण है। भौतिक दृष्टि से ऐसा रास-नृत्य संभव है अथवा नहीं—इसका विचार अनर्गल है क्योंकि कवि के प्रत्यक्ष से समरस होने के लिए हमें वह अन्तर्दृष्टि प्राप्त होनी ही चाहिए। कवि ने सौन्दर्य का एक 'विजन', एक "सहज-ज्ञान" उपलब्ध किया है और उसे शब्दमयी अभिव्यक्ति प्रदान की है। हम समझते हैं, कवि ने जो मायावी सौन्दर्य देखा, उसकी अभिव्यंजना के लिए नियोजित शिल्प समर्थ सिद्ध हुआ है।

लेकिन, हमारी आपत्ति यह है कि इस मायावी दृश्य के प्रत्यक्ष के बाद, सूर की समाधि शिथिल हो गयी है। वे इस रमणीय दृश्य के इन्द्रजाल को आगे नहीं भावित कर सके हैं। "गुण की ग्राम", अंग-प्रत्यंग में "अभिराम" व्रजवामाएँ मुदित होकर, "रूप-विधान श्यामसुन्दर" के मन को "विश्राम" देने लग गयी हैं। प्रथम दो पंक्तियों के लोकोत्तर सौन्दर्य के परिप्रेक्ष्य में बाद वाली पंक्तियाँ "बैथॉस", "पतत्प्रकर्ष" की गंध दे रही हैं। सूर का 'विजन' वहाँ खंडित हो गया है जहाँ वे नृत्यशील, चपल-गतिमयी युवतियों को 'गजगामिनी' बता देते हैं—

"खंजन-मीन-मयूर-हंस-पिक, भाइ-भेद गज-गामिनि।"

जिन तरुणियों ने अपनी क्षिप्र गति से "बिजली-बिजली के बीच बादल" का चाक्षुष विभ्रम उत्पन्न कर दिया हो, उन्हें उसी संदर्भ में "गजगामिनी" बताना कवि के शिल्प की शिथिलता है।

इसी प्रसंग में एक अन्य प्रसिद्ध पद भी विचारणीय है—

"सुनहु स्याम यह बात और कोउ क्यौं समुझाइ कहै।
दुहुँ दिसि की अति बिरह बिरहिनी, कैसैं कै जु सहै।।

जब राधा तब ही मुख माधौ, माधौ रटत रहै।
जब माधौ ह्वै जात सकलतन राधा-बिरह दहै ॥
उभै अग्र दव दारु-कीट ज्यौं, सीतलताहि चहै।
सूरदास अति बिकल बिरहिनी, कैसैंहु सुख न लहै ॥" (4723)

इस पद में साधारणतः वियोगजन्य 'प्रलाप' नामक कामदशा चित्रित समझी जा सकती है। किन्तु, इस वर्णन में एक विशेषता है। राधा जब संज्ञा (होश) में रहती है, तब 'माधव', 'माधव' रटती है और जब-जब माधव की रट लगाते-लगाते वह स्वयं माधव बन जाती है, तब वह (उस माधव-रूप में) राधा के विरह से पीड़ित हो जाती है। इस प्रकार, वह प्रायः ऐसे विकल हो जाती है, जैसे काठ में निवास करने वाला कीड़ा उस समय संकट में फँस जाता है जब उस काठ के दोनों छोरों पर आग लग जाती है। 'माधव'-'माधव' रटते-रटते राधा का माधव बन जाना, प्रमाता का प्रमेय से तादात्म्य स्थापित कर लेना, यह बात तो समझ में आती है और इसके लिए, साधनात्मक अथवा आध्यात्मिक आधार के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक अनुमोदन भी प्राप्त है। किन्तु, माधव बन जाने के बाद, राधा उस अल्पकालिक 'अद्वैत' की स्थिति में माधव की मनोदशा प्राप्त कर लेती है और तब वह राधा के वियोग में तड़पने लगती है—यह मानसिक घटना विलक्षण प्रतीत होती है। हमारी धारणा है कि यह मानसिक परिवर्तन अनुभूति का विषय न होकर, चमत्कारिणी कल्पना की उपज है जिसके मूल में विरहिणी राधा की आत्यंतिक तन्मयताजन्य अन्तर्वेदना की व्यंजना कवि को अभीष्ट है। लेकिन, प्रमाता का प्रमेय बन जाने और प्रमेय की स्थिति में पुनः नवीन प्रमाता बन जाने, "द्वैताद्वैतद्वैतवाद" (द्वैत+अद्वैत+द्वैत) का यह निरूपण मनोविज्ञान-सम्मत नहीं है। सूर का प्रत्यक्षण यहाँ कृत्रिम-सा अवभासित होता है।

इस प्रसंग में स्मरणीय है कि विद्यापति ने भी राधा की विरह-वेदना का ऐसा ही एक चित्र अंकित किया है जो यों है—

"अनुखन माधव सुमरत सुंदरि भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभावहिं बिसरल अपने गुन लुबुधाई ॥

× × × ×

अनुखन राधा राधा रटइत आधा आधा बानि।
राधा सयँ जब पुन तहिं माधव सयँ जब राधा ॥

× × × ×

दुहुँ दिसि दारु-दहन जैसे दगध आकुल कीट परान।
ऐसनि बल्लभ हेरि सुधामुखि कबि विद्यापति भान ॥"

जैसा हमने अपने शोध-प्रबंध, सूर का शृंगार-वर्णन', में दिखाया है, विद्यापति तथा सूर, दोनों को प्रस्तुत समान चित्र अंकित करने की प्रेरणा संभवतः तत्कालीन भक्ति-

संसिक्त काव्यात्मक वातावरण से प्राप्त हुई जिसमें ऐसे वेदनापूर्ण प्रणयचित्र तैरते रहे हों। तथ्य जो भी हो, ऐसे चित्र निश्चयमेव सहज मनोवैज्ञानिक अनुमोदन से वंचित समझे जायेंगे।

(ग) सूर की अभिव्यक्ति-कला

(i) **अभिव्यक्ति के उपादान**—आचार्य भामह ने काव्य को शब्द तथा अर्थ का (चारुत्व-गर्भित) साहित्य बताया था—"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।" तब से शब्द तथा अर्थ का सह-अस्तित्व काव्य का 'शरीर' माना जाने लगा। दण्डी ने इसी कथन को तनिक सँवार कर कहा कि ऐसी पदावली काव्य है जो अभीष्ट अर्थ से पूर्ण मेल खाती हो—"इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।" परिणामतः, नाट्यशास्त्र से पृथक् जो काव्यशास्त्र विकसित हुआ, उसमें अभिव्यक्ति के बहिरंग तत्त्वों का अनुशीलन प्रमुख बन गया। भरतमुनि के प्रसिद्ध 'नाट्यशास्त्र' के केवल एक, सत्रहवें, अध्याय में प्रकृत काव्यशास्त्रीय तत्वों का विवेचन उपलब्ध है जिसमें (नाट्यगत) काव्यबन्ध के छत्तीस लक्षणों, चार अलंकारों, दस दोषों तथा दस गुणों का व्याख्यान हुआ है।[1] छत्तीस लक्षणों में पहला लक्षण "भूषण" बताया गया है जिसकी परिभाषा में कहा गया है कि अलंकारों तथा गुणों से समलंकृत होना "भूषण" है—

"अलंकारैर्गुणैश्च बहुभिः समलङ्कृतम्।
भूषणैरिव चित्रार्थैस्तद् भूषणमिति स्मृतम्।" (16/6)

—अर्थात्, काव्य की अभिव्यक्ति को गुणों तथा अलंकारों से विभूषित होना चाहिए। परवर्ती आचार्यों ने अभिव्यक्ति-पक्ष को, 'काव्य-शरीर' के अलंकरण को, पर्याप्त महत्व प्रदान किया जिसके फलस्वरूप, काव्यशास्त्र की अपर अभिधा ही प्रचलित हो गयी, 'अलंकारशास्त्र', जो आज भी किसी-न-किसी रूप में जीवित है।

दण्डी संभवतः सबसे पहले प्रकृत 'काव्यशास्त्री' हैं जिन्होंने अपने समय में प्रचलित साहित्य-रचना की दो शैलियों की पहचान की जिन्हें वे "वैदर्भमार्ग" तथा "गौड़ मार्ग" की संज्ञा प्रदान करते हैं। उन्होंने अलंकार के साथ 'गुण' को भी 'काव्य-शरीर' की शोभा बढ़ाने वाले तत्व स्वीकार किया है जिस कारण, वे 'गुण' को 'अलंकार' कहते हैं। दण्डी के मतानुसार, इन दो मार्गों के विधायक तत्व गुण ही हैं जिनकी संख्या उन्होंने भरत की भाँति, किन्तु भरत से भिन्न दस बतायी है और उन्हें शब्द एवम् अर्थ दोनों पक्षों में स्वीकार किया है। ये गुण वैदर्भमार्ग के "प्राण" कहे गये हैं, जबकि गौड़ मार्ग में इनका अभाव रहता है – अतएव, 'वैदर्भमार्ग' श्रेष्ठतर रचना-मार्ग है। दस गुण यों परिगणित हुए – श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थ-व्यक्ति, उदारत्व, ओजस्, कान्ति और समाधि। भरत 'मार्ग' के विषय में मौन हैं।

आचार्य वामन काव्याभिव्यक्ति को महत्व प्रदान करने वाले दूसरे महत्वशाली काव्यशास्त्री हैं। उन्होंने ग्रंथारंभ में ही घोषणा कर दी कि काव्य अलंकार के कारण

---

1. 'नाट्यशास्त्र' के 36 अध्यायों में 33 अध्याय अभिनयादि से संबद्ध हैं, जबकि दो अध्याय, 7 तथा 8, रस तथा भाव की मीमांसा करते हैं और एक, 17वें, में काव्य-लक्षणादि की चर्चा है।

ग्राह्य है और सौन्दर्य अलंकार है— "काव्य ग्राह्यम् अलंकारात्। सौन्दर्यम् अलंकारः।" अलंकार का अर्थ वे "अलंकृति" मानते हैं और साथ ही उपमादि अलंकारों को 'अलंकार' कहते हैं। अर्थात्, उनके अनुसार, काव्य की शोभा के आधायक सभी तत्व अलंकार हैं जिनमें हमारे परिचित उपमादि अलंकार भी सन्निविष्ट हैं। बाद वाली कारिका में वामन ने कहा है कि दोषों के विनाश तथा गुणों के आदान से वह 'अलंकार' उत्पन्न होता है जो काव्य का 'सौन्दर्य' है।[1] आगे चलकर, वे घोषणा करते हैं कि गुण "काव्य-शोभा" के उत्पादक हैं, जबकि अलंकार उस शोभा के "अतिशय" के कारण हैं।[2] इस प्रकार, काव्य-सौन्दर्य मूलतः गुणों के आदान की सृष्टि है, अर्थात् वे काव्य के "नित्य" धर्म हैं, जबकि शोभातिशय के कारक उपमादि अलंकारों का अपरकोटीय महत्व है, अर्थात् वे "अनित्य" धर्म समझे जायेंगे।

वामन ने भी दस गुण माने हैं और उन्हें शब्द तथा अर्थ दोनों से संबद्ध स्वीकार किया है। ये गुण वही हैं जिनका उल्लेख दण्डी ने किया है। दण्डी के 'मार्गों' को वामन ने "रीति" को आख्या प्रदान की है और उसे "विशिष्ट पद-रचना" कहा है। साथ ही, इस वैशिष्ट्य को उन्होंने "गुणात्मा" अर्थात् गुण-रूप बताया है।[3] दण्डी के दो मार्गों की जगह वामन ने तीन 'रीतियाँ' उल्लिखित की हैं जिन्हें 'वैदर्भी', 'गौड़ीया' तथा 'पाञ्चाली कहा गया है। ओज, प्रसादादि सभी प्रमुख गुणों से समन्वित रीति 'वैदर्भी' है; ओज तथा कान्ति गुणों से युक्त रीति 'गौड़ी' है और माधुर्य तथा सौकुमार्य गुणों से उपेत रीति 'पांचाली' है।

आनंदवर्धन ने 'ध्वनि' की प्रस्थापना व्यक्त की है, किन्तु "शब्द-तत्व" तथा "अर्थ-तत्व" के आश्रित "वृत्तियों" का कथन कर, उन्होंने प्रकारान्तर से वामन की रीतियों का महत्व स्वीकार कर ही लिया है और उनकी त्रिविध वृत्तियाँ—'उपनागरिका', 'परुषा' तथा 'कोमला' त्रिविध रीतियों की स्थानापन्न बन गयी हैं।[4] पद-संघटना को वे भी महत्व प्रदान करते हैं और गुणों को इसी "संघटना" का धर्म मानते हैं यद्यपि उन्होंने परम्पराप्रथित दस गुणों की जगह केवल तीन गुण ही माने हैं—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद। गुणों तथा अलंकारों के सापेक्षिक महत्व का व्याख्यान करते हुए, आनंदवर्धन ने कहा है कि "काव्य में रस अथवा भाव 'अंगी' है और इस अंगी-रूप अर्थ का जो अवलंबन करते हैं, वे 'गुण' हैं, जबकि कटकादि आभूषणों की तरह, 'अंगों' अर्थात् वाच्यार्थ एवम् वाचक शब्द पर आश्रित रहने वाले तत्व अलंकार हैं।"[5] मम्मट ने आनंद के विवेचन का समर्थन-जैसा करते हुए कहा है, "जैसे आत्मा के शौर्यादि गुण होते हैं, वैसे ही काव्य में अंगीभूत रस को उत्कर्ष प्रदान करने वाले धर्म 'गुण' हैं जिनकी स्थिति 'अचल' होती है। जो धर्म अंगों (शब्द तथा अर्थ अथवा इनमें किसी) के द्वारा कभी-

1. "स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम्।"—'काव्यालङ्कार सूत्र', 1/1/3
2. "काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्तु अलंकाराः॥" —वही, 3/1/1-2
3. "विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा।" —वही, 1/2/7-8
4. "शब्दतत्वाश्रयाः काश्चिदर्थतत्वयुजोऽपराः।
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे॥" —'ध्वन्यालोक', 3/44
5. "तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्॥"—'ध्वन्यालोक', 2/6

कभी उपस्थित रहने वाले रस का उपकार करते हैं, वे हारादि के समान (शरीर की शोभा बढ़ाने वाले) अलंकार कहलाने हैं—यथा अनुप्रास, उपमादि।''[1] व्याख्या में मम्मट ने स्पष्ट कर दिया है कि अनुप्रास, उपमादि अलंकार वाचक शब्द तथा वाच्य अर्थ की शोभा बढ़ाते हुए, अन्ततः अंगीभूत रस का उत्कर्ष करते हैं। किन्तु, जहाँ रस नहीं है, वहाँ ये ''उक्ति-वैचित्र्य'' के साधक सिद्ध होते हैं और कहीं-कहीं रस के वर्तमान होने पर भी, ये अलंकार रस का उपकार नहीं करते। मम्मट ने भी रीतियों के लिए ''वृत्तियाँ'' अभिधान स्वीकार किया है और 'उपनागरिका', 'परुषा' तथा 'कोमला' अथवा 'ग्राम्या', तीन वृत्तियाँ स्वीकार की हैं, अथच आनंदवर्धन के समान ही 'माधुर्य', ओज' तथा 'प्रसाद' तीन गुण माने हैं। ध्यातव्य है कि मम्मट ने वामन का उल्लेख करते हुए, अपनी तीन वृत्तियों को क्रमशः वैदर्भी, गौड़ी तथा पाञ्चाली का समस्थानीय बताया है।

इस प्रसंग में कुन्तक की स्थापनाओं पर तनिक दृष्टिपात अपेक्षणीय प्रतीत होता है। उनका 'वक्रोक्ति-सिद्धान्त' अलंकार-सिद्धान्त का ही एक संशोधित संस्करण है और भामह के समान, 'वक्रोक्ति' एक बार पुनः नये वैभव के साथ कुन्तक में लौट आयी है। कुन्तक ने 'स्वभावोक्ति' का विरोध करते हुए बताया है कि कवि-व्यापार में 'वक्रता' का रहना आवश्यक है और इस वक्रता में भामह की ''लोकातिक्रान्त गोचरता'' के समान कुछ ''अतिशय'' की विद्यमानता होती है। अतः कुन्तक कवि-कथन में ''लोकोत्तर वैचित्र्य'' का समावेश आवश्यक मानते हैं और इस वैचित्र्य की कसौटी ''तद्विदाह्लाद'', अर्थात् 'सहृदयों का आनंद' स्वीकार करते हैं। काव्य उनके लिए शब्द तथा अर्थ का शोभाशाली सम्मिलन है जिसकी परोक्ष निष्पत्ति यह है कि अलंकार काव्य का अविच्छेद्य तत्व है।

कुन्तक ने 'रीति' के लिए दण्डी की भाँति 'मार्ग' शब्द का व्यवहार किया है और 'सुकुमार', 'विचित्र' तथा 'मध्यम' तीन मार्ग माने हैं जिनका घनिष्ट सम्बन्ध 'गुणों' से है। उनके मतानुसार, गुण छह हैं, यथा—माधुर्य, प्रसाद, लावण्य, आभिजात्य, औचित्य और सौभाग्य। इनमें से प्रथम चार 'विशेष' गुण हैं जिनकी स्थिति इन तीन मार्गों में भिन्न-भिन्न रूप में होती है जिस कारण ये 'विशिष्ट' कहलाते हैं। अंतिम दो 'सामान्य' गुण हैं क्योंकि ये दोनों, तीनों मार्गों में, एक ही रूप से स्थित होते हैं। कुन्तक ने 'वक्रोक्ति' को ''वैदग्ध्य-भंगी-भणिति'' के रूप में व्याख्यायित किया है जिसका सामान्य अर्थ है, 'विदग्धतापूर्ण भंगिमा से युक्त कथन'। 'विदग्धता' ''कवि-कर्म-कौशल'' की पर्याय-जैसी है और इस कौशल से उत्पन्न वैचित्र्यपूर्ण कथन 'वक्रोक्ति' है जिसके द्वारा शब्द तथा अर्थ, दोनों की अलंकृति सम्पन्न होती है।[2] यद्यपि प्रस्तुत 'वक्रोक्ति' का क्षेत्र बहुत व्यापक

1. ''ये रसस्याङ्गिनोधर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्ष हेतवस्ते स्युरचलत्थितयो गुणाः।।
उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।।'' —'काव्यप्रकाश', 8/66-67

2. ''उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते।।
(उभौ × × × × शब्दार्थौ अलङ्कार्यौ अलङ्करणीयौ, वैदग्ध्यं विदग्धभावः कविकर्म कौशलम्'')। —'वक्रोक्तिजीवित', 1/10

बना दिया गया है, तथापि सामान्यतः वैचित्र्यमय, विच्छित्तिपूर्ण पदावली, जिससे सहृदय चमत्कृत हो जायँ, 'वक्रोक्ति' मानी जाती है।

प्रस्तुत संदर्भ में मम्मट के परवर्ती दो काव्यशास्त्रियों, विद्याधर तथा विद्यानाथ, की एक प्रतिपत्ति की ओर ध्यान देना वांछनीय प्रतीत होता है क्योंकि उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध काव्यशिल्प के अभिव्यक्ति-पक्ष से है। इन्होंने काव्याभिव्यक्ति में "शय्या" तथा "पाक" की स्थापना की है। जैसे बिस्तरे पर मानव-शरीर विश्राम करता है, वैसे ही काव्यगत शब्द अपनी पारस्परिक अनुकूलता वा संवादिता में विश्राम करते हैं। यही "शय्या" है। मल्लिनाथ ने विद्याधर की 'एकावली' की टीका में कहा है कि शब्दों की यह पारस्परिक "मैत्री" इतनी घनिष्ट होती है कि उन्हें उनके पर्यायों से प्रतिस्थापित या स्थानापन्न नहीं किया जा सकता, 'पाक' का सिद्धान्त 'शय्या-सिद्धान्त' से मेल खाता है।

'पाक' का शाब्दिक अर्थ पक्वता की अवस्था या पकी हुई वस्तु है। वामन ने वैदर्भी रीति की परिशंसना में कहा है कि सहृदयों के हृदय को आनंदित करने वाला वह शब्द—'पाक' इसी रीति में उदित होता है जिससे नीरस पदार्थ भी सरस बन जाता है—"उदयाति हि स तादृक् क्वापि वैदर्भीरीतौ सहृदयहृदयानां रञ्जकः कोऽपि पाकः।"[1] अन्यत्र वामन ने कहा है, "शब्दपाक उसे कहते हैं जब कवि द्वारा प्रयुक्त पद विनिमय (दूसरे पर्यायवाची शब्दों से स्थापत्ति) की संभावना का परित्याग कर देते हैं।"[2] विद्याधर ने "अर्थ-पाक" को स्वीकार करते हुए—जिसका तात्पर्य है विभिन्न काव्यगत रसों के आस्वादन से उत्पन्न अर्थ-गाम्भीर्य—'शब्दपाक' का भी उल्लेख किया है जो वामन के अनुसार, "शब्द-परिवृत्ति-वैमुख्य" (शब्दों के परिवर्तन से विमुखता) है। भोज ने इसे ही "प्रौढ़ि" कहा है जो शब्दगुण है।[3]

राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में आचार्य मंगल को उद्धृत करते हुए बताया है कि 'पाक' संज्ञाओं तथा क्रियाओं का निपुण प्रयोग है, अतः यह "सौशब्द्य", अर्थात् भाषा का गुण है जो इस संभावना का प्रत्याख्यान करता है कि काव्यगत शब्दों वा पदों को हटा कर, उनकी जगह पर, अर्थ-संपदा को बिना हानिग्रस्त बनाये, उनके पर्यायवाची शब्द रखे जा सकते हैं।

यद्यपि राजशेखर की विदुषी पत्नी अवंतिसुन्दरी ने 'पाक' की इस व्याख्या का अपलाप किया है, तथापि राजशेखर ने 'पाक' को "सौशब्द्य" माना है जो मुख्यतः 'अभिधा' का क्षेत्र है, किन्तु जो सहृदयों से आस्वाद्य 'अर्थ' में प्रवेश करता है। यह मनोरंजक बात है कि 'पाक' में भौतिक आस्वादनीयता का तत्व सन्निहित होने के कारण, जहाँ वामन 'वृन्ताक-पाक' (बैंगन का स्वाद) और विद्यानाथ केवल 'द्राक्षापाक' (अंगूर का स्वाद) एवम् 'नारिकेलपाक' का कथन करते हैं, वहाँ रत्नेश्वर तथा राजशेखर जैसे

1. 'काव्यलङ्कारसूत्र', 1/2/21—वृत्ति
2. "यत् पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्।
तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते॥" (वही, 1/3/15)
3. Dr. S. K. De: 'History of Sanskrit Poetics' (1960), p. 240-41

आचार्यों ने 'सहकार-पाक' (आम का स्वाद), 'नीलकपित्थ-पाक' (कैथा, एक फल-विशेष का स्वाद, जो खट्टा होता है), 'पिचुमन्द-पाक' (नीम का स्वाद), 'बदर-पाक' (बेर का स्वाद), 'तिन्तिडी-पाक' (इमली का स्वाद), 'क्रमुक-पाक' (सुपारी का स्वाद) तथा 'त्रपुस-पाक' (ककड़ी या खीरे का स्वाद) का भी उल्लेख किया है।[1] यदि ये आचार्य इन पाकों की परिगणना कराने में सचमुच 'सिंसियर' हैं, तब तो यह मानना पड़ेगा कि विभिन्न प्रकार के काव्य-बंधों के आस्वादन में इन्होंने अत्यन्त सूक्ष्म रसज्ञता का परिचय दिया है। प्रस्तुत लेखक, विद्यानाथ के समान, केवल दो प्रमुख पाकों—'द्राक्षापाक' जिसे 'मृद्विका-पाक' भी कहा गया है और 'नारिकेल-पाक' को ही महत्त्व प्रदान करता है। और यदि अन्य प्रकार की रचनाओं की आस्वाद्यता को किसी या किन्हीं पाकों की अभिधा देनी ही है, तो उसे 'तिन्तिडी-पाक' अथवा 'पिचुमन्द-पाक' की संज्ञा प्रदान की जा सकती है।

उपरिगत समग्र विवेचन के आलोक में यह कहा जा सकता है कि भारतीय काव्यशास्त्रियों ने काव्य की अभिव्यक्ति की गवेषणा में गुण, रीति, अलंकार, वक्रोक्ति, शय्या तथा पाक की व्यवस्था कर, गहरी रसज्ञता का विज्ञापन किया है और यद्यपि इन तत्त्वों के प्रस्थापन में, मुख्यतया 'काव्य-शरीर' की अलंकृति को बलाघातित किया है, तथापि उस अलंकृति की सार्थकता काव्य-काया में अन्तर्निविष्ट रस, भाव अथवा विचार के ह्लादैकमय परिपोष में ही स्वीकार की है।

भामह तथा कुन्तक ने कवि-वाणी में "लोकाति-क्रान्तगोचरता" अथवा "लोकोत्तरता" के अनुप्रवेश पर बल देकर, काव्यभाषा की बुनावट में उक्ति-वैचित्र्य वा कथन-विच्छित्ति को जो प्रमुखता प्रदान की है, वह कदाचित् मुक्तकीय रचनाओं अथवा नाट्य-कृतियों की प्रभावशालिता के लिए अधिक प्रयोजनीय है। 'शय्या' अथवा 'पाक' का सिद्धांत भी संभवतः ऐसी रचनाओं के संदर्भ में अधिक मूल्यवान् सिद्ध होगा।

यह प्रसंग संयोग का विषय है कि प्रेम तथा सौन्दर्य के अप्रतिम गायक सूर की मुक्तकीय, प्रगेय रचनाएँ उपर्युक्त कसौटियों पर खरी उतरती हैं। इस प्रसंग में यह अवधेय है कि "सूरसागर वास्तव में एक महासागर है जिसमें हर-एक प्रकार का जल आकर मिला है। जिस प्रकार उसमें मधुर अमृत है, उसी प्रकार कुछ खारा, फीका और साधारण जल भी। खारे, फीके और साधारण जल से अमृत को अलग करने में विवेचकों को प्रवृत्त रहना चाहिए।"[2] अतः, दशमस्कन्ध पूर्वार्ध को आधार बना कर, सूर की अभिव्यक्ति-कला का अध्ययन किया जाना अयुक्त एवम् अनुचित नहीं होगा, क्योंकि "मधुर अमृत" का यथेष्ट संदोह वहाँ संचित हो गया है।

(ii) **गुण, शय्या अथवा पाक**—भरत के दस गुण भोज तक आते-आते चौबीस बन गये और ये चौबीस शब्द तथा अर्थ दोनों से संबद्ध बताये गये थे। किन्तु, हमने अभी देखा है कि मम्मट के बाद ये गुण सिमट कर तीन ही रह गये और उनकी उपयोगिता रस अथवा भाव के परिपोष में मानी गयी। शब्द एवम् अर्थ का द्वैत भी कृत्रिम मानकर

---

1. 'काव्यमीमांसा', पंचम अध्याय (अंतिम अंश)
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'सूरदास', पृ० 208

छोड़ दिया गया क्योंकि मम्मट ने व्यवस्था दे दी थी कि जैसे शौर्यादि मनुष्य की आत्मा के गुण हैं, वैसे ही ये 'गुण' काव्य में अंगीभूत रस को उत्कर्ष प्रदान करने वाले धर्म ही हैं जिनकी स्थिति "अचल" होती है।

'माधुर्य' उस गुण का नाम है जो चित्त को प्रसन्न कर देता है और संभोग श्रृंगार-रस में उसे सर्वथा "द्रुत" करता अथवा पिघला देता है। करुण, विप्रलंभ, श्रृंगार और शान्त रस में यह उत्कर्ष प्राप्त करता है क्योंकि इनमें समाविष्ट होकर, यह चित्त को अतिशयतापूर्वक विगलित कर देता है। ट, ठ, ड, ढ को छोड़कर क से लेकर म तक के अक्षर, अपने-अपने वर्ग के पंचम अक्षर से संयुक्त; ह्रस्व स्वर के बीच में पड़े र तथा ण; समासों का अभाव अथवा थोड़े या छोटे समासों का होना; और भिन्न-भिन्न पदों के योग से घटित या निर्मित होना—इनसे 'माधुर्य' गुण की सृष्टि होती है और वह रचना "माधुर्यवती" बनती है।

'ओजस्' वह गुण है जो चित्त को "दीप्ति" अथवा उत्तेजित करता है और उसे "विस्तृत" बनाता, अर्थात् फड़का देता है। वीर, वीभत्स तथा रौद्र रस में यह क्रमशः उत्कर्ष प्राप्त करता है। किसी वर्ग के प्रथम तथा तृतीय अक्षरों के साथ उनके पिछले वर्णों का संयोग; र-कार के संयोग; तुल्य वर्णों का संयोग (द्वित्व); टवर्ग के अक्षर; तालव्य श तथा मूर्द्धन्य ष; लम्बे-लम्बे समास और विकट रचना—ये सब ओजोगुण के व्यंजक हैं।

'प्रसाद' वह गुण है जो सूखे हुए इंधन में आग की भाँति, स्वच्छ वस्त्रादि में जल की भाँति सहसा श्रोता या पाठक के मन में व्याप्त हो जाता है। सर्वत्र, सभी रसों तथा भावादिकों में, यह स्थित रहता है। जिस शब्द के सुनते ही तत्काल अर्थ-प्रतीति हो जाय, वह प्रसाद गुण का व्यंजक है।[1]

'सूरसागर' में ये तीनों गुण रसानुकूल अवतीर्ण हुए हैं। कूट एवम् सावयव रूपकों वाले पदों को छोड़कर प्रायः सर्वत्र प्रसाद गुण की स्थिति दर्शनीय है। संभोग तथा विप्रलंभ श्रृंगार के चित्रों से सूर का 'सागर' लबालब भरा हुआ है। 'विनय' के पदों में दास्य-भाव की जो मंदाकिनी प्रवाहित हुई है, उसमें भी चित्त को द्रवित करने वाली क्षमता फूट पड़ी है। सुतराम्, ऐसे पदों में 'माधुर्य' की मधुरिमा सहृदयों को पिघला देती है। आकस्मिक रूप से कोई भी उद्धरण लिये जा सकते हैं, यथा—

"सखियनि बीच नागरी आवै।
छबि निरखत रीझ्यौ नँद-नंदन, प्यारी मनहिं रिझावै॥
कबहुँक आगैं, कबहुँक पाछैं, नाना भाव बतावै।
राधा यह अनुमान करै, हरि मेरे चितहिं चुरावै॥"

—यह संभोग श्रृंगार का चित्र है। निषिद्ध वर्णों तथा समास का अभाव और सानुनासिक वर्णों का प्रयोग 'माधुर्य' की सृष्टि करते हैं। सबसे द्रष्टव्य बिन्दु यह है कि इन पंक्तियों में जो अंगीरूप संभोग श्रृंगार ध्वनित है, उससे सम्पूर्ण पदयोजना वैसे ही

---

1. 'गुणों का यह विवेचन 'काव्यप्रकाश' के अष्टम उल्लास से लिया गया है। 'साहित्यदर्पण' के भी आठवें परिच्छेद में भी गुण-विवेचन उपलब्ध है। —लेखक

लिपटी हुई है, जैसे आत्मा में शौर्यादि गुण वर्तमान होते हैं। पठन-मात्र से रचना का माधुर्य अनुभूत होने लगता है। "कबहुँक आगैं, कबहुँक पाछैं"—यह पदयोजना 'स्वभावोक्ति' की सुकुमारता से संसिक्त होकर, माधुर्य के आस्वाद को गाढ़ा बनाती है।

यहीं 'शय्या' का सौरस्य भी द्रष्टव्य है। "छबि निरखत रीझ्यौ नँदनंदन"; "हरि मेरे चितहिं चुरावै"—पदों पर विचार करें। साफ प्रतीत होता है, ये सभी परस्पर प्रगाढ़ "मैत्री" के भाव में विश्राम कर रहे हैं, कहीं कोई ऐसा पद प्रवेश नहीं पा सका है जो 'मोहनभोग में ककड़ी' के समान शृंगार का आस्वाद बाधित करे। इनमें प्रयुक्त शब्दों, "निरखत", 'रीझ्यौ", "चितहिं", "चुरावै" में से किसी को उसके पर्यायों से प्रतिस्थापित करना कठिन जान पड़ता है। उदाहरणतः, "निरखत" की जगह "पेखत", "देखत" आदि पर्याय रख देने पर भाव-सौन्दर्य खंडित हो जायेगा। "चितहिं" और "चुरावै" के स्थानापन्न शब्दों की खोज तो असम्भव प्रतीत होती है। "चितहिं" 'चित्त' का कर्मकारकीय रूप है और 'चित्त' दार्शनिक चिन्तन में मौलिक चेतना का समस्थानीय माना गया है। अतः, "चितहिं" की जगह 'मनहिं' रख दें तो कवि का पूरा भाव-सौन्दर्य ही विनष्ट हो जायेगा। वैसे ही, "चुरावै" का मार्दव, उसकी सूक्ष्म व्यंजना "हरै" इत्यादि जैसे पर्यायों में कहाँ उतर आ सकती है ? प्रस्तुत पंक्तियों में पदों की शय्या इतनी कोमलता से सजायी हुई है कि उनसे तनिक भी छेड़छाड़ करना उस मैत्री-गर्भित शय्या के कोमल सौन्दर्य के साथ गहन अत्याचार होगा।

विप्रलंभ शृंगार का निम्न चित्र लीजिये—

"बिनु गुपाल बैरिनि भई कुंजैं।
तब वै लता लगति तन सीतल, अब भई विषम ज्वाल की पुजैं।
बृथा बहति जमुना, खग बोलत, बृथा कमल-फूलंनि अति गुंजैं।
पवन पान घनसार संजीवन, दधि-सुत किरनि भानु भई भुंजैं ।।"

यहाँ माधुर्य-व्यंजक पदों की योजना गोपियों की वियोग-वेदना की तीक्ष्णता का सहज बोध कराती है। सानुनासिकता पदयोजना के माधुर्य में वृद्धि करती है। अनुप्रास का नाद-सौन्दर्य भी भाव-माधुरी को स्फीत बनाता है। "गुपाल" के साथ "बैरिनि भई कुंजैं" का योग सर्वथा मनोरम है। "कुंजैं" के संदर्भ में "गुपाल" की सार्थवत्ता यह है कि कृष्ण गायों को चराने जब वृन्दावन की विभिन्न अटवियों में जाते थे, तब ये कुंजें ही उनकी प्रेमलीलाओं का स्थल बनती थीं। अतः जब वियोग में ये शत्रुवत् प्रतीत हो रही हैं, तब 'गोपाल' का ही कथन उपयुक्त है, "कान्ह" या "नंदनंदन" का नहीं। लता की 'शीतलता' और "ज्वाल की पुंजैं" का सहयोग वियोग-व्यथा की असह्य टीस का सुरम्य ध्वनन करता है। पूरे उद्धरण में अनायास जो 'विषम' अलंकार का मार्दव अवतीर्ण हो गया है, वह वियोग की दारुणता की व्यंजना करता हुआ सहृदय के चित्त का सहसा द्रवीकरण करता है जो 'माधुर्य' गुण का धर्म है। 'शय्या' की सजावट तो इतनी संवेदनशील ('सेंसिटिव') प्रतीत होती है कि शब्दों के तनिक परिवर्तन से उसकी मर्मभेदी कोमलता क्षतिग्रस्त हो जायेगी। "दधि-सुत" चन्द्रमा के लिए इस कारण प्रयुक्त है कि 'दधि' अर्थात् समुद्र से उत्पन्न वस्तुओं को शीतल होना चाहिए, जबकि इस चन्द्रमा ने अपना प्रकृत धर्म छोड़कर ताप से जलाने वाला सूर्य का शील ग्रहण कर लिया है। इस वैषम्य का ध्वनन "दधि-सुत" से भिन्न किसी पर्याय के द्वारा इतनी मार्मिकता से नहीं हो

सकता था। साथ ही, "भुंजैं" की व्यंजना लोकभाषा के प्रयोगों से परिचित सहृदय-जन सद्यः समझ सकते हैं ? अन्य पर्याय से इसका प्रतिस्थापन सर्वथा असम्भव है। अब, विनय का एक पद लें—

"रे मन, जग पर जानि ठगायौ।
धन-मद, कुल-मद, तरुनी कैं मद, भव-मद, हरि बिसरायौ ।।
कलि-मल-हरन, कालिमा-टारन, रसना स्याम न गायौ।
रसमय जानि सुवा सेमर कौं चोंच घालि पछितायौ ।।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रस्तुत अवतरण का प्रत्येक पद, प्रत्येक शब्द हमारे चित्त को द्रवीभूत कर देता है। छोटे-छोटे समास, अनुप्रास की नाद-सुषमा से संयुक्त होकर सहृदय की चेतना को वैसे ही आच्छादित कर लेते हैं, जैसे अग्नि के स्पर्श से मोम पिघल कर अपने आधार को समाच्छन्न कर लेती है। "मद" की पुनरावृत्ति दूषण न होकर अभिव्यक्ति की भूषण बन गयी है, क्योंकि धन, कुल, तरुणी, सांसारिक विलास के परिसेवन से जो मनोवृत्ति विकसित होती है, वह 'मद' के पर्याय 'गर्व' से अभिव्यंजित नहीं हो सकती थी और प्रत्येक वस्तु (गर्व उत्पन्न करने वाली धन, कुल आदि) के साथ 'मद' की आवृत्ति कर, मनुष्य के मोह-विभोर हो जाने का तथ्य पुनरुक्ति के माध्यम से ही उभारा जा सकता था। वैसे ही, एक ही भगवान् के लिए दूसरी पंक्ति में "हरि" तथा तीसरी में "स्याम" का प्रयोग अर्थगर्भित है। "हरति पापानि इति हरिः"—पापों का हरण करने वाला 'हरि' है। अतः "धन-मद" इत्यादि के प्रसंग में 'हरि' का प्रयोग समीचीन है क्योंकि 'हरि' भगवान् ही मनुष्य का उद्धार कर सकते हैं। तीसरी पंक्ति में 'पाप-हरण' विशेषण की रक्षा करते हुए भी जो भक्ति-भाव की 'आश्वासन' तथा 'मनस्ताप' जैसी "भूमिकाओं" की व्यंजना के लिए आवश्यक था, सूर ने "स्याम" शब्द का प्रयोग किया है। इसका रहस्य इस पद के पूर्ववर्ती पद "रसना" में छिपा है। 'रसना' रस का आस्वाद लेती है। "गायौ" से संगीत का बोध होता है जो आस्वाद्य वस्तु है। 'रसना' को 'स्याम', 'स्याम' का गान करने में जो आनन्द मिलेगा, वह 'हरि', 'हरि' अथवा अन्य किसी पर्यायवाची शब्द की रटन में नहीं मिलेगा। मधुर पदावली के विनियोग से 'माधुर्य' गुण अवतीर्ण हुआ ही है, साथ ही 'पश्चात्ताप' का जो अर्थगौरव समूची पदयोजना से उच्छलित हो रहा है, वह भी सहृदय के अन्तश्चित्त को पिघला देता है। अर्थात्, 'माधुर्य' गुण शब्दगत होने के साथ अर्थगत भी है क्योंकि अन्य गुणों के समान, यह विवक्षित भाव-तत्त्व पर आश्रित है। पहली पंक्ति, "जग पर जानि ठगायौ" में आया निषिद्ध वर्ण 'ठ' पूरे अवतरण में चित्रित भावराशि के परिप्रेक्ष्य में अपनी कर्कशता खो बैठता है और 'जग' अर्थात् सांसारिक भोगों की निस्सारिता-पूर्ण प्रलोभनीयता की व्यंजना के लिए, लोकभाषा की ध्वनिमयता के आलोक में अन्य कोई शब्द उपयुक्त नहीं होता। सुतराम्, पदों की परस्पर 'मैत्री' इन पंक्तियों में इतनी गाढ़ी बन गयी है कि उनमें तनिक फेर-बदलाव घातक सिद्ध होता। सूर के पदों में प्रायेण "शब्द-परिवृत्ति-वैमुख्य" का तत्त्व वर्तमान है जो पद-शय्या के सुश्लिष्ट सौन्दर्य का साधक बन गया है।

'सूरसागर' के बहुलांश पदों में 'प्रसाद' गुण का सौरस्य वर्तमान है। किन्तु, सावयव रूपकों में प्रासादिकता का स्पष्ट अभाव है। दृष्टिकूट वाले पद भी विशुद्ध, कोरे चमत्कार की भावना से अनुप्राणित हैं और उनमें अर्थ-वैमल्य की प्रत्यक्ष उपेक्षा हुई है।

उक्त प्रसिद्ध तीन गुणों के अतिरिक्त, अन्य आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट अन्य दो गुणों की चर्चा वांछनीय प्रतीत होती है, यथा—'कान्ति' और 'सौभाग्य'। 'कान्ति' का उल्लेख दंडी एवम् वामन दोनों ने किया है और 'सौभाग्य' की चर्चा कुन्तक ने की है। दण्डी सामान्य प्रयोग की अनुरूपता, अर्थात् अस्वाभाविक एवं अत्युक्तिपूर्ण प्रयोगों के निषेध को 'कान्ति' गुण कहते हैं, जबकि वामन बन्ध की उज्ज्वलता को 'कान्ति' मानते हैं—"औज्ज्वल्यं कान्तिः।" कुन्तक ने 'सौभाग्य' की परिभाषा तो नहीं की है, किन्तु उसका जो महत्त्व-वर्णन किया है, उसमें उसके स्वरूप का आभास मिलता है। कुन्तक ने कहा है कि 'सौभाग्य' गुण सहृदयों के लिए अलौकिक चमत्कारोत्पादक, काव्य का एक जीवन, अर्थात् परम तत्व है।[1] उन्होंने इस गुण की उदाहृति के लिए निम्न श्लोक दिया है—

"दोर्मूलावधि सूत्रितस्तनमुरः स्निह्यत्कटाक्षे दृशौ,
किञ्चित्ताण्डवपंडिते स्मितसुधासिक्तोक्तिषु भ्रूलते।
चेतः कन्दलितं स्मख्यातिकरैर्लाविण्यमङ्गैर्वृतम्,
तन्वंग्यास्तरुणिम्निसर्पति शनैरन्यैव काचिल्लिपिः।।"

(व० जी०, 1/121)

प्रस्तुत पद्य में वयःसंधि का चित्रण है। यौवन के प्रस्फुरण से तरुणी के वक्षस्थल पर, बाहुमूल तक स्तनों के उभार की रेखा पड़ गयी है। आँखों में स्नेहयुक्त कटाक्षों का प्रवेश हो गया है। मुस्कान-रूपसुधा से सिक्त भौंहें नाचने में प्रवीण-सी हो चली हैं; मन में काम का अंकुरण-सा होने लगा है और शरीर के अंगों ने लावण्य धारण कर लिया है।

यदि इस उदाहरण को 'सौभाग्य' के शील का व्यंजक मान लें तो प्रतीत होता है कि यह गुण ऐसे ही प्रसंगों में, ललित पदावली के विनियोग से ललित भाव के निबंधन में प्रतिफलित होता है। इस कसौटी पर, 'सूरसागर' सौभाग्य गुण से उपेत अनेक रमणीय चित्रों की वीथिका है। केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

"मुरि-मुरि चितवति नंद-गली।
डग न परत ब्रजनाथ-साथ बिनु, बिरह-बिथा मैं जाति चली।।
बार-बार मोहन-मुख-कारन, आवति फिरि-फिरि संग अली।
चली पीठि दै दृष्टि फिरावति, अंग-अंग आनंद रली।।
करि कपोत-मीन-पिक सारँग, केहरी कदली छबि बिदली।
सूरदास प्रभु पास दुहावति, धनि-धनि श्रीवृषभानु-लली।।" (1357)

यहाँ गाय दुहाने के बाद घर जाती हुई राधा के मनोभाव का चित्रण है। राधा का मुड़-मुड़ कर पीछे देखना कृष्ण-विषयक उसकी नवस्फुरित रत अथवा स्नेह की व्यंजना करता है। 'उसके अंगों की शोभा ने सुग्गे, कबूतर, मछली, कोयल, चन्द्रमा, सिंह तथा केले की छवियों को दलित कर दिया है'—इस कथन से किशोरी राधा के नवस्फुट सौन्दर्य का प्रतिभास सहृदयों के चित्त में अलौकिक चमत्मकार की सृष्टि करता है।

1. 'वक्रोक्तिजीवित', 1/55-56

'प्रतीप' अलंकार का सौन्दर्य कवि के समग्र भाव-निरूपण में डूब-सा गया है; उसका अपना अलग चमत्कार हमें नहीं पकड़ता, अपितु राधा के नवतारुण्य-सुलभ स्वभाव की मधुरिमा हमें लोकोत्तर आह्लाद-सरोवर में डुबो देती है। अतः, वर्तमान पद में 'सौभाग्य' गुण का सौरस्य उच्छलित हो गया है।

'कान्ति' गुण का प्रतिफलन निम्न पद में द्रष्टव्य है—

"ललन, तुम ऐसे लाड़ लड़ाए।
लै करि चीर कदम पर बैठे, किन ऐसैं ढँग लाए॥

हा हा करति, कंचुकी माँगति, अंबर दिए मन भाए।
कीन्हीं प्रीति प्रगट मिलिबे कौं, सबके सकुच गँवाए॥

दुख अरु हाँसी सुनौ सखी री, कान्ह अचानक आए।
सूर स्याम को मिलन सखी अब, कैसैं दुरत दुराए॥" (1412)

यहाँ पदरचना सामान्य बोलचाल के माधुर्य से संवलित है और 'उज्ज्वलता' के तत्त्व से अनुरंजित है। शब्दों के चयन में कहीं कोई कृत्रिमता अथवा दुरूहता नहीं आने पायी है। अर्थवैमल्य पदों के वैमल्य के साथ बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से जुड़ा हुआ है। यहाँ पदावली का 'औज्ज्वल्य' है जो 'कान्तिगुण' का उत्पादक है। ऐसे घनेरो पद धूर में उपलब्ध हैं।

(iii) **रीतियाँ, वृत्तियाँ अथवा मार्ग**—वामन ने 'वैदर्भी' को सर्वश्रेष्ठ रीति बताया है क्योंकि उसमें समस्त गुणों की अवस्थिति होती है। मम्मट ने इसी रीति को 'उपनागरिका वृत्ति' कहा है। विश्वनाथ ने, ऐसा प्रतीत होता है, वैदर्भ के स्वरूप को तनिक संशोधित कर दिया है क्योंकि उन्होंने उसे माधुर्य-व्यंजक वर्णों से घटित "ललितात्मिका" रचना बताया है, अर्थात्, ओज इत्यादि दस गुणों के वामनोक्त "साकल्य" का परोक्ष प्रत्याख्यान किया है—यद्यपि उन्होंने रुद्रट को भी उद्धृत किया है जो वामनीय मत के समर्थक हैं—"अस्मस्तैकसमस्तायुक्ता दशभिर्गुणैश्च वैदर्भी ××××।" तब, सामान्यतः यह मानना चाहिए कि वैदर्भी रीति में ओज, श्लेषादि समस्त गुणों की स्थिति रहती है। 'गौड़ी' के विषय में कोई मतभेद लक्षित नहीं होता। "पांचाली" को वामन ने 'माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना" कहा है। इसी 'पांचाली' को मम्मट 'कोमला' वृत्ति कहते हैं और उसके लिए "ग्राम्या" का वैकल्पिक अभिधान स्वीकार कर, उसे ग्राम्य-गिरा के स्वाभाविक माधुर्य से जोड़ देते हैं। तथापि, 'माधुर्य' एवम् 'ओज' के प्रकाशक वर्णों से अतिरिक्त वर्णों के संघटन का प्रतिफलन भी उसे उन्होंने बताया है। विश्वनाथ ने मम्मट के इस लक्षण को 'पांचाली' के विषय में स्वीकार कर लिया है। प्रस्तुत लेखक समझता है कि 'ओज' के साथ, 'माधुर्य' के व्यंजक वर्णों का भी अलगाव व्यावहारिक दृष्टि से कवि तथा भावक दोनों के लिए नितराँ कठिन सिद्ध होगा। अतएव, वामनोक्त 'पांचाली' का लक्षण हमें सुविधाजनक प्रतिभासित होता है—अर्थात्, 'माधुर्य' तथा 'सौकुमार्य' गुणों से सम्पन्न रीति 'पांचाली' है। 'माधुर्य' तथा 'सौकुमार्य' में हमें कोई तात्विक अंतर नहीं दीखता।

गुणों के अतिरिक्त; पदों के समस्त-असमस्त होने का भी उल्लेख किया गया है। ध्वनिकार ने संघटना के तीन स्वरूप निर्दिष्ट किये हैं: असमासा, मध्यमसमासा और दीर्घसमासा। वामन ने 'गौड़ी' को "समासबहुला" तथा 'पांचाली' को "अश्लिष्टश्लथ-

भावा" अर्थात् असमासबहुला बताया है। विश्वनाथ ने वैदर्भी को समासरहित अथवा अल्पसमासों से युक्त कहा गया है—"अवृत्तिकल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्येत।" गौड़ी को तो आडंबरयुक्त, समासबहुला और पांचाली को पाँच-छह पदों तक के समास से युक्त बताते है—"समस्तपञ्चषपदोबन्ध: पाञ्चालिका मता।"[1] स्पष्ट ही, पाँच-छह पदों की गणना अव्यवहार्य है। अतएव, हमारी सम्मति में, यह मानना तर्कसंगत होगा कि समास-बहुलता गौड़ी का व्यवच्छेदक धर्म मानकर, असमस्तता अथवा अल्प समासों की वर्तमानता वैदर्भी तथा पांचाली दोनों के संदर्भ में स्वीकार कर ली जाय। इस प्रकार, गुणों की दृष्टि से वैदर्भी और पांचाली में यही भेदीकरण वांछनीय है कि जहाँ वैदर्भी 'ओज' के साथ समस्त गुणों की संवाहिका है, वहाँ पांचाली 'ओजादि' का निषेध कर, 'माधुर्य' तथा 'सौकुमार्य' से लिपटी हुई है। किन्तु, ये सभी कवि के अभीष्ट कथ्य को अधिक प्रांजल तथा रमणीय बनाते हैं। 'विभावना', 'संदेह', 'काव्यलिंग', 'विवादन', 'दृष्टान्त', 'विशेषोक्ति' प्रभृति अलंकार 'सूरसागर' के पदों में बिखरे हुए हैं जिनको उदाहृत करना यहाँ संभव नहीं है। "मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी", "मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ", इत्यादि में 'स्वभावोक्ति' अलंकार का सौन्दर्य फूट पड़ा है।

कुंतक का 'सुकुमार' मार्ग पांचाली रीति का लगभग समानार्थक समझा जा सकता है। इस मार्ग का लक्षण यह बताया गया है कि इसमें वक्तव्य वस्तु के स्वभाव को प्राधान्य मिलता है, कृत्रिमता की उपेक्षा की जाती है, अलंकारों के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता और इसी कारण, ऐसी रचना अम्लान प्रतिभा से समुत्पन्न शब्द तथा अर्थ का मनोरम समवाय होती है—"अम्लानप्रतिभोदभिन्नशब्दार्थबन्धुर" होती है।[2] यह समझना कि कुन्तक का आशय यहाँ 'स्वभावोक्ति' से है, संगत नहीं है क्योंकि शब्दार्थ की वक्रता से उत्पन्न चमत्कार उन्हें अनिवार्यतया अभीष्ट है। अतएव, अभी हमने सूर से जो उद्धरण ऊपर लिये हैं, उनमें 'पांचाली' रीति का माधुर्य 'कोमला' वृत्ति का कौमाल्य तथा 'सुकुमार' मार्ग का मार्दव प्रस्फुट हुआ है।

'बाललीला' अथवा वात्सल्य का चित्रण करने वाले पदों में 'माधुर्य' गुण एवं 'पांचाली' रीति अथवा 'सुकुमार' मार्ग का सौन्दर्य सहृदयों को आह्लाद से परिपूरित कर देता है। वृत्तियों की अभिधा में इन जैसे पदों में 'कोमला' वृत्ति का विलास परिलक्ष्य है। उदाहरणत: निम्न पद लीजिये—

"हरि अपनैं आँगन कछु गावत।
तनक-तनक चरननि सौं नाचत, मनहीं मनहिं रिझावत॥
बाँह उठाइ काजरी-धौरी गैयनि टेरि बुलावत।
कबहुँक बाबा नंद पुकारत, कबहुँक घर में आवत॥
माखन तनक आपनैं कर लै, तनक बदन में नावत।
कबहुँ चितै प्रतिबिम्ब खंभ मैं, लौनी लिए खवावत॥
दुरि देखति जसुमति यह लीला, हरष अनंद बढ़ावत।
सूर स्याम के बाल-चरित, नित-नितहीं देखत भावत॥"

---

1. 'साहित्यदर्पण' 9/1-4
2. 'वक्रोक्तिजीवित', 1/25

—माधुर्य-व्यंजक वर्णों से संघटित पदावली, समास का अभाव, बाल-चरित का स्वाभाविक चित्रण, ये सभी विन्दु प्रस्तुत पद को पांचाली रीति अथवा सुकुमार मार्ग की शील-बन्धुरता से संश्लिष्ट कर देते हैं। कवि-प्रतिभा की अम्लान, अनाहार्य सुषमा हमें वात्सल्य की माधुरी में डुबो देती है।

दावानल-पान, गोवर्धन-धारण इत्यादि जैसे प्रसंगों में 'ओज' गुण की व्यंजक पदावली संघटित हुई है। एक लक्षणीय तथ्य यह है कि जिन पदों में ओज : प्रकाशक पद-रचना उपलब्ध होती है, वहाँ भी गौड़ी रीति अथवा परुषावृत्ति साफ-साफ, निर्भ्रान्त रूप से, प्रतिफलित हुई नहीं दिखायी देती। उदाहरणार्थ, निम्न पंक्तियाँ ली जा सकती हैं—

"सुनि मेघवर्त्त सजि सैन आए।
बल बर्त्त, बारि बर्त्त, पौन बर्त्त, बज्र, अग्नि बर्त्तक जलद संग ल्याए॥
घहरात, गररात, दररात, हररात, तररात, झहरात माथ नाए।
कौन ऐसौ काज, बोले हम सुरराज, प्रलय के साज हमकौं बुलाए॥"

—ये पंक्तियाँ गिरिधारण-लीला के सन्दर्भ में आयी हैं। पहली दो पंक्तियों में 'ओजस्' की व्यंजना हुई है जो सर्वथा प्रसंगानुरूप है। किन्तु, लगता है, सूर का सुकुमारमना कवि मानो इस भयावह प्रसंग को पूर्णत्व तक पहुँचाने से विरत हो जाता है और वह अपनी निसर्गसिद्ध कोमलता से इस क्षणिक 'डीविएशन' अथवा भटकाव से विमुख होकर, उस भयोत्पादक प्रसंग की "परुषता" को, "घहरात, दररात" इत्यादि पदों की बन्धना से, "टोन डाउन" कर देता है, उसकी कर्कशता को घटा देता है। उल्लेख्य है कि 'र' की पुनरावृत्ति से जो आनुप्रासिक नाद-सौन्दर्य उत्पन्न हुआ है, वह मेघों के उमड़ने का ध्वन्यात्मक बिम्ब प्रस्तुत करते हुए भी, 'परुषा वृत्ति' की एकान्त कर्कशता को बहुत-कुछ परिमार्जित कर देता है। आप इस पंक्ति को सुस्थिर भाव से पढ़ें, साफ लगता है, जैसे कवि की सुकुमार कल्पना "बर्त्त" एवं "बज्र" की भावना से विश्राम लेना चाहती है और इसी कारण, प्रसंग के अनुरोध को स्वीकार करते हुए भी, 'र' के नाद-सौन्दर्य का अनुसंधान करती हुई, "माथ नाए" तक पहुँच कर, अपने प्रकृत शील को पुनः ग्रहण कर लेती है। हमारा अभिमत है कि सूर की "नवशब्दार्थ-बन्धुर" प्रतिभा मूलतः कोमल है और परुष प्रसंगों के चित्रण में रमती नहीं है।

तथापि, यह समझना भ्रामक होगा कि सूर नितान्त सहज मन वाले सहज कवि हैं और 'सुकुमार मार्ग' के प्रति समर्पित हैं। उनके सौन्दर्य-चित्रण-विषयक पदों में **'विचित्र मार्ग'** की अभिराम छटाएँ हमें आवर्जित करती हैं। कुन्तक ने इस मार्ग का लक्षण करते हुए कहा है कि यह मार्ग 'सुकुमार' के नितान्त विपरीत है क्योंकि यह यत्न-साध्य, आहार्य मार्ग है। इसमें कवि-प्रतिभा के प्रथम विलास में ही शब्द तथा अर्थ की वक्रता स्पष्ट स्फुरित होने लगती है और कवि एक अलंकार से सन्तुष्ट न होकर अलंकार पर अलंकार जोड़े चला जाता है जिसके फलस्वरूप, रचना अलंकारों की दीप्ति से उसी प्रकार आच्छादित हो जाती है जिस प्रकार जाज्वल्यमान आभूषणों से लदा हुआ नारी का शरीर।[1] अब सूर का एक पद लें जिसमें राधा का रूप चित्रित हुआ है—

"मोहिनी मोहन कौ प्यारी।
रूप-उदधि मथि कै बिधि, हठि पचि रची जुवति यह नारी॥

1. **'वक्रोक्तिजीवित'**, 1/34-38; 1/40 43, 49

खंजरीट मृग मीन की गुरुता, नैननि सबै निवारी।
भ्रकुटी कुटिल सुदेस सोभित अति, मनहुँ मदन-धनुधारी ।।"
इत्यादि (पद सं० 1815)

प्रस्तुत पद का पूरा अर्थ यों हैं—'रूप के समुद्र का मंथन कर ब्रह्मा ने युवती राधा के रूप की रचना की है। उसके शरीर की द्युति चंपक तथा सुवर्ण के समान है। उसके मुख की समता चन्द्रमा नहीं कर सकता। उसके नयनों ने खंजन, हिरण तथा मछली की गरिमा को मिटा दिया है। टेढ़ी भौंहें ऐसी जान पड़ती हैं, जैसे कामदेव ने अपना धनुष तान लिया हो। नाक सुग्गे का गर्व नष्ट कर रही है। लाल अधरों ने बिम्बा एवं दुपहरिया के फूलों को अपमानित कर दिया है। दाँत कुन्द के श्वेत कुसुमों का अनुसरण कर रहे हैं। राधा के वचनों को सुनकर कोयल हार मान लेती है। लटकती काली वेणी ऐसी प्रतीत हो रही है, जैसे सोने के खंभे पर सर्पिणी लिपटी हो। लम्बी गर्दन देखकर कबूतर की याद नहीं रहती। भुजाएँ कमल-नाल के समान, उरोज हाथी के डील के समान तथा जाँघ केले के खंभे जैसी शोभती हैं। कमर सिंह की कटि के समान पतली, सुन्दर है। नाभि अतिललित है। पैरों के तलवे बिल्ली की जीभ के समान लाल हैं। राधा के अंगों पर जहाँ-जहाँ दृष्टि पड़ती है, वहीं-वहीं उलझ जाती है—उन्हें निहारने से तृप्ति नहीं मिलती।'

पाठक अनायास समझ सकते हैं कि तरुणी राधा के प्रस्तुत नखशिख-वर्णन में प्रारम्भ से ही शब्द तथा अर्थ की वक्रिमा स्फुरित होने लगी है। कवि एक अलंकार से सन्तुष्ट न होकर, अलंकार-पर-अलंकार का सौन्दर्य खड़ा कर रहा है। अंततः प्रतिभास होता है, जैसे पूरा पद इन अलंकार-रूपी आभूषणों से वैसे ही सज गया है जैसे नव-यौवना नारी का शरीर। मनोरंजक तथ्य है कि नारी-रूप का ही चित्रण है और नारी-रूप की भूषण-भूषित सजावट के समान प्रस्तुत चित्र अलंकारों के संयोग से जगमगाने लगा है। "रूप-उदधि" में 'रूपक' है। "चम्पक-कनक कलेवर", "बाहु मृनाल जु कुंभ-राज", "अरुन रुचिर जु बिडाल-रसन" इत्यादि में 'उपमा' हुई है। "ससि न बदन" में 'व्यतिरेक' है। "खंजरीट, मृग, मीन की गुरुता नैननि सबै निवारी" इत्यादि में 'प्रतीप' हुआ है। "मनहुँ मदन धनुधारी" इत्यादि में 'वस्तूत्प्रेक्षा' निष्पन्न है।[1]

प्रस्तुत पद प्रत्यक्षतः 'विचित्र मार्ग' के शील से समन्वित हो गया है। "अद्‌भुत एक अनूपम बाग" वाला प्रसिद्ध पद भी 'विचित्र मार्ग' की बिरादरी में आता है।

प्रस्तुत प्रसंग में एक संबद्ध प्रश्न यह उठता है कि उपर्युक्त नखशिख-वर्णन में कौन-सी 'रीति' मानी जाय। प्रसंग मधुर है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। तो क्या उसमें 'पाञ्चाली' का प्रतिफलन मानें? 'ट'-वर्ग के दो-तीन प्रयोगों को छोड़कर शेष पदावली माधुर्य-व्यंजक ही है। अतः कुल मिला कर, यहाँ 'पांचाली' अथवा विश्वनाथ की 'लाटी' या 'लाटीया' रीति भी मानी जा सकती है जिसे उन्होंने वैदर्भी और पांचाली के बीच की अन्तर्वर्ती रीति माना है—"लाटी तु रीतिर्वैदर्भी-पांचाल्योरन्तरे स्थिता।" वैदर्भी के विषय में हमने देखा है कि वामनादि के अनुसार उसमें ओजादि

---

1. अलंकारों के उल्लेख में हमने प्रस्तुत पद के उद्धरण दिये हैं जो 'सूरसागर' (सभा) में देखे जा सकते हैं। —लेखक

समस्त गुणों का ग्रंथन रहता है। कालिदास में वैदर्भी का सविशेष विलास खोजा गया है—"वैदर्भीरीति-संदर्भे कालिदासः प्रगल्भते।" वामन ने 'शाकुन्तल' के द्वितीय अंक से "गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं" इत्यादि वाला जो उदाहरण लिया है, वह वैदर्भी के प्रकृत स्वरूप का उन्मीलन करता है—उसमें "छायाबद्धकदम्बकं" तथा "शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः" जैसे ओजःप्रकाशक पद संग्रथित हुए हैं, साथ ही माधुर्यादि की व्यंजक पदावली भी आयी है। अतः प्रस्तुत पद्य 'वैदर्भी' का निदर्शक है जिसे ही मम्मट ने 'उपनागरिका वृत्ति' कहा है। तो, क्या 'सूरसागर' में 'वैदर्भी' उपलब्ध होती है?

इस जिज्ञासा का उत्तर स्वीकारात्मक होगा, यद्यपि सूर प्रकृत्या 'पांचाली' के पोषक हैं। गुण-प्रकरण में "सुनि मेघवर्त्त सजि सैन आए" का जो उद्धरण दिया है, उसमें 'वैदर्भी' निष्पक्ष हुई है क्योंकि 'गौड़ी' का एकान्त 'ओज' पूरे पद में दृष्टिगोचर नहीं होता। निम्न पद में भी 'वैदर्भी' की उपनागरता वर्तमान है—

"आजु बन राजत जुगल किसोर।
दसन बसन खंडित मुख मंडित, गंड तिलक कछु थोर।।
डगमगात पग धरत सिथिल गति, उठे काम-रस भोर।
रति-पति सारँग अरुन महा छबि, उमँगि पलक लगे भोर।।
स्रुति अवतंस बिराजत हरि-सुत, सिद्ध-दरस-सुत ओर।
सूरदास-प्रभु रस-बस कीन्हीं, परी महा रन जोर।।" (1817)

—'ड' की पुनरावृत्ति तथा "सिद्ध" में द्वित्व जहाँ 'गौड़ी' का प्रतिभास कराते है, वहीं शेष पदावली माधुर्य की व्यंजक होने के कारण 'पांचाली' का आस्वाद उत्पन्न करती है। अतएव प्रस्तुत पद वैदर्भी का सुन्दर नमूना है। हम समझते हैं कि सूर के लीला-पदों में, रूप-विषयक प्रसंगों में 'टवर्ग' के पहले और तीसरे वर्णों का जो प्रयोग प्रायेण मिलता है, वहीं ओजो-व्यंजक 'चित्त का विस्तार' किंवा 'दीप्तत्व' घटित होता है और वहीं 'गौडीया' रीति निष्पन्न होती है। पद-संघटना के विषय में यह उपलक्ष्य है कि सूर की पदयोजना सामान्यतः "दीर्घसमासा" नहीं है जो गौड़ी रीति का एक प्रमुख लक्षण है। अतः जहाँ गौड़ी प्रस्फुरित होती-सी प्रतीत होती है, वहाँ भी पांचाली के प्रवेश से उसका औद्धत्य अथवा औग्र्य प्रशमित हो जाता है और वैदर्भी की नागरता प्रस्फुटित हो जाती है।

निष्कर्ष—ऊपर हमने मुख्यतः 'पांचाली' तथा 'वैदर्भी' रीतियों और 'सुकुमार' तथा 'विचित्र' मार्गों के प्रकाशक उदाहरण सूर से उद्धृत किये हैं—यद्यपि 'पांचाली' तथा 'सुकुमार' शैलियाँ उनकी श्रेष्ठताएँ हैं। 'शय्या' अथवा 'पाक' के सन्दर्भ में हमने दिखाया है कि सूर शब्दों की प्रकृति के अनुपम पारखी हैं, "सौशब्द्य" जो 'पाक' की व्यावर्त्तक पहचान है, उनकी काव्य-सरस्वती का प्राणतत्त्व है। 'पाकों' की परिगणना में हमने 'दाक्षापाक' तथा 'नारिकेलपाक' को ही महत्त्व दिया है। अपनी निजी रसज्ञता के आधार पर हम यह कहना चाहेंगे कि राधा-कृष्ण के प्रणयचित्रों और दानलीला तथा रासलीला के चित्रों में 'द्राक्षापाक' का सौरस्य प्रस्फुट हुआ है और पनघट, मुरली, झूलन तथा फाग जैसे चित्रणों में 'नारिकेलपाक' की कोमल स्निग्धता उतर आयी है। दृष्टिकूट के पदों में हमें 'तिन्तिडीपाक' (इमली का स्वाद) का वैरस्य अनुभूत होता है। 'पिचुमंद' (नीम) पाक का सूर में एकान्त अभाव है।

(iv) **वक्रोक्ति, उक्तिवैचित्र्य अथवा वाग्वैदग्ध्य**—हमने देखा है कि उक्तिवैचित्र्य अथवा वाणी-विच्छित्ति काव्याभिव्यक्ति का एक आवश्यक तत्व है। कुन्तक की 'वक्रोक्ति' को हम वर्तमान संदर्भ में केवल अभिव्यंजना-पक्ष तक सीमित कर रहे हैं और उसे उक्ति-वैचित्र्य अथवा वाग्वैदग्ध्य के अर्थ में ही ग्रहण कर रहे हैं। वामन ने 'उक्ति-वैचित्र्य' को 'माधुर्य' का पर्याय माना है।[1] कुन्तक, जैसा पहले कहा है, प्रसिद्ध अभिधान से व्यतिरिक्त, विदग्धता-पूर्ण भंगी (टेढ़ापन) से युक्त कथन को 'वक्रोक्ति' मानते हैं। इसी कारण, उन्होंने उसे "विचित्रा अभिधा" कहा है।[2] अर्थात्, वक्रोक्ति, उक्तिवैचित्र्य तथा वाग्वैदग्ध्य—ये सभी प्रयोग लगभग समानार्थक हैं। वास्तव में, 'उक्तिवैचित्र्य' अथवा 'वक्रोक्ति' का सही-सही स्वरूप-निरूपण तो कठिन है, लेकिन उसके स्वभाव के विषय में कोई संदेह वा वैमत्य नहीं है। कोई भी कथन जो सामान्य बोलचाल अथवा विचार-विनिमय या भाव-सम्प्रेषण की प्रसिद्ध-प्रचलित पद्धति को अतिक्रान्त कर जाता है और किसी प्रकार की चारुता, चमत्कार अथवा रमणीयता से संवलित बन जाता है, 'वक्रोक्ति' अथवा 'उक्ति-वैचित्र्य' अथवा 'कथन-विच्छित्ति' है। 'सूरसागर' में सहृदय-रंजक वक्रोक्तियों की भरमार है।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि वक्रोक्तियों की निष्पत्ति में 'लक्षणा' तथा 'व्यंजना' शब्द-शक्तियों का प्रचुर अवदान है। अधिक सटीक कथन यह होगा कि 'लक्षणा' ('उपचार') के अभाव में वक्रोक्ति का अस्तित्व ही अकल्पनीय है। 'सूरसागर' में सहृदय-रंजक वक्रोक्तियों की भरमार है जिनकी बुनावट 'लक्षणा' अथवा 'व्यंजना' के सौरभ से सुवासित हो रही है। इनमें हास्य-विनोद तथा चुभने वाले व्यंग्य का प्राचुर्य लक्षित होता है। गोपियों तथा कृष्ण के वचन-विनिमय में, मुरली-प्रसंग में तथा भ्रमरगीत-प्रकरण में विनोदमयी वक्रोक्तियों की चमत्कारी छटाएँ पाठक को आकर्षित करती हैं। 'दानलीला' से उद्धृत निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

कृष्ण-कथन—"लैहौं दान इननि कौ तुम सौं।
मत्त गयंद, हंस हम सौं हैं, कहा दुरावति हम सौं॥
केहरि कनक-कलस अमृत के, कैसैं दुरै दुरावति।
बिद्रुम हेम ब्रज के कनुका, नाहिंन हमहिं सुनावति॥"
इत्यादि (2167)

गोपियों का कथन—"यह सुन चकित भई ब्रजबाला।
तरुनी सब आपुस मैं बूझति, कहा कहत गोपाला॥
कहाँ तुरग, कहाँ गज केहरि, हंस सरोवर सुनियै।
कंचन-कलस गढ़ाए कब हम, देखौ धौं यह गुनियै॥"
इत्यादि (2168)

1. "उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्।" —'काव्यालंकार०', 3/2/11

2. "वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशी, वैदग्ध्य-भङ्गी-भणितिः। वैदग्ध्यं विदग्धभावः कविकर्मकौशलं, तस्यभङ्गी विच्छित्तिः, तया भणितिः विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।" —'वक्रोक्तिजीवित', चौखंबा, पृ० 48

नारी-अंगों के प्रसिद्ध प्रतीकों के कथन से कृष्ण तथा व्रज-तरुणियों का प्रस्तुत संलाप मधुर वाग्वैग्ध्य से ओतप्रोत है। कृष्ण की उक्ति-वक्रता की धार तब और भी तेज हो जाती है जब गोपांगनाएँ सरलता की भंगिमा में "कहा तुरग, कहाँ गज केहरि" इत्यादि की पृच्छा परस्पर व्यक्त करती हैं। पनघट-प्रसंग से उद्धृत निम्न पद मनोरम वाग्विदग्धता-संपूर्ण वक्रोक्ति का सुन्दर दृष्टान्त है—

"कहा ठग्यौ, तुम्हरौ ठगि लीन्हौं ?
क्यौं नहिं ठग्यौ और कह ठगिहौ, औरहिं के ठग चीन्हौ॥

कहौ नाम धरि कहा ठगायौ, सुनि राखैं यह बात।
ठग के लच्छन मोहिं बतावहु, कैसे ठग के घात॥

ठग के लच्छन हमसौं सुनियै, मृदु मुसुकनि चित चोरत।
नैन-सैन दै चलत सूर-प्रभु, तन त्रिभंग करि मोरत॥" (2032)

ठग के 'लक्षणों' का प्रस्तुत व्याख्यान अतीव मनोहारी है। उक्ति की वक्रता अर्थ की वक्रता में डूबी-सी प्रतीत होती है।

भ्रमरगीत का पूरा संदर्भ हृदय-रंजक वक्रोक्तियों से लबालब भरा है। ये वक्रोक्तियाँ ऐसी हैं जिनमें शब्द तथा अर्थ दोनों वियोग-वेदना की गहराई की विकृति में परस्पर स्पर्धा करते से दीखते हैं। "ऊधो मन नाहीं दस बीस", "बिलग जनि मानहु ऊधौ कारे"; "निर्गुन कौन देस कौ बासी" प्रभृति वक्रोक्तियाँ सहृदयों के मर्म पर सीधे आघात करती हैं। कतिपय अन्य उद्धरण भी लें—

"इहि उर माखन-चोर गड़े।
अब कैसैं निकसत सुनि ऊधौ, तिरछे ह्वै जु अड़े॥"

"जोग सँदेसौ ब्रज मैं लावत।
थाके चरन तुम्हारो ऊधौ, बार-बार कैं धावत॥"

"जोग-जुगुति जद्यपि हम लीनी, लीला काकौं देहौं।
उलटि जाहु मथुरा मधुकर तुम, बूझि बेगि ब्रज ऐहौं॥"

इन वक्रोक्तियों में वामन-कथित 'माधुर्य' छलछला रहा है। इनकी विशेषता यह है कि तरुणियों का कोमल वचन-विनोद उनकी वियोग-व्यथा की तीव्रता एवम् सान्द्रता को प्रत्यक्षतः उन्मीलित कर देता है। ऐसे उक्ति-विच्छित्तिपूर्ण स्थलों में वक्ताओं की कथन-चातुरी ऊपर से आरोपित नहीं जान पड़ती, प्रत्युत वक्तव्य अर्थ के साथ इतनी घुली-मिली हुई है कि ऐसा प्रतिभासित होता है जैसे एक के बिना दूसरे की स्थिति संभव ही नहीं हो सकती।

सूर की काव्य-वाणी, सच यह है, उक्ति-वैचित्र्य की 'संस्कृति' में गहन भाव से निमज्जित है। जहाँ भी किसी मर्मस्पर्शी तथ्य का उद्घाटन अभिप्रेत है, वहीं उनकी अभिव्यक्ति विच्छित्तिपूर्ण बन जाती है—संदर्भ चाहे जो भी हो। 'विनय' के पदों से ली गयी अग्र पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"नाथ, सकौ तौ मोहिं उधारौ।
पतितनि मैं विख्यात पतित हौं, पावन नाम तुम्हारौ।।"
"आजु हौं एक-एक करि टरिहौं।
कै तुमहीं, कै हमहीं माधौ, अपने भरोसैं लरिहौं।।"

भक्त-कवि की अपने आराध्य के प्रति दी गयी ये चुनौतियाँ उसके उनके प्रति अविचल विश्वास की व्यंजना करती हैं। उसकी विनोद-भावना, वाग्वैदग्ध्य से ओतप्रोत होकर, उसकी चरम आस्था में डूब गयी है और शब्दार्थ की वक्रता का तलस्पर्शी वितान तान देती है।

ब्रज की एक तरुणी को, बालकृष्ण के दर्शन से उत्पन्न, प्रतिक्रिया नीचे की पंक्तियों में किस लोकोत्तर भंगी से उतर आयी है, देखिए—

"मैं देख्यौ जसुदा कौ नंदन, खेलत आँगन बारौ री।
ततछन प्रान पलटि गयौ मेरौ, तन-मन ह्वै गयौ कारौ री।।
देखत आनि सँच्यौ उर-अंतर, दै पलकनि कौ तारौ री।
मोहिं भ्रम भयौ सखी, उर अपनैं चहुँ दिसि भयौ उज्यारौ री।।"
—इत्यादि (753)

"प्रान पलटि गयौ", "तन-मन ह्वै गयौ कारौ री", "चहुँ दिसि भयौ उज्यारौ री"—इन कथनों में अवतीर्ण लाक्षणिक सौन्दर्य से संवलित वक्रोक्तियाँ सूर की अभिव्यक्ति-कला की जान हैं। लोकोक्तियों के प्रयोग से भी सूर की वक्रोक्ति-सम्पदा समृद्ध बन गयी है। भ्रमरगीत में लोकप्रचलित कहावतों की छटाएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

(v) **अभिधाधर्मी व्यंग्यार्थ अथवा ध्वन्यात्मकता**—सूर सिद्ध-सारस्वत कवि हैं। उनकी काव्य-सरस्वती 'लक्षणा' तथा 'व्यंजना' के गहरे संस्कार से संस्कारित है। उनकी वक्रोक्ति-सरणि को लक्ष्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ से काटा नहीं जा सकता। उनका निखिल स्रष्ट्रत्व, उनकी समग्र सर्जक-चेतना मानो ओतप्रोत है वक्र कथन की नैसर्गिक संस्कृति से। मार्मिक प्रसंगों में उनकी रसोद्गारि-गिरा अनायास वक्रता की सरणि अपना लेती है। किन्तु, उसका वैशिष्ट्य यह है कि ये वक्रताएँ लक्षणा अथवा व्यंजना के शील में इतनी गहराई से आस्नात हैं कि वहाँ उनकी ध्वन्यात्मकता 'अभिधा'-जैसी सहजता के रंगों में रंजित जान पड़ने लगती है। सूर "रस-कवि" हैं और जब उनकी प्रतिभा उन्मिषित होती हैं, तब वे "वर्णन" करने लगते हैं; 'व्यंजता' की परिचित लुकी-छिपी उन्हें आकर्षित नहीं करती; जैसे 'अभिधा' कथ्य को "खोल" देती है, वैसे ही उनकी ध्वन्यात्मकता कथितव्य अर्थ को सहृदयों के सम्मुख सहजतः अनावृत कर देती है। निम्न उद्धरण देखिये—

"सखी री, मथुरा मैं द्वै हंस।
वे अक्रूर और ये ऊधौ, जानत नीकैं गंस।।" (4205)
"मधुबन सब कृतज्ञ धरमीले।
अति उदार पर हित डोलत हैं, बोलत बचन रसीले।।" (4212)

इन वक्रोक्तियों की 'ध्वनि' इतनी खुली हुई है कि कवि के लिए और सहृदय भावक के लिए इनमें अभिधा की सहजता का सौरभ प्रस्फुट हो गया है। ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि के जो दृष्टान्त दिये हैं, उनके अर्थ को हृदयंगम करने के लिए प्रचुर मानसिक व्यायाम अथवा प्रशिक्षित 'टेकनिकल' जानकारी की अपेक्षा होती है। "कवि-कुलचक्रचूड़ामणि" कालिदास के निम्न श्लोक को लीजिए—

"स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरात्सेधनिपातचूर्णिताः।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः॥"

तपोलीन युवती पार्वती का रूपचित्रण यहाँ परोक्षतः अभीष्ट है। कवि कहता है—"वर्षा का जो जल (तपोमुद्रा में स्थित) तरुणी पार्वती के सिर पर पड़ता था, वह पल-भर उनकी पलकों में टिक जाता था। फिर, वहाँ से ढुलक कर उनके ओठों पर जा पड़ता था। वहाँ से उनके कठोर स्तनों पर गिर कर बूँद-बूँद छितरा जाता था और फिर, उनके पेट पर विकसित त्रिबली में से होता हुआ, बहुत देर के बाद नाभि तक पहुँचता था।" ध्वनि के संकेतों में निष्णात भावक को पार्वती के नवतारुण्य का बोध आसानी से हो जाता है। पलकों में क्षण-भर पानी के रुकने से बरौनियों की दीर्घता वा सघनता का, ओठों पर से उसके छलक जाने में अधरों की स्निग्धता का, पयोधरों पर गिर कर चूर-चूर होने में उरोजों के स्फीत काठिन्य का, त्रिबली में देर तक फँस कर निकलने से त्रिबली की सिकुड़नों का और अन्ततः नाभि में जाकर विलुप्त होने के संकेत से उसकी गहराई का प्रत्यायन ध्वनि-प्रशिक्षित भावक के लिए मुश्किल नहीं है। तथापि, ऐसी 'वस्तु-ध्वनि' में वह सहज माधुर्य उपलभ्य नहीं जो सूर के चित्रों में उपलब्ध होता है। 'विपरीत व्यंजना' के जो उदाहरण आचार्यों ने दिये हैं, वे बुद्धिगम्य हैं, हृदय-संवेद्य नहीं।[1] "गङ्गायां घोषः" का प्रसिद्ध दृष्टान्त ही ध्वनिवादी आचार्यों की बुद्धिपरक मनोदृष्टि का उन्मीलन करता है।

सूर इस बुद्धिपरक ध्वन्यात्मकता के हिमायती नहीं हैं। उनकी ध्वनिप्रियता

---

1. "भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदावरीनदीकूललतागहनवासिना दृप्तसिंहेन।" —ध्वन्यालोक, 'लोचन'

'हे धार्मिक ! तुम विश्वस्त भाव से भ्रमण करो। वह कुत्ता गोदावरी नदी के लता-गहन में रहने वाले पागल सिंह द्वारा मार डाला गया है।' यह 'वस्तु-ध्वनि' का उदाहरण है। कोई पुंश्चली स्त्री किसी पुजारी को उस लताभवन की पत्तियों आदि को तोड़ने के कार्य से रोकना चाहती है जो उसके प्रिय-मिलन का संकेत-स्थल है। अतएव सिंह द्वारा कुत्ते के मारे जाने का कथन कर, वह पुजारी को आपाततः वहाँ निःशंक आने का निमंत्रण देती है, किन्तु उसका मन्तव्य बिल्कुल उल्टा है, यह कि सिंह अब उस लता-गृह में आने लगा है, अतः पुजारी को वहाँ आना बन्द कर देना चाहिए, क्योंकि उसके आगमन से उस स्त्री की केलियों में बाधा पहुँचती है। इस प्रकार, यहाँ विधि के रूप में निषेध व्यंग्य है। —लेखक

रसगर्भित वक्रोक्ति से संसिक्त है। राधा का निम्न रूपवर्णन कितनी सहज व्यंजना से संश्लिष्ट है, आप स्वयं अनुभव कर सकते हैं—

"राधे तेरे रूप की अधिकाइ।
जो उपमा दीजै तेरैं तनु, तामैं छबि न समाइ॥

सिंह सकुचि, सर बिथा भरत दिन, बिनु सोइ नीर सुखाइ।
ससि डर घटत, हेम पावक परै, चंपक रहै कुम्हिलाइ॥

इभ टूटत अरु अरुन पंगु भए, बिधना आन बनाइ।
कद्रुज रहे पताल दुरि, खगपति हरि-बाहन भए जाइ॥

हंस दूरि सर दुर्‌यौ सरोरुह, गजमृग चले पराइ।
सूर बिचारि देखि मन पिक तुव रसना रहे लजाइ॥" (3394)

—कोई भी उपमा ऐसी नहीं जिसमें राधा की संपूर्ण छवि समाविष्ट हो सके। सूर कैसे राधा के रूपाधिक्य का वर्णन करते हैं, देखें। सिंह का सकुचाना; सरोवर का सूख जाना; चन्द्रमा का भयभीत होकर घट जाना; सुवर्ण का अग्नि में पड़ जाना; चंपक का कुम्हला जाना; हाथी के कुंभ का टूट जाना; सूर्य के सारथी अरुण का पंगु हो जाना; शेषनाग का पाताल में छिप जाना; गरुड़ का विष्णु का वाहन बन जाना; हंस का तालाब में छिप जाना और हाथी का जंगल में भाग जाना; हिरणों का भी पलायन कर जाना; अथवा कोयल का उसकी वाणी से लज्जित हो जाना[1]— इन तमाम 'परिणामों' का कथन, राधा के रूपवर्णन के संदर्भ में, कवि ने किया है और उसकी वक्रोक्तियों की विदग्धता इस बात में सन्निहित है कि राधा के किसी अंग का (केवल अंतिम पंक्ति में "रसना" को छोड़कर) स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है। तथापि, सहृदय, जिनका मनोमुकुर काव्यानुशीलन के अभ्यास से विशद हो चुका है और जो "हृदयसंवाद" के अभिज्ञाता हैं,[2] तत्काल हृदयंगम कर लेते हैं—क्रमशः, राधा की क्षीण कटि को; उसकी नाभि की स्निग्ध गहराई को; चन्द्र-स्पर्धी उसकी मुखद्युति को; उसके अंगों की सुनहली कान्ति को; उसके पुष्ट उरोजों के औन्नत्य को; उसके अधरों की लालिमा को; उसकी काली वेणी की लहरीली शोभा को; उसकी गति अथवा चाल की मन्द-मन्थर भंगिमा को; उसके नयनों की चपलता को और उसकी वाणी की अप्रतिम माधुरी को। यही है राधा के रूप की "अधिकाई", और यही है उसको व्यंजित करने वाली कवि-कला की ध्वन्यात्मकता जो 'छिपाती हुई' भी "खोल" देती है, जो कवि की मानस-मूर्ति को, वैदग्ध्य के प्रलोभन में पड़कर भी, सहृदय-समाज के लिए संवेद्य बनाने को आतुर है। वास्तव में, सूर ने जिस रूपसम्पदा का अन्तर्दर्शन किया है, उसकी अभिव्यक्ति आचार्यों की 'ध्वनि' के कठोर अनुशासन में बँध कर नहीं हो सकती। उपर्युक्त पद में प्रविष्ट 'प्रतीप' एवम् 'व्यतिरेक' अलंकार सहज 'वक्रोक्ति' के सहज 'माधुर्य' के फलस्वरूप निष्पन्न हो गये हैं।

1. इभ हाथी, लक्षणा से हाथी का कुंभ। कद्रुज=शेषनाग।

2. "येषां काव्यानुशीलनाभ्यास-वशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीय-तन्मयीभवन-योग्यता, ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः।" —अभिनवगुप्त : 'लोचन'

विवक्षा यह है कि सूर में जो ध्वन्यात्मकता अवतीर्ण हुई है, वह अपह्नव का प्रश्रय लेकर, हमें अपनी सौन्दर्य-विवृति के लिए देर तक ललचाती नहीं रहती है, क्योंकि संवेद्य अर्थ को खोलने में अनावश्यक विलंब उसे प्रकाम्य नहीं है। 'वक्रोक्ति' में रमी हुई कवि की 'नवनवोन्मेषशालिनी'' प्रतिभा सहज भाव से ध्वनि-सरणि अपना कर, जब 'वर्णन' करने लगती है, तब वह 'अभिधा' का शील ग्रहण कर लेती है; जैसे वर्णयिता, अनायास, अभिधा के माध्यम से अपनी वर्ण्यवस्तु का कथन करता जाता है, वैसे ही सूर का वक्रोक्ति-प्रेमी कवि, 'ध्वनि'-मार्ग को अपनाता हुआ भी, अभिधावादी रीति की सहजता से अभीष्ट अर्थ का व्याख्यान करता जाता है। तरुणियाँ कृष्ण के रूप-दर्शन के लिए कितनी आतुर हैं, इसकी व्यंजना आँखों को कोसने के व्याज से कितनी मर्मस्पर्शितापूर्वक निम्न पद में हुई है, आप देखें—

"अँखियनि यहई टेव परी।
कहा करौं बारिज-मुख ऊपर, लागति ज्यौं भ्रमरी॥
चितवति बहति चकोर चंद ज्यौं, बिसरति नाँहि घरी।
जद्यपि हटकि राखति हौं, तद्यपि होति खरी॥
गड़ि जू रही वा रूप-जलधि मैं, प्रेम-पियूष भरी।
सूर तहाँ नग-अंग परस रस, लूटति हैं सिगरी॥" (3018)

लाख रोकने पर भी, तरुणी की प्रेम-पीयूषपूर्ण आँखें कृष्ण के रूप-सागर में गड़ जाती हैं, इस वक्रतापूर्ण कथन से 'माधुर्य-रति' का जो आस्वाद सहृदय-हृदय को परिप्लुत कर लेता है, वह आचार्यों की 'रसध्वनि' का उत्कृष्ट निदर्शक है। वस्तुतः सूर का काव्य 'रसध्वनि' का अक्षय्य कोष है जिसे ध्वनिकार ने अखिल सौख्य के धाम काव्य-नामक देवोद्यान में कल्पतरु की महिमा से संवलित बनाया है—

"काव्याख्येऽखिलसौख्यधाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः।
सोऽयं कल्पतरूपमानमहिमा भोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम्॥" (ध्वन्यालोक)

तथापि, असलियत यह है कि सूर की वर्णनप्रिय सरस्वती, कथन के अपने त्वरापूर्ण उत्साह में, वक्रतागर्भित रसोक्तियों के उद्गिरण में, ध्वनि के अपह्नवशील संकोच का अतिक्रमण कर जाती है और अभिधा की 'खुली' संस्कृति को अपना लेती है।

(vi) **अलंकार-योजना**—हमने पिछले संदर्भों में देखा है कि अभिव्यक्ति को अलंकृत करने में 'गुणों' के साथ अलंकारों का महत्त्व भी रेखांकित किया गया है। दण्डी ने कहा है : "काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।" यद्यपि यहाँ अलंकार को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है, तथापि परवर्ती आचार्यों ने अनुप्रास, उपमादि अलंकारों का "हारादिवत्" भूषणत्व स्वीकार कर, उन्हें काव्य के शोभातिशय का कारक स्वीकार किया है। सूर की काव्य-प्रतिभा अलंकारों से अनुप्राणित है। उनका कवि रूप-सौन्दर्य अथवा भाव-सौन्दर्य का जो मानसी साक्षात्कार करता है, उसे संवेद्य बनाने में मानो अलंकार स्वयमेव आने लगते हैं। प्रतीत होता है, जैसे सूर को यह सन्तोष नहीं मिलता कि उनकी मानसी मूर्ति, पूरी इयत्ता के साथ, सम्प्रेषणीय बनी। ऐसी हालत में, उनकी अलंकार-योजना, सोद्देश्य होती हुई भी, कृत्रिम नहीं प्रतीत होती।

अलंकारों के नियोजन में कवि की कल्पना का लालित्य प्रकाशित होता है। सूर के विषय में एक अवेक्षणीय तथ्य यह है कि उन्होंने परम्परा-प्रथित उपमानों तथा प्रतीकों का अधिकांशतया प्रयोग किया है, किन्तु उनमें प्रायेण बासीपन की गन्ध नहीं आती। इसका कारण यह है कि वे यान्त्रिक रीति से उनका प्रयोग नहीं करते, केवल वैचित्र्य अथवा वाग्विलास के निमित्त। उनका मानसी दर्शन उन प्रतीकों के साथ घनिष्टरूपेण विगलित हो गया है और सबसे बड़ी विशेषता है: उनका उस आन्तर-बिम्ब के प्रति अतिशत लगाव तथा उसे सम्प्रेषित करने में उनकी भीतरी स्फूर्ति एवं अनुराग-उत्साह। आप कोई भी रूपचित्र या भावचित्र ले लें। आपको तत्काल कवि के आन्तरिक अनुराग तथा उल्लास का बोध हो जायेगा और तब, उसकी सच्चाई एवं "रसावेश" की ऊर्जा से पुराने, परिचित प्रतीकों में नवीन ताज़गी की प्रतीति होने लगेगी। उदाहरणार्थ—राधा का निम्न रूपचित्र देखें—

"बिराजति राधा रूप-निधान।
सुन्दरता की प्रगट पुंज ही, को पटतर तिय आन॥
सिंदुर सीस, माँग मुक्तावलि, कच कमनीय बिनान।
मनहुँ चंद्रमुख कोपि हन्यौ, रिपु-राहु विषम बलवान॥
तरल तिलक ताटंक गंड पर, झलकत कल बिबि कान।
मानहु ससि-सहाय करिबे कौं, रन बिरचे द्वै भान॥
दीरघ नैन नासिका बेसरि, अरुन अधर छबिवान।
खंजन सुक न बिम्ब समता कौं, लज्जित भए अजान॥
को कहि सकै उरोजनि की छबि, कंचन मेरु लजान।
श्रीफल सकुचि रहे दुरि कानन, सिखर हियौ बिहरान॥
रोमावलि त्रिबली छबि छाजति, जनु कीन्हीं बिधि ठान।
कृस कटि सबल दंड बंधन मनु, यह दीन्हौं बंधान॥
अंग-अंग आभूषन की छबि, कापै होइ बखान।
सूरदास-प्रभु रसिक-सिरोमनि, बिलसहु स्याम सुजान॥" (3064)

—अंगों के लिए नियोजित उपमान सभी पुराने एवं परम्पराभुक्त हैं। किन्तु, पहली पंक्ति ही, "बिराजति राधा रूप-निधान", कवि के उत्साह तथा आवेश को अभिव्यंजित कर देती है और उस आवेश में, राधा का अंग-प्रत्यंग नयी सुषमा से संवलित होकर, कवि को मोहक कल्पनाएं करने के लिए अनुप्रेरित करता जाता है। वैसी मनोभंगी में अलंकारों की झड़ी लग जाती है।

"राधा सुन्दरता की प्रगट पुंज" है, तब अन्य कौन नारी उसकी तुलना कर सकती है? यहाँ अनायास वक्रोक्तिमयी **'असंबंधातिशयोक्ति'** निष्पन्न हो गयी है—कितने स्वाभाविक ढंग से, आप स्वतः अनुभव कर सकते हैं। अब कवि की दृष्टि राधा के मुख तथा उस पर छितराये बालों पर पड़ती है। झटिति उसकी कल्पना में यह चित्र समा जाता है: मानो बलशाली शत्रु राहु ने क्रोधित होकर चन्द्रमा पर प्रहार किया है। मुख के लिए चन्द्रमा और काले केश-कलाप के लिए राहु के उपमान पुराने हैं, किन्तु जिस प्रसंग ततथा आवेश में ये नियोजित हो रहे हैं, वह इस **'वस्तूत्प्रेक्षा'** को कमनीय बना देता है।

इसी सांतत्य में कपोलों पर झलकने वाले दो ताटंकों के लिए दो सूर्यों का उपमान आ जाता है जो केश-रूपी राहु के आक्रमण से बचाने के लिए मुख-रूपी चन्द्रमा के सहायतार्थ रण-व्यूह की रचना कर लेते हैं। यहाँ भी निष्पन्न **'वस्तूत्प्रेक्षा'** भावलालित्य से संवलित होकर अपना बासीपन खो बैठती है। इस प्रकार, नयनों, बेसर-युक्त नासिका तथा छवि-वान् अधरों की शोभा के सामने क्रमशः खंजन, सुग्गे तथा बिम्बफल को लज्जित करा दिया गया है जिससे **'प्रतीप'** का सौन्दर्य उतर आया है। उरोजों की शोभा के प्रत्यायन के लिए एक-से अधिक उपमान लाये गये हैं: पहले कंचन-मेरु को लजवा दिया गया जिससे पुनः **'प्रतीप'** का लालित्य फूट गया और उसके झट बाद, श्रीफल (बिल्वफल) तथा पर्वत-शिखर का स्मरण हो आया और कवि ने इन दोनों में से एक, श्रीफल, को वन में छिपवा दिया तथा दूसरे, पर्वत-शिखर, का हृदय विदीर्ण करा दिया जिससे इन दोनों कल्पनाओं में **'हेतूत्प्रेक्षा'** उतर आयी। तदनन्तर, राधा की मनोहारी रोमावली एवं त्रिबली (पेट पर पड़ी तीन सिकुड़नों) पर कवि-दृष्टि चली गयी और एक चमत्कारी 'उत्प्रेक्षा' पुनः खुल निकली : रोमावली तथा त्रिबली की छवि ऐसी खिलती है, जैसे पतली कमर को टूटने से बचाने के लिए (क्योंकि उस पर उन्नत, पुष्ट उरोजों का बोझ पड़ रहा है) ब्रह्मा ने उसे मजबूत डंडे से बाँध दिया है। इस 'वस्तूत्प्रेक्षा' का सौन्दर्य स्पष्ट है। और, अन्त में, कवि ने सखी द्वारा कृष्ण को मधुर निर्देश दिला दिया है— "बिलसहु स्याम सुजान।" अन्तिम पंक्ति में **'काव्यलिंग'** है।

विवक्षा यह है कि सूर की अलंकार-योजना ऊपर-ऊपर थोपी नहीं है, प्रत्युत उनकी मानसी मूर्ति की नाना छवियों की भावना से निकली, उससे घनिष्टतया शृंखलित लालित्य-योजना है।

अन्य पदों में इसी शैली की अलंकार-योजना परिलक्षित होती है। विशेषता यह है कि कई अलंकार एक रूपचित्र में परस्पर संदर्भित दिखायी पड़ते हैं। कतिपय अलंकार संक्षिप्त रूप में नीचे प्रदर्शित किये जा रहे हैं—

व्यतिरेक : "देखि री, हरि के चंचल नैन।

× × ×

निसि मुद्रित प्रातहिं वै विकसित, ये विकसित दिन-राति॥" (2431)

—यहाँ नेत्रों की, कमलों की तुलना में, श्रेष्ठता चित्रित होने से **'व्यतिरेक'** हुआ है।

दृष्टान्त : "तुव अंग-अंग छबि की पटतर, कौं कबअनि बुद्धि नची।
सूर सुमेरु-कूट की सरवरि, क्यौं पूजै घुँघुची॥" (3066)

—दूसरी पंक्ति में **'दृष्टान्त'** निष्पन्न है।

उपमा : "तनु जोबन ऐसैं चलि जैहैं, जनु फागुन की होली री।
भींजि बिनसि जाइहि छिनु भीतर, जनु कागद की चोली री॥"
(3206)

"जोबन-रूप दिवस दसहीं कौ, जल अँजुरी कौ जानी।
तृन की अगिनि, धूम कौ मंदिर, ज्यौं तुषार-कन पानी।।
रिसहिं जरति पतंग-ज्योति ज्यौं, जानति लाभ न हानी।" (3210)

—यौवन की क्षणभंगुरता की विज्ञप्ति के लिए नियोजित उपमाएँ यहाँ स्पष्ठ हैं। इनमें सादृश्य नहीं, साधर्म्य का सौन्दर्य प्रत्यक्ष फूट पड़ा है।

मालोपमा : "सजनी स्याम सदाई ऐसे।
एक अंग की प्रीति हमारी, वै जैसे के तैसे।।
ज्यौं चकोर चंदा कौं चाहै, चंदा नैंकु न मानै।
जल कैं तीर मीन तन त्यागै, नीर निठुर नहिं जानै।
ज्यौं पतंग उड़ि परै ज्योति तकि, वाके नैंकु न भाएँ।
चातक रटि-रटि जन्म गँवावै, जल वै डारत खाएँ।।
उनही तैं निर्दयी बड़े वै, तैसियै मुरली पाई।
सूर स्याम जैसे, वैसी वह, भली बनी अब माई।।" (1896)

—पूरे पद में उपमा की माला पिरोयी दीखती है। चकोर, मीन, पतंग तथा चातक उपमान हैं और ब्रजनारियाँ उपमेय हैं। अतएव, यहाँ '**मालोपमा**' हुई है। कृष्ण को चन्द्रमा, जल, प्रकाश तथा मेघ से तुलना में बढ़कर निर्दयी बताने में, '**व्यतिरेक**' की व्यंजना भी है।

अपह्नुति : "सिव न, अबध सुन्दरी, बधौ जिन।
मुक्ता माँग अनंग, गंग नहिं, नवसत साजे अर्थ स्याम घन।।
भाल तिलक उडुपति न होइ यह, कबरि ग्रथित अहिपति न सहस फन।
नहिं बिभूति दधिसुत न कंठ जड़, यह मृगमद चंदन चर्चित तन।।"
(2735)

—'हे अनंग (कामदेव)! यह सुन्दरी नारी है जो अवध्य है, शंकर नहीं (जो तुम्हारे शत्रु हैं)। इसके सिर पर गंगा नहीं, अपितु मोतियों से भरी माँग है। इसके मस्तक पर तिलक है, द्वितीया का चन्द्रमा नहीं। सिर पर केशों की वेणी है, हजार फणों वाले शेषनाग नहीं। इसके शरीर पर भस्म की लेप नहीं, अपितु श्वेत मोती (दधि-सुत) हैं। इसके चंदन-चर्चित शरीर पर काली कस्तूरी लगी है, काला विष नहीं (जो शिव के गले में पड़ी हुई है)।' इस प्रकार सुन्दरी राधा की रूपशोभा में शंकर की जो 'भ्रान्ति' हो गयी है, उसका सत्य कथन से निवारण किया गया है। अतः यहाँ '**भ्रान्त्यपह्नुति**' हुई है।

अर्थान्तरन्यास : "प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ।
प्रीति पतंग करी पावक सौं, आपे प्रान दह्यौ।।"
(3906)

—यहाँ एक सामान्य सत्य का विशेष उदाहरण से समर्थन किया गया है। अतः **अर्थान्तरन्यास** निष्पन्न है।

रूपक : "अब मैं नाच्यौं बहुत गुपाल।
काम-क्रोध कौ पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल।।
महामोह के नूपुर बाजत, निन्दा-सबद रसाल।
भ्रम-भोयौ मन भयौ पखावज, चलत असंगत चाल।।"
इत्यादि (153)

—नर्तक का पूर्ण चित्र अंकित है जिसमें 'सावयव रूपक' उपपन्न है।

"बिहरति मान-सर सुकुनारि।
'कैसैंहूँ निकसति नहीं, हौं रही करि मनुहारि।।

× × ×

सूँस स्वास, सरोज लोचन डुलनि, जनु जलचारि।
काम ग्राहक प्रान-चाहक, तरति तहँ उर डारि।।
चिकुर संवर निकर अरुझति, सकति नहिं निरुवारि।
नील अंचल पत्र पद्मिनि, उरज जलज निहारि।।" (3193)

—राधा के 'मान-सरोवर' में डूबने का यहाँ सांगरूपक बाँधा गया है।

भ्रान्तिमान् : "राधा भूलि रही अनुराग।
तरु तर बदन करति मुरझानी, ढूँढ़ि फिरी बन-बाग।।
कबरी ग्रसत सिखंडी अहि भ्रम, चरन सिलीमुख लाग।
बानी मधुर जानि पिक बोलति, कदम करारत काग।।
कर-पल्लव किसलय कुसुमाकर, जानि ग्रसत भए कीर।
राका चंद चकोर जानि कै, पिबत नैन कौ नीर।।" (1744)

—रास के मध्य कृष्ण के अन्तर्धान हो जाने पर राधा की विक्षिप्तावस्था का वर्णन है। वन-बगीचों में घूमती राधा की काली वेंणी को सर्प समझ कर मोर उसे ग्रसित कर लेता है; कमल के भ्रम में भ्रमर उसके चरणों में लिपट जाते हैं; उसकी मधुर वाणी सुन, कौवा उसे कोयल की बोली समझ कर प्रतिस्पर्धा-वश कदंब पर बैठकर काँव-काँव करने लगता है; उसके कोमल हाथों को वसन्त का नव किसलय समझ कर सुग्गा उन्हें पकड़ लेता है और उसके चमकते मुख को पूर्णिमा का चन्द्रमा जानकर, चकोर उसके नेत्रों से टपकने वाले आँसुओं को अमृत के भ्रम में पीने लगता है। इस प्रकार यहाँ 'भ्रान्तिमान्' अलंकार का सौन्दर्य प्रस्फुट हो गया है।

संदेह—"कंधर की धर-मेरु सखी री।

की बग-पंगति, की सृक-सीपज, मोर कि पीड़ पखी री।।
की सुर-चाप किधौं बनमाला, तड़ित किधौं पटपीत।
किधौं मंद गरजनि जलधर की, पग-नूपुर रव नीत।।
की जलधर की स्याम सुभग तनु, यहै भोर तैं सोचति।
सूर स्याम-रस भरी राधिका, उमँगि-उमँगि रस मोचति।।" (2675)

—यहाँ कृष्ण के देखने से उत्पन्न अपनी लुभावनी प्रतिक्रिया को राधा व्यक्त कर

रही है। क्या वह श्याम मेघ है अथवा गिरिधारक श्यामसुंदर हैं ? क्या वह बगलों की पंक्ति है अथवा वनमाला है ? क्या वह मोर है अथवा श्याम के सिर पर सुशोभित मोर-मुकुट ? क्या वह बिजली है अथवा पीताम्बर है ? क्या वह बादलों की गर्जन है अथवा उनके चरणों में पड़े नूपुरों की मधुर ध्वनि ? राधा इसी संशय में प्रातःकाल से ही मग्न है और उफन-उफन कर, प्रेम के आँसू गिरा रही है।

प्रत्यक्ष है कि यहाँ 'सन्देह' अलंकार का सौन्दर्य अवतीर्ण हो गया है और इस योजना में कल्पना का सहज, नैसर्गिक लालित्य फूट पड़ा है।

अप्रस्तुत-प्रशंसा—"तबते इन सबहिन सचु पायो।
जब तें हरि संदेस तिहारो, सुनत ताँवरो आयो ॥

फूले ब्याल दुरे ते प्रगटे, पवन पेट भरि खायो।
ऊँचे बैठि बिहंग-सभा बिच, कोकिल मंगल गायो ॥

निकसि कंदरा तें केहरि हू माथे पूँछ हिलायो।
बन-गृह तें गजराज निकसि कै, अँग-अँग गर्व जनायो ॥"

—यहाँ उपमानों के आनंदानुभव का वर्णन किया गया है : वे सभी प्रसन्न हो रहे हैं, यह जानकर कि 'हरि नहीं आयेंगे जिससे राधा के अंगों तथा चेष्टाओं का सौष्ठव नष्ट हो जायेगा। अतः अप्रस्तुत के वर्णन द्वारा प्रस्तुत राधा की विरहजन्य आंगिक तथा चैष्टिक विवर्णता एवम् उल्लासहीनता की व्यंजना होने के कारण, 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' हुई है।

"अद्भुत एक अनूपम बाग" वाले प्रसिद्ध पद में 'रूपकातिशयोक्ति' निष्पन्न है, यद्यपि रामदहिन मिश्र ने इसे 'वाचक-धर्म-उपमेय-लुप्तोपमा' माना है। ('काव्य-दर्पण')

हमने ऊपर केवल कतिपय प्रसिद्ध अलंकारों के उदाहरण दिये हैं। वास्तविकता यह है कि 'सूरसागर' में अर्थालंकारों का मंद्र-मनोहर कोष प्रसक्त है। प्रतीत होता है जैसे सूर की पद-गान-नोदना ही अलंकारमयी है। अनुप्रासजन्य नाद-सौष्ठव की छटाएँ तो सम्पूर्ण पद-राशि में उपलब्ध होती हैं।

(vii) **सूर का बिम्ब-विधान**—'सूरसागर' की रचना-प्रक्रिया में बिम्बों का महत्वपूर्ण स्थान है। जैसा पहले कहा है, सूर का मानसी प्रत्यक्ष ही बिम्बात्मक है। सूर ने कोरे 'चित्र' नहीं अंकित किये हैं, यद्यपि उनकी रचना में चित्रमयी भाषा का उपयोग हुआ है। मैं 'चित्र' तथा 'बिम्ब' में इस दृष्टि से भेद करता हूँ कि काव्य में 'मेकैनिकल' रेखाओं का विन्यास 'चित्र' कहलायेगा और जब उस चित्र में भाव का तत्त्व गर्भित होगा, तब वह 'बिम्ब' का स्वरूप ग्रहण करेगा। चित्र एकान्त बौद्धिक भी हो सकता है, किन्तु बिम्ब में भाव की आर्द्रता वा दीप्ति का होना आवश्यक है। चित्र अपनी बहिरंग छटा से हमें आकर्षित करता है, जबकि बिम्ब अपने आन्तरिक "शोभातिशय" से हमें मनोमुग्ध बना लेता है। 'सूरसागर' में मनःप्रह्लादन बिम्बों की जगमगाती श्रेणिका अवतीर्ण हुई है।

(लेखक को प्रेषित सूर-विषयक एक वक्तव्य दिनांक 28-10-78, से उद्धृत। लेखक दिवंगत आचार्य-वर के प्रति श्रद्धावनत है।)

(2) रचना-शैली : प्रगीत-काव्य

(क) **चार व्यवच्छेदक गुण** : 'सूरसागर' की रचना गीति-शैली में हुई है। संस्कृत के आचार्यों ने 'गीति' या 'प्रगीत' की पृथक् व्यवस्था नहीं की है, यद्यपि काव्य की गेयता का तत्त्व उनके समीप अपरिचित नहीं रहा है। सामवेद की रचना संगीत से अनुप्राणित है। 'रामायण' में लव-कुश द्वारा महर्षि प्राचेतस-प्रणीत रामचरित के गान का उल्लेख हुआ है। 'श्रीमद्भागवत' के "गोपिकागीत", "वेणुगीत" तथा "युगलगीत" प्रसिद्ध हैं। जयदेव का 'गीतगोविन्द' और बिल्वमगल का 'श्रीकृष्णकर्णामृत' कृष्ण-भक्ति से सराबोर, संस्कृत में प्रणीत मधुर गीति-काव्य है। हिन्दी में "मैथिल कोकिल" विद्यापति की पदावली प्रगीत के सौरस्य से पूर्ण है। तथापि, गीति का उत्कर्ष वैष्णव भक्त-कवियों की रचनाओं में ही उपलब्ध होता है। प्रसिद्ध आंग्ल कवि यीट्स (Yeats) की मान्यता थी कि गीति-कवि सर्वदा अनेक रूपों में अपने व्यक्तित्व का ही प्रकाशन करता है जिसके लिए वह भिन्न-भिन्न मुखौटे धारण कर लेता है। हमारे भक्त-कवियों के विषय में उसका यह 'मुखौटा-सिद्धान्त' (Theory of the Mask) गलत प्रमाणित होता है, कारण कि इन भक्त-गायकों ने अपने भगवान् के प्रति, बिना किसी दुराव-छिपाव के, अपने स्नेह-स्निग्ध हृदयों की भाव-सम्पदा अर्पित की है।

गीति-काव्य के मुख्यतः चार व्यवच्छेदक गुण हैं, यथा—राग-निविष्ट आत्माभिव्यक्ति, संवेद्य भाव की अन्विति, संगेयता वा संगीतात्मकता और कोमलकान्त पद-संघटना। सूर की रसवर्षिणी कविता की रचना-शैली का अवेक्षण इन्हीं विन्दुओं के परिप्रेक्ष्य में किया जा सकता है।[1]

(i) **राग-निविष्ट आत्माभिव्यक्ति**—समग्र 'सूरसागर' सूर की आत्मा के रागात्मक उद्गारों से परिपूर्ण है। पाश्चात्य गीति-कल्पना में स्वच्छन्द भाव-प्रवाह, जो आत्मनिष्ठ होना चाहिए, प्रगीत-रचना में परमावश्यक है। 'सूरसागर' में कृष्ण-कथा की वस्तुनिष्ठ अन्तर्धारा प्रवाहित है जो आपाततः भावों के स्वछन्द प्रवाह के प्रतिकूल पड़ती है। लेकिन, कृष्ण-लीलाओं के प्रति सूर की "अप्रोच" आत्मनिष्ठ है, पूर्णतः भावात्मक है। जहाँ उन्होंने इन लीलाओं के विशुद्ध वस्तु-पक्ष का भी चित्रण किया है, वहाँ भी वह सहृदय भावक के लिए एक ललित, रसात्मक "अनुभव" बन जाता है—'वस्तु' समाप्त हो जाती है और 'अनुभूति' रह जाती है। तथापि, विनय के पदों में जो गीति-माधुर्य फूट पड़ा है, वह कवि के प्रत्यक्ष भावोद्गार से ओतप्रोत है।

'सूरसागर' की गीति-दृष्टि से समीक्षा करने पर, उपर्युक्त दो प्रकार की आत्माभिव्यक्तियाँ दिखायी पड़ती हैं—'प्रत्यक्ष' और 'परोक्ष'। विनय के पद-गीत 'प्रत्यक्ष'

---

1. प्रस्तुत लेखक ने 'गीत', 'प्रगीत', तथा 'गीति' में कोई भेद नहीं माना है—यद्यपि कुछ लोगों ने ऐसा भेदीकरण किया है।

हैं तथा "विशुद्ध गीत" कहे जा सकते हैं। उनमें भक्त-कवि ने भगवान् से सीधे 'रैपर्ट' (rapport) स्थापित किया है और अपने दैन्य-कार्पण्य, अपने समस्त दुःखों तथा दुर्बलताओं, अपने पातित्य तथा भगवान् की दयालुता एवं भक्तवत्सलता आदि का कातर भाव से निवेदन किया है। 'अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल','प्रभु मेरे गुन-अवगुन न विचारौ', 'अबकैं नाथ मोहिं उधारि', 'जनम तौ ऐसेहिं बीत गयौ' आदि कथन कवि की अन्तरात्मा की प्रत्यक्ष रागात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं।

दूसरी कोटि में अन्तर्भावों का वह मधुर, ललित प्रवाह दृष्टिगोचर होता है जो श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं तथा माधुर्य-लीलाओं के परिप्रेक्ष्य में उमड़ पड़ा है। बाल-लीलाओं के संदर्भ में 'कृष्ण' का रूप-चित्रण तथा उनकी माखनचोरी-विषयक नाना अचगरियाँ कवि की आत्माभिव्यक्ति का आलंबन बनी हैं। माधुर्य-प्रसंगों में राधा-कृष्ण तथा कृष्ण-गोपियों के अनेकविध प्रणयाचरणों एवं प्रेमाभिव्यक्तियों का चित्रण हुआ है। इन पदों को 'कलात्मक गीत' कहा जा सकता है जो 'प्रत्यक्ष' नहीं, 'परोक्ष' हैं। ये परोक्ष आत्माभिव्यक्तियाँ कवित्व-कला के लालित्य से गर्भित हैं और 'लोकोत्तर चमत्कार' वाली 'रमणीयता' से रसार्द्र बन गयी हैं। रूप-चित्रों में चाहे वे राधा के हों, चाहे कृष्ण के— सूर का वर्णन, 'वस्तु-व्यंजना' न होकर, आत्माभिव्यंजना बन गया है। जैसा हमने अन्य संदर्भ में कहा है, कवि का भक्त हृदय अपने 'स्वामी-स्वामिनी' की रूपशोभा से इतनी गाढ़ता के साथ उलझा हुआ है कि अन्तिम पंक्तियों में प्रायः उसकी अन्तरात्मा की आनंदपूर्ण विह्वलता छलक पड़ती है। उदाहरण देकर प्रकरण की कलेवर-स्फीति हमारा उद्देश्य नहीं है। सावधान पाठक दशम स्कन्ध से लीला-विषयक कोई पद ले सकते हैं।

राधा अथवा गोपियों की प्रेमाभिव्यक्तियों के चित्रों में, प्रतीत होता है, सूर का सम्पूर्ण हृदय-कोष, कभी अतिशय उल्लास के साथ, कभी अतिशय कातरता के साथ शतधा-सहस्रधा खुल पड़ा है। संयोग हो, चाहे वियोग हो—प्रत्येक स्थिति के वर्णन में सूर अपने को उससे गहराई के साथ 'इन्वॉल्व' कर लेते हैं और तब, उन गीतों में 'स्व' तथा 'पर' का भेद पूर्णतः मिट जाता है।

सूर की गीति-प्रतिभा में अनुभूति की सहजता के साथ कल्पना की मधुरिमा का अनुपम मणि-कांचन-संयोग सम्पन्न हुआ है जिससे ये 'कलात्मक गीत' नितान्त मर्म-स्पर्शी बन गये हैं। केवल एक पद नीचे उद्धृत किया जा रहा है—

> "स्याम-बियोग सुनौ हो मधुकर, अँखियाँ उपमा-जोग नहीं।
> कंज, खंज, मृग, मीन होहिं नहिं, कविजन बृथा कहीं॥
> कंजन हूँ की लगति पलक दल, जामिनि होति जहीं।
> खंजन हूँ उड़ि जात छिनक मैं, प्रीतम जहीं तहीं॥
> मृग होते रहते सँग हीं सँग, चंद बदन जितही।
> रूप-सरोवर के बिछुरे कहुँ, जीवत मीन मही॥
> ये झरना सी झरति सदा हैं, सोभा सकल बही॥
> सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु, अब कत साँस रही॥" (4189)

नयनों के सभी परम्पराभुक्त उपमान यहाँ नियोजित हुए हैं। किन्तु 'प्रतीप' अलंकार की अंचल-छाया में इन सबकी अनुपपत्ति दिखलाकर; कवि ने तरुणियों की वियोग-वेदना की तलस्पर्शी व्यंजना की है—"रूप-सरोवर के बिछुरें कहुँ, जीवन मीन मही।" अन्तिम पंक्ति में कवि का भक्त-हृदय इन तरुणियों के दुःख के साथ पूर्ण सामरस्य स्थापित कर लेता है—"हे प्रभु ! तुम्हारे दर्शन के बिना अब जीवन की साँस कैसे बची रह सकती है ?"

प्रस्तुत चित्र अनुभूति और कल्पना का मोहक समन्वय प्रदर्शित करता है।

(ii) **संवेद्य भाव की अन्विति**—'सूरसागर' के प्रगीतों में सम्प्रेषणीय भाव की व्यंजना अन्विति लिये हुए हुई है। गीत का मुख्य लक्ष्य होता है अभीष्ट भाव अथवा वस्तु की ऐसी अभिव्यक्ति जो समग्र रूप में, बिना बिखराव के, अपनी छाप किंवा मूर्ति भावक के मनस्पटल पर अंकित कर दे। सूर के पद ऐसी अन्विति से पूर्ण हैं। हमने पहले उनके मानसी प्रत्यक्ष की विशेषता बतायी है किसी वस्तु या तथ्य का समंजस बिम्ब-रूप में ग्रहण। सूर की निपुण कला ने प्रायः मानसी बिम्बों को उनके संघटित, समंजस रूप में ही चित्रित किया है। लीला अथवा विनय की विशाल पदराशि में से कोई भी पद परीक्षणार्थ लिया जा सकता है।

(iii) **गेयता अथवा संगीतात्मकता**—कहा जाता है, सूर श्रीनाथजी के मन्दिर में सितार बजाकर सेवा के पद गाया करते थे और जिस राग में पद रचते थे, उसी राग में उन्हें गाते भी थे। 'सूरसागर' में कुल 87 रागों का उल्लेख हुआ है। उसमें लीला, कुंडल, सार, हीरा, तोमर, रूपमाला, सवैया आदि मात्रिक छन्द प्रयुक्त हुए हैं जो नट, रामकली, बिलावल, मलार, विहाग, वसंत, विभास प्रभृति रागों में गाये जाते हैं। पुष्टि-मार्गीय सेवा में इस बात का विधान है कि किस रस (संयोग-वियोग शृंगार, वीर आदि) का गायन किस राग में किया जाय और दिन-रात में किस समय किया जाय। अतएव, सूर की पद-रचना प्रायः संगीत के निश्चित आधार पर हुई है। उदाहरणार्थ, दो पद लीजिये—

(i) "राधे, तेरे नैन किधौं बटपारे।
तिहिं देखें बन के मृग मोहे, मानुस कौन बिचारे।।
अंजन दै पिय कौ मन मोह्यौ, खंजन मीन लजारे।
चितवत दृष्टि बान भरि मारत, घूमत ज्यौं मतवारे।।" (3361)

इस पद में प्रयुक्त छन्द "सार" है और वीर रस की व्यंजना से यह "नट" राग में गाया गया है।

(ii) "हरि बिनु बैरिनि नींद बढ़ी।
हौं अपराधिनि चतुर बिधाता, काहैं बनाइ गढ़ी।।
तन मन धन जोबन सुख संपति, बिरहा अनल डढ़ी।
नँदनंदन कौ रूप निहारति, अह-निसि अटा चढ़ी।।" (3887)

यहाँ छन्द "विष्णुपद" है और प्रयुक्त राग "बिहागरौ" है।[1]

(iv) **कोमल-कान्त पद-संघटना**—'सूरसागर' की रचना की बुनावट कोमल तथा कान्तिमय पदों के संघटना से सम्पन्न हुई है। सूर शब्दों की प्रकृति के निपुण पारखी हैं। उनका कथ्य विषय, चाहे भक्ति-भावना हो, चाहे सौन्दर्य-प्रेम का गायन हो, सदैव भाव की सुकुमारता तथा विह्वलता के अन्तरीण तत्त्व से अनुरंजित है। अतएव, अभि-व्यक्ति के स्तर पर, चयित पदावली निसर्गतः कोमल, कान्त बन जाती है। कहीं से भी, अनायास, उदाहरण लिये जा सकते हैं—

"मन रे माधव सौं करि प्रीति।
काम क्रोध मद लोभ आदि तू छाँड़ि सबै बिपरीति।।
भौंरा भोगी बन भ्रमै, (रे) मादे न मानै ताप।
सब कुसुमनि मिलि रस करै, (पै) कमल बँधावै आप।।
सुनि परिमित पिय प्रेम की, (रे) चातक चितवन बारि।
धन-आसा सब दुख सहै, (पै) अनत न जाँचै बारि।।" (325)

भक्ति-भाव की कातर सच्चाई इन पंक्तियों में छलछला उठी है। हमने "शय्या" का उल्लेख पहले किया है। यहाँ सहृदय पाठक सद्यः अनुभव कर सकेंगे कि 'माधुर्य'-व्यंजक वर्णों के समवाय से रचित पद बड़ी कोमल तथा सुकुमार पद्धति से परस्पर शय्या-लीन हैं। अनुप्रास का नैसर्गिक नाद-सौन्दर्य पद-योजना को अनुपम कान्ति से समन्वित कर देता है।

दूसरा उदाहरण लें—

"सजनी, मोतैं नैन गए।
अब लौं आस रही आवन की, हरि कैं अंग छए।।
जब तैं कमल-वदन उन दरस्यौ, दिन-दिन ओर भए।
मिले जाइ हरदी-चूना ज्यौं, एकहि रंग रए।।
मोकौं तजि भए आपु स्वारथी, वा रस-मत्त भए।
सूर स्याम कैं रूप समाने, मानौं बूँद तए।।" (2946)

प्रथम पंक्ति का प्रथम शब्द, 'सजनी', ही लोकभाषा के सौरस्य से गर्भित है। उसमें से जो सुकुमारता झाँक रही है, वह "मोतैं नैन गए" के कथन से मानो प्रस्फुरित हो जाती है। बाद की पंक्तियाँ तरुणी की कातर विवशता का विशदीकरण करती हैं और अंतिम पंक्ति में वह लाचारी निराशा का रूप ग्रहण कर लेती है—"सूर, स्याम कैं रूप समाने, मानौ बूँद तए।"

कथन की कातर व्यंजना यों समझी जा सकती है—'नेत्र तरुणी के ही हैं, अतः उसके पूर्ण नियंत्रण में हैं। उनका सामान्यतः कोई पृथक् अस्तित्व भी नहीं है। किन्तु,

1. इस सन्दर्भ के सम्यक् ज्ञान के लिए देखिये, डॉ० द्विजेन्द्र का 'सूर साहित्य का छन्दःशास्त्रीय अध्ययन' नामक ग्रन्थ, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद।

यहाँ तरुणी के लिए ये नेत्र "सर्वतंत्र-स्वतंत्र" (Sovereign) जैसे बन गये हैं। लगता है, मानों वे यह भूल गये हैं कि उनकी कोई 'निष्ठा' उनकी धारक उस तरुणी के प्रति भी है। कवि-कला का माधुर्य इस बात में सन्निविष्ट है कि नेत्रों को स्वतंत्र 'व्यक्तित्व' प्रदान कर, वह तरुणी की विरहानुभूति की कसक को अभिव्यंजित कर रही है। इस कसक की अभिव्यक्ति जिस पदावली में हुई है, वह स्वभावत: कोमल, कमनीय बन गयी है। केवल एक पद "मत्त" को छोड़कर, शेष पूरी शब्द-योजना 'माधुर्य' तथा 'कान्ति' गुणों से उपेत है।

(ख) **महाकाव्यात्मक शिल्प**—सूर ने मुख्यतः कृष्ण-चरित के उन्हीं पक्षों को अपना वर्ण्य बनाया है जो गीत का माधुर्य संवहन कर सकते थे। उनकी प्रतिभा के पारस ने इतिवृत्तात्मक सूत्रों को भी आत्मनिष्ठता के मोहक रंगों में रंजित कर दिया है। 'सूर-सागर' का केन्द्रीय भाव प्रेम है जो 'वात्सल्य' तथा 'माधुर्य' रतियों के रूप में, शतधा, ऊर्म्मिल धाराओं तथा भँवरों में प्रवाहित हो गया है। यह भाव स्वतः "लीरिकल" (गेय) है, अत: सूर की कोमल सरस्वती का उपलालन पाकर, वह सहज ही काव्य को ताजमहल के "महाकाव्यात्मक शिल्प" का प्रतिस्पर्धी बना देता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, "गीतिकाव्यात्मक मनोरागों पर आधारित विशाल महाकाव्य ही 'सूरसागर' है।"[1]

सूर की काव्य-वीणा की द्वैधात्मक झंकृतियाँ

लौकिक-अलौकिक रसों का द्वैताद्वैत—सूर प्रकृत्या सुकुमारमना गायक हैं। निखिल-रस-संदोह आनंदमूर्ति श्रीकृष्ण की लीलाओं के कीर्त्तन के प्रति उनकी काव्य-वीणा समर्पित है। किन्तु, प्रतीत होता है, उनके सम्मुख दो प्रकार की समस्याएँ वर्तमान थीं : पहली, "वेद-विहित" साधना-प्रणाली के नाम पर प्रेमाश्रयी भक्ति का विरोध; और दूसरी, इस भक्ति के चरम आराध्य श्रीकृष्ण की लीलाओं के सरस्वत् गायन का अभाव। 'निर्गुन' के उपासकों तथा उपदेशकों का प्रधान केन्द्र उस युग में काशी था। भ्रमरगीत-प्रसंग में सूर ने कई बार ज्ञानयोग के लिए काशीवासियों को योग्य और ब्रजवासियों को अयोग्य घोषित किया है—

"यह गोकुल गोपाल-उपासी।
जो गाहक निरगुन के ऊधौ, ते सब बसत ईस-पुर कासी।
सूरदास ऐसी को बिरहिनि, माँगि मुक्ति छाँड़ै गुन-रासी॥" (4546)

ज्ञान की तुलना में प्रेम की प्रतिष्ठा सूर की कविता का ऐकान्तिक उद्देश्य था और 'वेद' के प्रश्रय में वह प्रतिष्ठा होनी थी—

"जानि लियौ थोरैं मैं थोरौ, प्रेम न रोकै बेद।" (4746)

दूसरी समस्या अधिक 'पॉजिटिव' ढंग की थी : 'रस-लीलाओं' का 'रस-रीति' के समारोह के साथ कीर्त्तन—

---

1. 'हिन्दी साहित्य' (1952), पृ० 182-83

"रास रसिक गुन गाइहो।

नीरस कवि न कहै रस-रीति। रसिकहिं रस-लीला पर प्रीति ।।" (1768)

ऊपर-ऊपर देखने से ये समस्याएँ परस्पर विविक्त, अलग-अलग अवभासित होती हैं, किन्तु उन दोनों का समाधान एक ही था—"रस-लीलाओं" का "रस-रीति" के पूर्ण उन्मीलन के साथ गुणानुवाद। प्रेमाश्रयी भक्ति की मधुर छाया में जो अन्य वीणाएँ झंकृत हो रही थीं, उनके निनादन में शास्त्रीय रस-पद्धति का पूर्ण विलास लक्षित नहीं हो रहा था। यह अभाव सहज काव्य-प्रतिभा के धनी और रस-परम्परा में निष्णात सूर को खटक रहा था। कृष्ण-भक्ति के आचार्यों ने कहा भी था कि लीला-पुरुषोत्तम कृष्ण ने व्रज-तरुणियों के साथ काव्यशास्त्रीय पद्धति से भी रस का भोग किया है। 'रस-रीति' का उल्लेख इसी शास्त्रीय पद्धति की ओर संकेत करता है। सुतराम्, सूर की काव्य-विपंची के निनादन में स्वरों का 'द्वैत' साफ-साफ झलकता है। कविता और भक्ति का, लौकिक और अलौकिक रसों के संयोग-सम्मिश्रण का। यह 'द्वैत' कहीं भी देखा जा सकता है, किन्तु इस आपातिक अथवा प्रातिभासिक 'द्वैत' की विशिष्टता है उसका असंलक्ष्यक्रम रीति से 'अद्वैत' में घुलमिलाव। द्वैत में अद्वैत और अद्वैत में द्वैत, यही सूर की कविता-कामिनी के भ्रू-विलास का वैशिष्ट्य है। दो-तीन उदाहरण यहाँ लिये जा सकते हैं--

"आनँद-प्रेम उमंगि जसोदा, खरी गुपाल खिलावै।
कबहुँक हिलकै-किलकै जननी, मन सुख सिंधु बढ़ावै।।
दै करताल बजावति गावति, राग अनूप मल्हावै।
कबहुँक पल्लव पानि गहावै, आँगन माँझ रिगावै।।
सिव सनकादि सुकादि ब्रह्मादिक खोजत अंत न पावै।
गोद लिए ताकौं हलरावै, तोतरे बैन बुलावै।।
मोहे सुर नर किन्नर मुनिजन, रवि रथ नाहिं चलावै।
मोहि रहीं ब्रज की जुवती सब, सूरदास जस गावै।।" (748)

—ध्यान दें: वत्सल का लौकिक रस शिव, सनकादि की खोज का वैयर्थ्य और सुर, नर, किन्नरादि की मनोमुग्धता के कथन से सहजतया अलौकिक धरातल पर उत्क्रमण कर जाता है। उपनिषदों का "नेति", "नेति" अतीव सहज सौन्दर्य के साथ यहाँ वत्सल-रस के माधुर्य में मिश्रित हो गया है। "मोहि रहीं ब्रज की जुवती" का उल्लेख उस "बाल-रस" के भविष्यत् विलास की दिशा का भी संकेत करता है। और, सबसे बड़ी बात तो है कि सूर केवल अपने आराध्य का 'यशगान" कर रहे हैं—"सूरदास जस गावै।" अपने को लौकिक वात्सल्य की मधुरिमा में उलझा कर भी, कितनी सरलता से भक्त-कवि इस प्रपंच से छुट्टी पा लेता है! वह तो केवल सामान्य बन्दीजन है!

'मधुरा रति' के प्रसंगों में भी लौकिक-अलौकिक रसों का यह संयोग परिलक्ष्य है। प्रणय की सम्पूर्ण वियोग-वेदना के बीच सूर ने कह दिया है—

"हरि-रस तौ ब्रजवासी जानैं।
बदन-सुधारस पियत मधुप ज्यौं, चरन-कमल रुचि मानैं।।

ब्रह्मलोक, सिवलोक नाहिं सुख, निगम जु नेति बखानैं।
सो रस गिरिवर-धारी के सँग, जिह्वा सेष कहानैं।।" (4665)

अतएव, सूर की काव्यतन्त्री से उत्पन्न संगीत-समूह में स्वरों तथा ध्वनियों का यह द्विधात्मक संगम और उस 'द्वैत' में तात्त्विक 'अद्वैत' की स्थापना—यह उसकी मुखर विशिष्टता है। 'सूरसागर' की समग्र पदराशि का आकलन इस मौलिक तथ्य के आलोक में होना चाहिए।

प्रेम के तात्विक विकास का अभाव—लौकिक-अलौकिक रसों का यह सम्मिश्रण विद्वानों की वैपश्चिती बुद्धि की पकड़ से कभी-कभी छूट-सा गया है। इसका एक ज्वलन्त परिणाम हुआ है 'सूरसागर' में प्रेम का "विकास" प्रदर्शित करने का प्रयत्न। यह तथ्य विस्मृत कर दिया गया है कि जिस प्रेम का गान सूर की सरस्वती ने किया है, वह वस्तुतः अथवा तत्त्वतः, "पुरातन स्नेह" है[1] जिसे सूर ने "प्रथम स्नेह" भी कहा है—

"प्रथम सनेह दुहुँनि मन जान्यौ।
नैन-नैन कीन्हीं सब बातैं, गुह्य प्रीति प्रगटान्यौ।।" (1292)

"गुह्य प्रीति" के प्रकट होने में भी वही "पुरातन" प्रेम ध्वनित है। अतएव, जिस प्रेम का चित्रण सूर ने किया है, वह अलौकिक स्तर का 'पुराना' प्रेम है जिसे तुलसी ने भी 'मानस' में सीता-राम के सम्बन्ध में स्वीकार किया है।[2] राधा जब माता-पिता आदि की ताड़ना-भर्त्सनाओं का कृष्ण से निवेदन करती है, तब कृष्ण उसको समझाते हैं— "ब्रज में निवास कर तुमने अपने को भुलवा दिया है। प्रकृति और पुरुष, दोनों को एक ही समझो। जल, थल में जहाँ भी रहता हूँ, तुम हमारे साथ रहती हो। हम-तुम दोनों एक ही हैं, केवल सुख-भोग के निमित्त हमने दो शरीर धारण किये हैं।"[3] इस कथन से हर्षित होकर राधा पुरातन स्नेह की प्रतीति से आनंद में निमग्न हो जाती है और कृष्ण के साथ रतिभोग के लिए मनसा विवश हो जाती है। यही 'प्रथम' वा 'पुराना' स्नेह, आपातिक परिचय के आरंभिक चरणों में ही, "नवल गोपाल" तथा "नवेली राधा" को, चपला की चमक और गगन की गड़गड़ाहट के बीच, नवल कुंज में परस्पर "रस-राशि" लुटाने को बाध्य कर देता है—

"नहीं छूटति रति-रुचिर भामिनी, वा रस मैं दोउ पागे।
मनहुँ सूर कल्पद्रुम की सिधि, लै उतरी फल आगे।।" (1304)

---

1. "तब नागरि मन हरष भई।
नेह पुरातन जानि स्याम कौं, अति आनंद-मई।।
प्रकृति पुरुष, नारी मैं वै पति, काहैं भूल गई।
को माता, को पिता, बंधु को, यह तौ भेंट नई।।
जन्म-जन्म जुग-जुग यह लीला, प्यारी जानि लई।
सूरदास-प्रभु की यह महिमा, तातें बिबस भई।।" (2306)
2. "चली अग्र करि प्रिय सखि सोई।
प्रीति पुरातन लखई न कोई।।" (बालकाण्ड)
3. 'सूरसागर', पद 2306

कहने का अभिप्राय यह है कि वास्तविक दृष्टि से यह कथन भ्रान्तिपूर्ण है कि सूर ने अपने काव्य में प्रेम का "विकास" प्रदर्शित किया है : प्रेम तो वहाँ पहले से ही "सिद्ध" वस्तु है, केवल उसका उत्फुल्ल "विलास" चित्रित करना सिद्ध-सारस्वत कवि का प्रयोजन रहा है। उसे गुह्य प्रेम-'विकास' की अपेक्षा नहीं, यतः सूर "रस-रीति" का भी निरूपण करना चाहते हैं, अतः उन्होंने बाह्यतः प्रथम दर्शन में राधा-कृष्ण के बीच उत्पन्न प्रेम का कथन कर, "पूर्वराग" के माधुर्य का भी अंकन किया है। गोपियों से भी कृष्ण का प्रेम पुराना है, वे 'हरि' से कभी अलग नहीं रही हैं—"तब तौ बेद-रिचा बौरानी, अब ब्रजबास-दुलारी"। रससिद्ध कवि होने के कारण, सूर को शास्त्रीय विधि से "रस-रीति" का निरूपण करना भी प्रकाम्य था। अतएव, पनघट के बहाने, मुरली-वादन के व्याज से, चीरहरण की प्रक्रिया से गोप-तरुणियों की रति को लोकानुभव की दृष्टि से उद्बुद्ध एवम् प्रस्फुट करने का उन्होंने उद्योग किया है। लोक में प्रेमरस के कौन-कौन से पटल वा स्वरूप होते हैं, उनके निदर्शन में अनेकानेक रमणीय-कमनीय चित्रों की 'गैलरी' सूर के काव्य में अवतीर्ण हो गयी है क्योंकि "रस-रीति" का सम्यक् निरूपण उनके बिना अधूरा रह गया होता। आखिर, उनके आराध्य ने तो भूलोक में अवतार लिया है प्रेम का स्वरूप प्रदर्शित करने हेतु ही। और, वह लौकिक स्तर पर, लौकिक रंगीनियों के साथ ही चित्रितव्य था। अतएव, सूरसागर में प्रेम का "विकास" प्रदर्शित करने का प्रयत्न युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि वह तात्त्विक नहीं है।

स्थूल लीलाओं के आधार पर गोपियों के "माधुर्य-भाव" का विकास दिखाने का उपक्रम भी असंगत है। भागवत से गृहीत होने के कारण, 'चीरहरण' तथा 'रास' के विषय में तो यह कहा जा सकता है कि लज्जा एवम् गर्व के तत्त्वों का उनमें उत्तरोत्तर परिहार दिखाया गया है। किन्तु, भागवत-निरपेक्ष लीलाओं में प्रेम-विकास का कौन-सा स्पष्ट सोपान प्रतिफलित है, यह कहना कठिन है। यदि सूर उपरितः भागवत से बँधे न होते और पनघट-लीला के पदों में चीरहरण का उल्लेख नहीं किया होता, तो हम यही निवेदन करते कि इन लीलाओं में प्रेम-विकास की दृष्टि से पनघट-प्रसंग को प्रथम और 'दानलीला' को द्वितीय स्थान मिलना चाहिए। इनके बाद ही, 'चीरहरण' तथा 'रास' को स्थान दिया सकता है। कारण स्पष्ट है। पनघट तथा दानलीला में कृष्ण की ग्राम्य प्रेमसुलभ अचगरियाँ प्रतिफलित हुई हैं, जबकि चीरहरण में गोपियों के प्रेम की प्रौढ़ावस्था व्यंजित हुई है जो प्रेमोदय के प्रथम चरणों में संभव नहीं है। किन्तु, विवशता यह है कि सूर चीरहरण को पहली सामूहिक लीला मानते हैं और उसी आधार पर, सूर के कतिपय विद्वान् सामूहिक लज्जा-त्याग जैसे आचरण को प्रेमोदय के प्रारंभिक चरणों में स्थान देते हैं और पनघट-जैसी लीलाओं को चीरहरण की परवर्तिनी मानकर, गोपियों के प्रेम-विकास से उनकी मनोनुकूल संगति बिठाने का असंगत प्रयास करते हैं। वस्तुतः उनकी कठिनाई उनका यह पूर्वग्रह है कि सूरसागरीय लीलाओं में कोई अनुक्रम वा पौर्वापर्य स्थापित होना ही चाहिए।

राधा-कृष्ण के तथोक्त प्रेम-विकास में भौंरा-चकई खेलने वाली कहानी को अनुक्रम में पहला स्थान दिया गया है। उसके बाद, गोचारण तथा गोदोहन के सिलसिले में उनके बार-बार मिलने और नंद-यशोदा द्वारा उनके प्रेमाकर्षण के प्रोत्साहित करने का उल्लेख सूर ने किया है। इसी आधार पर पंडितों ने राधा-कृष्ण के प्रेम-विकास की कहानी गढ़ी और उसे व्यवस्थित रूप देने का प्रयत्न किया है। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा ने इस समस्त

पदसमूह के दो विभाग किये हैं। प्रथम के अन्तर्गत यमुना-तीर पर हुई पहली भेंट, सुख-विलास, राधा के यशोदा के घर आने तथा उससे लाड़-प्यार प्राप्त कर अपने घर लौट जाने तथा अपनी माता से यशोदा वाला संवाद सुनाने से संबद्ध पद लिए गये हैं, अथच दूसरे के अंतर्गत राधा के खरिक में जाकर कृष्ण से गाय दुहाने वाले पद तथा गारुड़ी प्रसंग गृहीत हुए हैं। डॉ० वर्मा ने अपने शोध-प्रबंध में वेंकटेश्वर प्रेस वाले 'सूर-सागर' का आश्रय लिया है. जिसमें इन दोनों विभागों के बीच 'काली-दमन' आदि प्रसंग रख दिये गये हैं। केवल इसी दुर्बल आधार पर उस संबद्ध पदराशि का द्वेधा विभाजन, जैसा डॉ० वर्मा ने किया है, उचित एवम् संगत नहीं है।

प्रथम विभाग के संबंध में डॉ० वर्मा "प्रथम मिलन और प्रेम-विकास" की बात करते हैं और इस प्रेम-प्रसंग की परिणति श्याम-श्यामा की 'गुप्त लीला' में मानते हैं। पुनः अंतिम टिप्पणी से रूप में, राधा-कृष्ण के प्रथम मिलन को उनकी बाल्यावस्था के पूर्ण रतिसुख तथा दोनों के पारिवारिक स्नेह-संबंध तक विकसित होने की दाद देकर, वे कहते हैं : "दाम्पत्य-प्रेम की उत्पत्ति और उसके मनोवैज्ञानिक विकास की दृष्टि से राधा-कृष्ण की कथा का यह प्रसंग प्रेम-काव्य का एक सुंदर उदाहरण है।"[1]

इस संदर्भ में हमारा निवेदन है कि बाल्यावस्था की 'मधुर रति' के मनोवैज्ञानिक विकास की कल्पना बालू पर की भित्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। बाल्यकाल का शारीरिक विकास इस योग्य नहीं होता कि पूर्ण 'रतिसुख' का, प्रौढ़-प्रौढ़ा की भाँति, निर्बाध भोग किया जा सके। यह कहना निरर्थक है कि "कवि का अभीष्ट अवस्था-निरपेक्ष भाव-रूप का प्रदर्शन है।" "भाव-रूप" की तर्कना निस्सार है क्योंकि कृष्ण ने राधा के साथ घोर, निविड़ शारीरिक रति-भाव का सुख उठाया है जो सुख-विलास वाले पदों के अवलोकन से प्रत्यक्ष हो जायेगा। प्रथम माखनचोरी के समय ही, कृष्ण ने स्पष्ट कहा था : "यशोदा मुझे बाल-रूप ही समझेगी, जबकि मैं गोपियों के साथ मिल कर सुख-भोग करूँगा, क्योंकि सुख के लिए मैंने गोकुल में जन्म धारण किया है।"[2] अतएव, न तो स्वयं कृष्ण और न सूरदास ही कृष्ण के "भाव-रूप" की प्रतिष्ठा के लिए लालायित हैं। हमने अभी ऊपर दिखाया है कि राधा "नागरी" क्योंकर रस-नागर श्याम के लिए "कल्पद्रुम की सिद्धि" बन गयी है। स्पष्ट ही इस निविड़ प्रौढ़ा-सुलभ रतिभोग में मनोवैज्ञानिक विकास नाम की कोई वस्तु नहीं है। डॉ० वर्मा ने लिखा है कि इस "प्रेम-प्रसंग की 'परिणति' श्याम-श्यामा की गुप्त लीला में" हुई है। यहाँ ध्यातव्य यह है कि यह गुप्त लीला की परिणति अवश्य है, किन्तु विकास नहीं। वर्माजी ने परिणति को विकास समझने का प्रमाद किया है और यह भूल इस कारण हुई कि 'सूरसागर' की लीलाओं में अन्विति तथा तारतम्य स्थापित करने का उनका आग्रह पूर्ण तथ्य को समझने में बाधक बना है। यतः, जैसा पहले कहा है, सूर "रसलीलाओं"[2] के भक्ति-सुलभ वर्णन के साथ-साथ कवि-सुलभ मनोदृष्टि से "रसरीति" का निरूपण करना भी चाहते थे, अतः भौंरा-चकई जैसे प्रसंगों की उन्हें उद्भावना करनी पड़ी अथवा किसी परम्परा से वह उन्हें मिल गयी। ऐसे विवरणों को लेकर राधा-कृष्ण के प्रेम का, "साहचर्य" के आधार पर मनोवैज्ञानिक विकास प्रदर्शित करने का उद्योग 'तत्त्व' एवम् 'तथ्य', दोनों की अवहेलना है।

---

1. 'सूरदास', पृ० 376-77
2. 'सूरसागर', पद 886

निष्कर्ष रूप में तथोक्त प्रेम-विकास की संपूर्ण कहानी को ऐसे समझना उचित होगा : सूर चाहते हैं कि प्रकृत मानव-प्रेमियों के समान, शास्त्रीय आधार भी लेते हुए, उनके 'स्वामी-स्वामिनी' की प्रणय-रीति का निरूपण किया जाय जिसके निमित्त वे परंपरा से प्राप्त कुछ उपयुक्त स्थितियों का चित्रण करते हैं। लेकिन, तभी उन्हें स्मरण हो आता है कि कृष्ण "पुरातन" प्रेमी हैं और राधा तथा गोप-तरुणियाँ 'पुरानी' प्रेमिकाएँ हैं; और, तब वे सभी बन्धनों को तोड़कर, उन्हें कभी किसी-न-किसी प्रणय-प्रसंग में संयुक्त करा देते हैं अथवा 'अनुराग समय' एवं 'नैनन समय' जैसे पद-समूहों का प्रणयन कर उन्हें पूर्वराग-सदृश वियोग-दुःख में तड़पाने लगते हैं। "अतएव, यदि किसी पंडित को कहीं माधुर्य-भाव का प्रकृत 'विकास' दिखायी पड़ जाय, तो उसे सूर की ओर से 'घुणाक्षर न्याय' का परिणाम तथा इन पंडितों की ओर से 'सूरसागर' में प्रबन्धात्मक अन्विति अथवा सुसंगत पौर्वापर्य ढूँढ़ने के सहज प्रलोभन का प्रतिफलन समझना चाहिए।"[1]

सूर की काव्य-वीणा स्वच्छन्द है और उसके ऊपर अनुशासन है तो केवल उनकी कविता में सन्निहित पूर्वोक्त 'द्वैत' का, लौकिक-अलौकिक रसों के युगपत् निष्पन्द का, जो उसे दोनों तरफ लुभाता रहा है और दोनों प्रकार की संगीत-ध्वनियाँ क्वणित करने को अनायास अनुप्राणित करता रहा है।

रूप का आकर्षण—सूर के वीणा-निनाद का अपर वैशिष्ट्य है रूप का आकर्षण। उनकी हृदय-तंत्री के तार इतने संवेदनशील हैं कि रूप-सौन्दर्य के सूक्ष्म संकेत भी उनके भीतर अनुरणन उत्पन्न करने लग जाते हैं। फिर, उनके कृष्ण तो "सुन्दरता के सागर" हैं और राधा "रूप-उदधि" की सर्वोत्कृष्ट विभूति हैं। अतएव, प्रत्येक प्रसंग में सूर अपने स्वामी-स्वामिना के आनन्द्य रूप-सौन्दर्य की मनोहारी आरती उतारने लगते हैं। किंबहुना, राधा-कृष्ण के "सुरत-शिल्प" का वर्णन करने में भी वे रूप-शोभा की विभिन्न स्थितियों का आकलन प्रसन्न भाव से करने लग गये हैं।

रूपाकर्षण से संबद्ध अन्य तत्त्व हैं—रोमांस की स्वच्छन्दता एवं तड़पन जो शृंगारी लीलाओं के व्याख्यान में दृष्टिगोचर होती हैं। यह उल्लेखनीय है कि सम्पूर्ण ब्रज-समाज में कृष्ण या तो 'वात्सल्य-रति' के आस्पद हैं या फिर 'माधुर्य' रति के। 'मधुर भाव' का वर्णन ही प्राधान्य प्राप्त कर गया है। सुतराम्, स्वच्छन्दता के वातावरण में उपलालित इस प्रणय-राज्य के सार्वभौम सम्राट् "मदन-महीपति" बने हैं और "लीला-नायक श्रीकृष्ण इस सम्राट् के एकमात्र शासनाधिकारी हैं।"

काम तथा प्रेम का ऐकात्म्य—सूर की वीणा-झंकृति की विशिष्टता का एक अन्य आयाम काम तथा प्रेम का तादात्म्य है जो अतिशय पवित्र तथा उज्ज्वल बन गया है। चाहे राधा हो, चाहे ब्रज-तरुणियाँ और चाहे कृष्ण स्वयं—सभी "काम-द्वन्द्व" से पीड़ित हैं। उसे परितृप्त करने का सभी ने, अपने-अपने स्तर पर, उद्योग किया है। 'भ्रमरगीत' को काम-रस का हृदयस्पर्शी 'विवर्त' समझना चाहिए। यह रस परि-स्थितियों के आकस्मिक विपर्यय से इतना तरल, इतना निरीह, इतना सुकुमार बन गया है कि काम की स्थूल प्रेरणा दब गयी है और वह पुनीत प्रेम के नैर्मल्य से मंडित हो गया

1. सर का शृंगार-वर्णन' (लेखक-कृत), पृ० 324-28 (द्वि० खंड)

है। "गोपियों ने उद्धव के लिए मार्मिक उपालंभों की जो दावत परोसी है, वह साधारण काम का प्रकाश नहीं है क्योंकि साधारण काम में इस कोटि का नैतिक साहस आ ही नहीं सकता। वह अनन्य साधारण काम-द्वन्द्व का उद्भास है जो वियोग में निर्मल प्रेम-रस के आस्वाद से मंडित हो गया है।"

यह उल्लेखनीय है कि जिन तरुणियों ने "तन-रिपु काम" और "चित्त-रिपु लीला" द्वन्द्व में वियोग-तापित होने का उद्धव से निवेदन किया है, उन्हीं की बिरादरी की एक वियोग-विधुरा युवती अपनी अन्तःकामना का ज्ञापन यों कर रही है कि यदि उसकी तन-त्वचा को काट कर दुन्दुभी बनायी जाय, तो उससे निकलने वाले सप्त स्वरों में 'कान्ह', 'कान्ह' की ध्वनि गुंजित हो और जिस भूमि में उसके प्राण पड़ें, उसमें उगने वाले पेड़ के पत्र, फल तथा शाखाएँ 'हरि' का नाम रटा करें। कृष्ण-प्रिया की इस मधुर अभिलाषा में मांसल भूख के स्पन्दन स्पष्ट ही उसकी अन्तरात्मा के गहरे, सुकुमार संगोत में डूब गये हैं। अतएव, समझना यह चाहिए कि 'सूरसागर' के उमड़ते पुष्कल प्रवाह में 'काम-रस' तथा 'प्रेम-रस' दोनों एक हो गये हैं, उनको पृथक् करने वाली रेखाएँ मिट गयी हैं। सूर ने ऐसे ही काममय प्रेम और प्रेममय काम, ऐसे ही "अद्वैत" को "महारस" का नामधेय प्रदान किया है—

"महारस अंग-अंग पूरन, कहाँ घर, कहँ बाट।"

पवित्रता एवं उज्ज्वलता—इन चित्रणों में भक्त-कवि की तन्मयता इतनी गाढ़ी है कि उसका श्रृंगार-निरूपण एकान्त पूत, पवित्र तथा उज्ज्वल बन गया है। श्रृंगार के प्रगाढ़ प्रसंगों में भी सूर की गहरी तन्मयता वह रसायन सिद्ध होती है जिसमें आस्नात होकर, रति का गहन भोग भी पवित्र बन जाता है। राधा के अतीव मादक प्रतीत होने वाले रूपचित्रों में भी वासना की खनखनाहट नहीं सुनायी पड़ती है। यदि वह समृद्धिमयी सामग्री विद्यापति अथवा किसी रीतिकालीन कवि की मोनसी पकड़ में आयी होती तो इन चित्रों का आस्वाद एकदम बदल गया होता। राधा के नख-शिख-वर्णन में सूर जिस स्थिर धैर्य तथा तन्मयता से अंग-प्रत्यंग तथा उन्हें अलंकृत करने वाले आभूषणों की छवियों का प्रत्यंकन करते हैं, सहृदय भावक के लिए नये-नये रस की कंचन-कटोरियाँ सजाते हैं, वह विशुद्ध सांसारिक सरस्वती-पुत्रों की कारयित्री प्रतिभा को विशेषित नहीं करती।[1]

राधा के सुरत-शिथिल अथवा सुरत-क्लान्त रूपचित्रों के अंकन में भी सूर ने सौन्दर्य की बारीक-से-बारीक विच्छित्तियों का आकलन किया है।[2] सूर यदि राधा की सुरत-क्लान्ति के शोभा-तत्त्वों का वर्णन करके ही सन्तुष्ट हो जाता तो ये चित्र बिहारी की नायिका के "अहे दहेंड़ी जिनि धरे" वाले चित्र की कोटि से भिन्न नहीं होते। किन्तु यहाँ जब सूर की "स्वामिनी" बिथुरी अलकों, शिथिल कटि-डोरी तथा नखक्षत की छवियों से संयुक्त, मराल की स्निग्ध गति से, गोपाल-मिलन के लिए पुनः चल पड़ती है, तब चित्र का आस्वाद बदल जाता है और उस शिथिल सौन्दर्य के अन्तदर्शन से भक्त-कवि का अन्तरीण आनन्द छलक पड़ता है—

1. 'सूरसागर', 3228, 3229, 3230 आदि।
2. वही, 3274, 3284 आदि।

"बिथुरी अलक, सिथिल कटि-डोरी, नखछत-छरित मराल-गामिनी।
दुगुन सुरति सजि श्रीगुपाल भजि, प्रमुदित सूरजदास-स्वामिनी ॥"

अतः जहाँ आनन्द का उच्छलन है, वहाँ कैसी मृण्मयी वासना, कैसा पार्थिव कलुष-कलमष ?

इन चित्रों में सूर इतने तन्मय हो गये हैं कि उस अलौकिक तन्मयता के संस्पर्श के कारण, ये चित्र रुग्ण विलासिता की गन्ध से साफ-साफ बच गये हैं –

"बसौ मेरे नैननि में यह जोरी।
सुन्दर स्याम कमलदल-लोचन, संग बृषभानु-किसोरी ॥" (1825)

एक महत्त्व का तथ्य इस सन्दर्भ में अवधेय है। सामान्य श्रृंगार का कवि अपनी वर्ण्य वस्तु के साथ एकान्त भाव से रसमय नहीं होता, कारण कि वैसी अवस्था में वह लोक-सुलभ मनोभाव से, उसके सौन्दर्य अथवा माधुर्य का आस्वाद नहीं ले सकता। सुतराम्, वह अपने तथा अपने प्रतिपाद्य "अर्थ" के बीच एक मानसिक दूरी (साइक्कि डिस्टैंस) बनाये रहता है और इसी कारण, वह इन प्रणय-चित्रों में अपने को एकान्त भाव से भूल नहीं पाता। आत्मविस्मृति अथवा आत्म-विलोप सात्त्विक आनन्द के लिए परमावश्यक है और सामान्य श्रृंगार की दुन्दुभी बजाने वाले सामान्य कवि-जन की मानसी परिधि में न यह आत्म-विलय और न उसका परिणामभूत यह आनन्द ही समा सकता है। सखियों ने प्रमाणित किया था, राधा "गंगा-जल" के समान निर्मल है। सूर का श्रृंगार भी गंगा-जल की भाँति निर्मल एवं पवित्र है। उनका मन-रूपी सुग्गा अपने 'स्वामी-स्वामिनी' के सुख-सौन्दर्य की सम्पूर्ण छवि के अन्तर्दर्शन से ओतप्रोत हो गया है जिस कारण उनकी मधुर काव्य-विपंची से निकले हुए कोमल-कान्त, कमनीय निनादों का संसार एकदम पवित्र बन गया है—

"सूर प्रभु-छबि निरखि रीझे, मगन भयौ मन-कीर ॥"[1] (1786)

यह निरन्तर स्मरणीय है कि सूर-चित्रित प्रेम युग-युग का आचरित "पुरातन" प्रेम है, राधा-कृष्ण अथवा कृष्ण-गोपियों की यह केवल "नई भेंट" है—

"को माता, को पिता, बंधु को, यह तौं भेंट नई।" (2306)

यह "नई भेंट" ही लौकिक-अलौकिक रसों के संगम का रहस्य है।

———

1. 'सूर का श्रृंगार-वर्णन' (लेखक-कृत) का नवाँ अध्याय --विस्तृत जानकारी के लिए पठनीय।

अध्याय 15

सूर की मौलिक उपलब्धि

(क)

सहस्राब्दियों से रचित एवं विपुलीकृत भारतीय साहित्य में ऐकान्तिक नवीनता अथवा मौलिकता की कल्पना युक्तिसङ्गत नहीं प्रतीत होती। आचार्य आनन्दवर्धन ने इसी तथ्य को यों रेखांकित किया है : "वही पुराने पेड़ रहते हैं, लेकिन वसन्त के आगमन से उनमें नये पत्र, पुष्प आदि से समन्वित नया सौन्दर्य खिल जाता है। उसी प्रकार, वे ही पुराने अर्थ (विषय) जो पूर्व रचनाओं में देखे गये हैं, उद्भावनशील कवियों के काव्य में रस के अभिनिवेश से नवीन एवं मनोहर बन जाते हैं।"[1] वास्तव में, मानव-हृदय की जाति तो कालप्रवाह में मूलतः वही रहती है। साहित्य अथवा काव्य में "रस-परिग्रह" के कारण जब उसकी अभिव्यक्ति नये सौन्दर्य की सृष्टि करती है, तब मानव-हृदय नवीन संस्कारित स्वरूप में हमें आवर्जित करता है। काव्य का 'वसंत' मानव-हृदय का वसंत होता है। इस वसंत की शोभा-लक्ष्मी जिस रससिद्ध कवि की रचना में जिस समृद्धि के साथ अभिव्यक्त होती है, वह कवि-पुंगव उतना ही मौलिक माना जाता है। भक्त-प्रवर सूर ने अपने आराध्य श्रीकृष्ण की मधुर लीलाओं के गान में नारी-हृदय की उत्फुल्लता, उसकी द्रवणशीलता एवं प्रणयजन्य कार्पण्य-कातरता की जो रसाश्रयी अभिव्यक्ति की है, हृदय-रस को जो एक स्वतन्त्र मूल्य की इयत्ता प्रदान की है, वह उन्हें 'मौलिक' बना देता है।

(ख)

सूर-साहित्य के नवीन विद्वानों ने सूरदास को महाकवि सिद्ध करने के लिए 'सूरसागर' में प्रबन्धात्मकता की स्थापना की है और कदाचित् उसी उद्देश्य से उसमें गुम्फित भागवतेतर लीलाओं को सूर की मौलिक उद्भावना बताया है। किन्तु असलियत यह है कि न प्रबन्धात्मकता के कारण सूर 'महाकवि' हैं और न इन लीलाओं को उनकी मौलिकता का प्रमाण माना जा सकता है। पनघट, दानलीला, फागलीलाप्रभृति प्रसंग जो 'सूरसागर' में उपनिबद्ध हुए हैं, प्रायः समस्त भारतीय भाषाओं के कृष्ण-काव्य में उपलभ्य हैं। अतएव, इन प्रसंगों को सूर की स्वतन्त्र उद्भावना बताना तर्क-प्रतिष्ठित नहीं है। मैं समझता हूँ कि कृष्ण-कथा से लिपटे सभी प्रसंगों के बीज किसी-न-किसी पुराण अथवा पौराणिक रचना में अवश्य उपलब्ध हैं। आचार्य वल्लभ ने भी श्रीमद्भागवत से भिन्न लीलाओं अथवा व्याख्यानों को "पुराणान्तरभाषितम्"

---

1. दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः।" —ध्वन्यालोक, 4/4

बताकर, हमारी मान्यता के लिए पुष्ट आधार प्रदान किया है। ये प्रसंग लोक-जीवन से भी गृहीत समझे जा सकते हैं, किन्तु उनकी मूल पौराणिकता निर्विवाद बनी रहेगी। तथ्य यह है कि पुराण तथा लोक में कृष्ण-कथा के घटक वृत्तों का परस्पर विनिमय होता रहा है। परिणामतः उसके समृद्धिमान् स्वरूप के निर्माण में लोक ने पुराणों को और पुराणों ने लोक को प्रभावित किया है। कृष्ण-कथा की अनेक परम्पराएँ भारतीय साहित्य में वर्तमान रही हैं, यद्यपि श्रीमद्‌भागवत् का प्रदेय भक्त्यात्मक एवम् दार्शनिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण माने जाने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होगी।

सूर ने "भागवतानुसार" वर्णन करने की बात प्रायेण कही है। किन्तु, अधिकांश लीलाएँ अथवा वृत्त और भागवतोक्त कतिपय प्रसिद्ध प्रसंगों के कुछ विवरण सूर ने निश्चयमेव अन्य स्रोतों से ग्रहण किये हैं जो भागवत में उपलब्ध नहीं। उदाहरणतः, 'सूरसागर' का 'श्रीधर-अंग-भंग' प्रसंग भागवत में उल्लिखित नहीं हुआ है। किसी अन्य पुराण में भी यह मेरे देखने में अब तक नहीं आया है। लेकिन, संत चरणदास द्वारा वर्णित एक छोटे से प्रसंग में उल्लेख आया है कि पूतना-वध से भयभीत होकर कंस ने श्रीधर नामक एक दुष्ट ब्राह्मण को बाल-कृष्ण की हत्या के लिए भेजा जिसका वध श्रीकृष्ण ने कर दिया। इतना स्पष्ट है कि संत-काव्य में जो कृष्ण-कथा वर्णित है, उसका आधार पुराण ही हैं और चरणदास का प्रस्तुत प्रसंग भी किसी-न-किसी पौराणिक स्रोत में प्राप्तव्य है। अतः 'श्रीधर-अंग-भंग' वाला 'सूरसागर' में वर्णित प्रसंग भागवत में अनुपलब्ध होने पर भी, किसी अन्य पुराण में अवश्य वर्णित होगा और उसी परम्परा से सूर ने उसे गृहीत किया होगा। इसी प्रकार, कृष्ण-प्रियाओं की संख्या कभी सोलह हजार, कभी सोलह हजार आठ और कभी सोलह हजार एक सौ आठ बतायी गयी। निश्चय ही, इन सबका प्रमाण 'भागवत' में उपलब्ध नहीं है। वैसे ही कालिय-दमन-लीला में कमलों का बोझ कंस के पास पहुँचाये जाने का उल्लेख भी 'भागवत' में नहीं मिलता। जैसा ऊपर कहा है, 'श्रीमद्‌भागवत्' में वर्णित कृष्ण-लीलाओं का वर्णन तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़, गुजराती, मराठी, बंगला, उड़िया इत्यादि सभी प्रादेशिक भाषाओं में हुआ है। इनमें कई कवियों ने अपनी-अपनी अलग-अलग 'भागवतों' का प्रणयन किया है। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इन भागवतों में व्यासकृत 'श्रीमद्‌भागवत्' के अतिरिक्त अन्यान्य पुराणों, यथा—पद्म, ब्रह्मवैवर्त्त इत्यादि, का भी अवलम्ब लिया गया है। भारतीय साहित्य में कृष्ण-काव्य की विपुल राशि सुरक्षित है जिसमें एक से अधिक भागवततेर परम्पराएँ उपलब्ध हैं। मराठी में भ्रमरगीत का ही प्रसिद्ध वृत्तान्त वर्णित नहीं हुआ है।

विवक्षा यह है कि 'सूरसागर' में वर्णित भागवत-भिन्न लीलाओं वा प्रसंगों वा प्रसिद्ध लीलाओं के विवरणों को सूर की मौलिक उद्‌भावना बताना युक्तिसंगत नहीं होगा। जैसा अभी कहा है, सूर मौलिक इस अर्थ में हैं कि उन्होंने हृदय की मधुर वृत्तियों एवं आसक्तियों का जिस अविचल आस्था और अनुपम सहजता एवं गहराई के साथ उन्मीलन किया है, उससे एक वास्तविक मूल्य तथा एक जीवन-दृष्टि का अनायास उत्थापन होता है।

इस सन्दर्भ में अवधातव्य यह है कि सूर-तुलसी जैसे भागवत कवियों की जीवन-दृष्टि का उपलालन उनकी दार्शनिक एवं साम्प्रदायिक मान्यताओं की छाया में ही हुआ है। तुलसी के आराध्य यदि "मर्यादा-पुरुषोत्तम" हैं, तो सूर के आराध्य "लीला-पुरुषोत्तम" हैं। भारतीय दर्शन-चिन्ता ने ब्रह्म को मानवी संस्कारों से विभूषित करते

समय, जीवन-मूल्यों के रूप में मर्यादा एवं माधुर्य का युग्म उपस्थित किया है जिनकी मध्यवर्ती भूमि में मनुष्य की जीवन-जाह्नवी आदिकाल से प्रवाहित होली चली आयी है। हमारी विशेषता यह है कि हमने इन जुड़वे मूल्यों अथवा सहचरी जीवन-दृष्टियों को परात्पर, नैरपेक्ष्य सत्य के साथ जोड़कर, इन्हें एकान्त भौतिकता से बचा लिया है। सूर ने माधुर्य को निखिल रसामृतमूर्ति, सृष्टि के सनातन कारण श्रीकृष्ण का पूर्ण स्वरूप तथा चरित्र प्रतिपादित कर, वर्तमान मुमूर्षु मानवता के लिए एक विश्वसनीय, मंगलमय सन्देश प्रदान किया है जो प्रत्येक युग में, प्रत्येक मानव-कुल के समीप अमोघ वरदान सिद्ध हो सकता है। यहाँ साम्प्रतिक एवं शाश्वतिक, विभागीय एवं सार्वभौम की विभाजक रेखाएँ मिट जाती हैं।

'आदि निरंजन निराकार' एवं 'अज अविनाशी' भगवान् की भक्तवत्सलता को उत्कीर्ण करना ही सूर का मूल प्रयोजन रहा है। अतएव, रस की मधुर भंगिमा में 'नटवत करत कला सकल, बूझै विरला कोइ'[1] का कथन करते हुए वे दार्शनिक निरूपण का लोभ संवरण कर जाते हैं जो उन्हें अपने सहयोगी भक्त-प्रवर तुलसी से पृथक् कर देता है। सगुण भक्ति की परिधि में रहते हुए, दोनों लोक-जीवन की कल्याण-कामना से अनुप्राणित हैं और दोनों को लोक-जीवन का चुम्बक अपनी ओर 'विषयवारि' में डुबकी लगाने के लिए नहीं, अपितु 'भवजल' में डूबने से उसे बचाने के लिए खींचता है। 'हरि-रस' के पिपासु दोनों ही हैं। परन्तु, लोकजीवन तथा हरि-रस की उनकी पहचान भिन्न-भिन्न हो गयी है। सुतराम्, तुलसी का साहित्य जहाँ मैदानी समतल में बहने वाली निसर्गोज्ज्वल सुरसरि है, वहाँ सूर का साहित्य पर्वतीय निर्झर से फूटने वाली, कल-कल-निनादमयी ललित स्रोतस्विनी है जिसमें हृदय-रस की कोमल, मृदुल ऊर्म्मियों तथा तरंगों की हृदयावर्जक 'मिश्रित ध्वनि-माधुरी' उत्पन्न हो गयी है।[2]

(ग)

भारतीय साहित्य में सौन्दर्य तथा प्रेम के वर्णन की पुरानी, पुष्कल परम्परा रही है। लेकिन, एकान्त-भाव से जैसा समृद्ध, समर्पणशील वर्णन इनका सूर ने किया है, वैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। "कवि-कुल-चक्र-चूड़ामणि" कालिदास के मधुर 'मेघदूत' में भी विप्रलम्भ-रस की मर्यादा "प्रेमराशि-भवन्ति"[3] के निष्कर्ष में ही सिमट गयी है। "मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्हीं" के कथन में तुलसी ने सौन्दर्य के विक्षोभकारिणी सामर्थ्य का ही ध्वनन किया है। छायावादी काव्य में सौन्दर्य तथा प्रेम के ललित चित्रों की आकर्षक चित्रशाला अवतीर्ण हो गयी है। किन्तु, ये चित्र कल्पना के लालित्य से विस्मयोत्पादक बने हैं। चाहे पन्त, चाहे प्रसाद हों, उन सभी ने सौन्दर्य-निरूपण में अनुभूति की कणिका को कल्पना के इन्द्रधनुषीय रंगों में डुबोकर, ऐसी रूप-प्रतिमाएँ सृष्ट की हैं

---

1. सूरसागर, 379
2. सूरसागर, 1798
3. "स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा—
   दिष्टे वस्तुन्युपचितरसा प्रेमराशिभवन्ति ॥" —उत्तरमेघ 55

जिनकी पहचान के लिए सहज मानसी नेत्र व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं। छायावाद की विस्मय-सुन्दरी श्रद्धा का सौन्दर्य भी अनुभूति से बढ़कर कल्पना की उपज है। 'आँसू' आदि रचनाओं में प्राप्य सौन्दर्यानुभूतियों का मांसल सौरभ इतना प्रत्यक्ष हो जाता है कि वहाँ कवि की निजी अतृप्त वासना की गन्ध ही अधिक घनीभूत बन जाती है। शायद, इसी कारण, वह पूरी तरह खुल भी नहीं पाता। महादेवी के गीतों में सुकुमार प्राणों की तड़पन की ध्वनियों ने आलोचकों को आवर्जित किया है। किन्तु, महादेवी के निजी साक्ष्य पर ही "बुद्धि" एवं "अनुभूति" के संकल्पित सामंजस्य को उद्दिष्ट कर इन गीतों का प्रणयन हुआ।[1] इस कारण, इनमें 'हृदय-रस' का सहज पिघलाव नहीं, 'कल्पना' की स्निग्ध तरलता का मानसी विलास है। नवीनतम 'कनुप्रिया' में भी जिस मनोविज्ञान का अवतरण हुआ है, वह मानसिक 'सौफिस्टिकेशन' से अतिरंजित है जो हमें अपने विस्मयावह वैलक्षण्य से चमत्कृत अवश्य करता है, किन्तु हमारे मर्मदेश को शायद छेदता नहीं है। वहाँ नये कवि की कल्पना ही अपना मृदुल-स्निग्ध स्वरूप प्रस्तुत करती है जिसे देखकर, वास्तवी अनुभूति के "अव्याज-मनोहर" स्फुलिंग का प्रतिभास नहीं मिलता। सुतराम्, 'सूरसागर' के सहज-समृद्ध माधुर्य-चित्रों की तुलना में आधुनिक उपलब्धियाँ फीकी पड़ जाती हैं। वत्सल-रति का चित्रण जो सूर ने किया है, वह तो सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। वस्तुतः जीवन के ताने-बाने में वात्सल्यमूलक माधुर्य का भी अपना निजी महत्त्व है। जब हम सूर की मधुर जीवन-दृष्टि का कथन करते हैं, तब निश्चित ही वत्सल-भाव की माधुरी भी हमें अभिप्रेत है।

निष्कर्षतः, 'सूरसागर' में इस समन्वित माधुर्यवादी दृष्टि का जो सरस्वत् निरूपण हुआ है, वही सूर की मौलिक उपलब्धि है।

(घ)

जैसा पहले कहा है, सूर ने अलंकारों का उपयोग अपने वक्तव्य के सम्यक् सम्प्रेषण के लिए ही किया है। कोरा वाग्विलास उन्हें अभीष्ट नहीं है। प्रत्येक अलंकार के साथ कोई-न-कोई सौन्दर्य-छवि अवश्य अनुस्यूत दृष्टिगोचर होती है और उनके आन्तरिक "रसावेश" का संस्पर्श उसके साथ लिपटा होता है।

तथापि, कुछ ऐसे पद भी प्राप्त होते हैं जिनमें सूर की वाणी शाब्दिक क्रीड़ा अथवा कल्पना के कौतुकमय चमत्कार की ओर प्रवृत्त हो गयी है। 'सूरसागर' के बीच-बीच में उपलब्ध लगभग एक सैकड़ा "कूट" शाब्दिक क्रीड़ाशीलता के दृष्टांत हैं। 'अप्रतुत-प्रशंसा' वाले दो उद्धरण नीचे दिये हैं जिनमें ऊहात्मक चमत्कार-प्रवणता के दर्शन होते हैं—

"मन राखन को बेनु लिये कर, मृग थाके, उडुपति न चरै।
अति आतुर ह्वै सिंह लिख्यौ कर, जेहिं भामिनी का करुन टरै॥"

—राधा ने मन के बहलाने के लिए, किसी प्रकार रात बिताने के लिए, वीणा हाथ में ले ली। वीणा या वेणु के स्वरों से मुग्ध होकर चन्द्रमा के रथ का हिरन रुक गया जिससे रात और भी बड़ी हो गयी। इस पर आतुर होकर वह सिंह का चित्र बनाने लगी जिससे डर कर हिरन भाग जाय। जायसी ने भी 'पद्मावत' में यह कथन किया है—

1. 'काव्य-चिन्ता' (लेखक-कृत), पृ० 120-25

"गहे बीन मकु रैनि बिहाई। ससि बाहन तहँ रहै ओनाई।।
पुनि धनि सिंह उरेहै लागै। ऐसेहि बिथा रैनि सब जागै।।"'

स्पष्ट है कि ऐसे कथनों में ऊहा के चमत्कार की ही सृष्टि होती है।

"कर धनु लै किन चंदहिं मारि।
तू हरुवाय जाय मंदिर चढ़ि ससि संमुख दर्पन बिस्तारि।
याही भाँति बुलाय, मुकुर महि अति बल खंड खंड करि डारि।।"

—विरहिणी गोपी सखी से निवेदन करती है कि वह छत पर जाकर चन्द्रमा को दर्पण में बुला ले और तब, उसे बलपूर्वक तोड़कर खंड-खंड कर डाले। इसे विरहिणी की 'उन्माद' दशा का चित्र कहा जा सकता है, फिर भी यहाँ कल्पना का लालित्य नहीं, नीरस चमत्कार-प्रवणता दिखलायी पड़ती है। ऐसी ही उक्तियों ने आ० शुक्ल को यह टिप्पणी करने का अवसर प्रदान किया है—"सूर की प्रकृति कुछ क्रीड़ाशील थी। उन्हें कुछ खेल-तमाशे का भी शौक था। लीला-पुरुषोत्तम के उपासक कवि में यह विशेषता होनी ही चाहिए। तुलसी के गंभीर मानस में इस प्रवृत्ति का आभास नहीं मिलता।" ('त्रिवेणी', 2028 वि०, पृ० 72)

कहीं-कहीं सूर ने ऐसी उत्प्रेक्षाएँ की हैं जिनसे सहृदयों के हृदय को आघात पहुँचता है। एक उदाहरण देखिये जिसमें सूर का लालित्य-बोध फारसी शायरी के रंग से रंजित दृष्टिगोचर होता है—

"अवली अलक, तिलक केसरि कौ, ता बिच सेंदुर-बिंदु बनायौ।
मानौ पून्यौ चंद्र खेत चढ़ि, लरि स्वरभानु सौं घायल आयौ।।" (3229)

—राधा के केशों का कलाप सजा है। माथे पर केसर का काला तिलक लगा हुआ है। उस तिलक के बीच में सेन्दुर की लाल बिन्दी शोभा दे रही है। इस मुखच्छवि को व्यंजित करने के लिए सूर कल्पना करते हैं: वह शोभा ऐसी अवभासित हो रही है, मानो पूर्णिमा का चन्द्रमा समर-भूमि में राहु से युद्ध करते-करते घायल हो गया है (स्वरभानु =राहु)। जैसा हमने अभी पहले उद्धृत पद में देखा है, मुख-चन्द्र और "रिपु-राहु" का प्रतीक सूर का प्रिय बिम्ब है।

अब इस 'उत्प्रेक्षा' पर तनिक विचार करें। राधा का चमकता मुखमण्डल पूर्णिमा का चन्द्रमा है और काली अलकों की कतार राहु है। केसर का तिलक चन्द्रमा में दीखने वाला काला धब्बा (कलंक) है। उस काले तिलक में राधा ने सेन्दुर की लाल बिन्दी लगा ली है। अब उस मुखच्छवि की व्यंजना के लिए सूर यह कल्पना करते हैं कि चन्द्रमा (मुख) तथा राहु (केश-गुच्छ) में परम्परागत शत्रुता के कारण युद्ध हुआ है जिसमें चन्द्रमा घायल हो गया है जिसके फलस्वरूप उसके बिम्ब में रक्त की मोटी बूँद निकल आयी है। सेन्दुर की लाल बिन्दी के लिए मुखचन्द्र के "घायल" होने तथा उसके कारण खून निकल आने की उत्प्रेक्षा सूर को करनी पड़ी। राहु के चन्द्रमा पर प्रहार करने तक तो सुरुचि पर आघात नहीं लगता, किन्तु जब खून निकलने की व्यंजना होगी, तब सहृदय का चित्त तिलमिला जायेगा। 'माधुर्य-रति' की विषयालंबन तरुणी के रूप-वर्णन में ऐसी खून-खराबी' सर्वथा अनुचित है, भारतीय परम्परा के प्रतिकूल है। ऐसा

अनौचित्य संबद्ध पद की मोहक "शय्या" रचना के आस्वादन में कच्चे सूरन की किन-किनाहट उत्पन्न करता है। सूर यह भूल ही गये कि उन्होंने राधा को रूप-सरोवर में, अभी-अभी, स्नान कराया है और तब भी, वह रक्त-विन्दु धुल नहीं सका—

"आजु राधिका रूप अन्हायौ।"

बड़े-बड़े कुशल कवियों की सरस्वती भी रचना के दौरान शिथिल हो गयी है। विश्व-विश्रुत महाकवि कालिदास की ललित, रसपेशल कविता-कामिनी की सजावट में भी दोषों की खोज हुई है। अतएव, यदि दिव्यचक्षु सूरदास की कल्पना कभी-कभी अपने कोमल सुकुमार स्वभाव से स्खलित हो गयी हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

प्रस्तुत संदर्भ में, सूर की एक अत्यन्त प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय 'उत्प्रेक्षा' की चर्चा वांछनीय प्रतीत होती है। संबद्ध पद यों है—

"किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत।
मनिमय कनक नंद कैं आँगन, बिम्ब पकरिबैं धावत॥
कबहुँ निरखि हरि आपु छाँह कौं, कर सौं पकरन चाहत।
किलकि हँसत राजत द्वै दतियाँ, पुनि पुनि तिहिं अवगाहत॥
कनक-भूमि पर कर-पग-छाया, यह उपमा इक राजति।
करि-करि प्रतिपद प्रतिमनि बसुधा, कमल-बैठकी साजति॥
बाल-दसा-सुख निरखि जसोदा, पुनि-पुनि नंद बुलावति।
अँचरा तर लै ढाँकि, सूर के प्रभु कौ दूध पियावति॥" (728)

—किलकारी मारते शिशु कृष्ण के नंद के मणिमय, स्वर्णनिर्मित आँगन में घुटनों के बल चलने का चित्रण है। स्वर्णजटित आँगन के तल में उनके हाथों तथा चरणों का प्रतिबिम्ब पड़ता है। जैसे-जैसे वे इतस्ततः चलते हैं, वैसे वैसे इन प्रतिबिम्बों की पंक्ति उदित होती जाती है। उस गतिमयी शोभा को संवेद्य बनाने के लिए सूर ने "करि-करि प्रतिपद प्रतिमनि बसुधा कमल बैठकी साजति" की उत्प्रेक्षा की है। इसका सीधा स्पष्ट अर्थ है—"ऐसा प्रतीत होता है, जैसे पृथ्वी उन बिम्बों की श्रेणी बनाकर, बाल कृष्ण के लिए कमल का आसन सजा रही है।" उपमा यों खोली जा सकती है: कृष्ण के हाथ तथा पैर कमल के समान सुन्दर हैं; अतएव, उनके प्रतिबिम्ब भी "कमलवत्" प्रतिभासित होंगे। इन प्रतिबिम्बों की माला तैयार होती जाती है, जैसे-जैसे कृष्ण घुटनों के बल आँगन में चलते हैं। प्रतिबिम्बों की यह पंक्ति कमल का आसन बनती जा रही है जिसे कनकमयी वसुधा कृष्ण के सम्मान में सजाने लगती है। कल्पना दुरारूढ़ है। कमलवत् हाथों तथा चरणों की छायाएँ अथवा प्रतिबिम्ब भी कमल-सदृश होंगे यह कल्पना वास्तविकता से एकदम कट गयी है, यद्यपि हम स्वयं चाहते हैं कि ऐसा ही होता क्योंकि तब, कवि के आराध्य के सम्मान के लिए पृथ्वी भी कमलों का आसन सचमुच सजा देती। किन्तु, कल्पना की दुरारूढ़ता के कारण यहाँ 'नेयार्थत्व" एवम् "क्लिष्टत्व" दोष उत्पन्न हो गये हैं। टीकाकारों ने "प्रतिपद" का अर्थ 'प्रत्येक चरण', "प्रतिमनि" का अर्थ 'प्रत्येक मणि" और "करि-करि" का अर्थ 'प्रत्येक हाथ' किया है। यह स्पष्ट ही गलत है। "प्रतिपद" का ठीक अर्थ है 'श्रेणी' व. 'कतार', "प्रतिमनि" का सही अर्थ है 'बिम्ब', और "करि-करि" यहाँ पूर्वकालिक किया है। यदि "करि-करि" का अभीष्टार्थ 'प्रत्येक

हाथ' होता, तो कवि आसानी से "प्रतिकर" का प्रयोग कर सकता था जो "प्रतिपद" और "प्रतिमनि" के मेल में पड़ता। पंडितों ने, लगता है, इन पदों के सही अर्थबोध के लिए कोश का अवलोकन नहीं किया। अस्तु, जहाँ तक कमलवत् कर-चरणों के बिम्बों के कमलवत् होने की कल्पना है,सभी ने इसे स्वीकार किया है। हमारी आपत्ति यहाँ है कि वास्तविकता से पूर्णतः वैच्छिन्न होने के कारण, उपर्युक्त "क्लिष्टत्व" एवम् "नेयार्थत्व", दोनों दोष[1] इस उत्प्रेक्षण में समा गये हैं। सूर की लालित्य-लोभी कल्पना यहाँ नीरस चमत्कार का शील ग्रहण कर गयी है।

(ङ)

इस प्रसंग में आचार्य शुक्ल की कतिपय टिप्पणियों की ओर हमारा ध्यान सहसा आकृष्ट होता है। रीति-कवियों की चमत्कार-प्रवण अलंकार-प्रियता की आलोचना करते हुए, उन्होंने सूर को भी आड़े हाथ लिया है। वे कहते हैं—"कोई एक वस्तु सामने आई कि उपमा के पीछे परेशान। श्याम के 'छबीले मुख' का प्रसंग आया। बस, अन्धे सूरदास चारों ओर उपमा टटोल रहे हैं—

"बलि-बलि जाउँ छबीले मुख की, या पटतर को-को है ?
या बानक उपमा दीबे को, सुकबि कहा टकटो है ?"

आ० शुक्ल ने, अपनी सहज-सिद्ध रसज्ञता को झुठलाते हुए, जो यह टिप्पणी की है, वह एक सचाई का गलत ढंग से आकलन है। "अन्धे सूरदास" के "उपमा टटोलने" के कथन में उपहासात्मक व्यंग्य साफ झलकता है। वस्तुतः, सूर का भक्त-कवि अपने आराध्य बाल-कृष्ण के मुख-सौन्दर्य पर मनसा इतना रीझ गया है कि उसका भीतरी उल्लास उक्त पंक्तियों में छलक गया है। आखिर, सूर का "वर्ण्य" यदि कोई "मानुषी" चरित्र वाला नायक होता, तो शायद उपमाओं की वह खोज होती ही नहीं। शुक्लजी के सामने हिन्दी-काव्य का पूरा परिदृश्य वर्तमान था। तब, क्या सूरदास को छोड़कर, उन्हें कोई अन्य ऐसा कवि दिखायी पड़ा जिसने अपने वर्ण्य पात्र या नायक के रूप-सौन्दर्य के विभावन के लिए, इतनी सचाई एवम् तल्लीनता के साथ, उपमाओं की खोज की हो ? हम समझते हैं, इसका उत्तर प्रतिषेधात्मक ही होगा। तब, क्या यह मानना युक्तिसंगत नहीं है कि उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं के निबंधन में सूर की मानसी अनुभूति अथवा "प्रातिभ-ज्ञान"-मूलक सौन्दर्य-दर्शन का वैशिष्ट्य ही कारणभूत बना है ?

आ० शुक्ल ने उसी सिलसिले में एक अन्य पद की भी आलोचना की है जो निम्न है—

"हरि-कर राजत माखन-रोटी।
मनु बारिज ससि-बैर जानि जिय, गह्यौ सुधांसुहि धोटी ।।
मेली सजि मुख-अंबुज भीतर, उपजी उपमा मोटी।
मनु बराह भूधर-सह पुहुमी, धरी दसन की कोटी ।।

---

1. "नेयार्थत्वं रूढ़ि-प्रयोजनाभावादशक्तिकृतं लक्ष्यार्थ-प्रकाशनम्।"
"क्लिष्टत्वं अर्थप्रतीतेर्व्यवहितत्वम्।"
—'साहित्यदर्पण', सप्तम परिच्छेद

नगन-गात मुसुकात तात ढिग, नृत्य करत गहि चोटी।
सूरज प्रभु की लहै जु जूठनि, लारनि ललित लपोटी।।"

शुक्लजी ने केवल निम्न दो पंक्तियाँ लगातार ली हैं—

"मनों बारिज ससि-बैर जानि जिय, गह्यो सुधांसुहि धोटी।
मनों बराह भूधर-सह पृथिवी धरी, दसनन की कोटी।"

और यह टिप्पणी की है—"एक छोटी-सी रोटी की हकीकत कितनी, उस पर पहाड़ के सहित जमीन का बोझा लाकर रख दिया! उपमाएँ यदि न मिलीं, तो बस 'शेष, शारदा' पर फिरे, उनकी इज्जत लेने पर उतारू!"[1]

प्रस्तुत टिप्पणी के विषय में तो पहली बात यही लक्षणीय है कि शुक्ल जी ने उक्त दो पंक्तियों के बीच में आने वाली पंक्ति, "मेली सजि मुख-अंबुज भीतर", कैसे, क्यों छोड़ दी? क्या उन्हें इस प्रकार का पाठ नहीं मिला था अथवा केवल सूर का उपहास करने के लिए ही ऐसा किया? यदि यह "मेली सजि" वाली पंक्ति ली जाय, तो संभवतः शुक्लजी के उपहास का औचित्य प्रश्न का विषय बन जायेगा। जब बाल-कृष्ण कमल-तुल्य मुख में रोटी समेट कर रखते हैं, तभी यह "मोटी उपमा" भक्त-कवि के भीतर उपजती है: "मानो बाराह ने पहाड़ के साथ पृथ्वी को अपने दाँतों की नोंक पर रख लिया हो।"

सूर पहले ही सावधान कर देते हैं कि उन्हें एक "मोटी", अर्थात् स्थूल उपमा मिल गयी है और बाराह भगवान् के समूची पृथ्वी को, जिसके ऊपर पहाड़ भी स्थित है, अपने दाँतों के अग्र भाग पर उठा लेने का दृश्य उनके सामने छलक पड़ता है। यह सही है कि रोटी के लिए ही पृथ्वी का उपमान आया है और उपमेय-उपमान के बीच 'सादृश्य' अथवा 'साधर्म्य' सम्बन्ध नहीं है। किन्तु, सूर यहाँ ऐसे सम्बन्ध की भावना नहीं कर रहे हैं। उनका विवक्षार्थ केवल है: बाल-कृष्ण का अत्यन्त सहज भाव से माखन-लगी रोटी को अपने मुख के भीतर डाल देना। और, इस सहजता की भावना कराने के लिए भगवान् बाराह के पृथ्वी-धारण की घटना उनके सम्मुख अनायास उपस्थित हो गयी है। आप कह सकते हैं कि इस सहजता का बोध कराने के लिए अन्य उपमाएँ या दृष्टान्त मिल सकते थे। तर्क सही होगा। लेकिन, स्मर्तव्य यह है कि भक्त-कवि के आराध्य और बाराह भगवान् में जो प्रत्यक्ष गोत्रीय सम्बन्ध है, उससे दन्ताग्र पर पृथ्वी-धारण का तथ्य सूर को निसर्गतः स्मरण हो आया है। उनके लिए इसमें किसी प्रकार की असंगति है ही नहीं।

"शेष, शारदा पर फिरने" वाली टिप्पणी भी इसी प्रकार उपहास-भाव से अनुप्राणित है। हमें मालूम है कि समूची भारतीय परम्परा में शेष-शारदा की असमर्थता वाला दृष्टान्त रूढ़ हो गया है और उसमें सहृदय-समाज को किसी कृत्रिमता का बोध नहीं होता। तुलसी ने भी अतिशयोक्ति का सहारा लिया है। **किंबहुना, वैदिक ऋषि ने भी तो ईश्वर के गुणानुवाद में शारदा को असमर्थ बना दिया है—"× × × × × लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकाले, तदपि तव गुणानाम् ईश पारं न जाति।"**

---

1. 'चिन्तामणि', दूसरा भाग, सं० 2002, पृ० 25-26

प्रसिद्ध इटैलियन सौन्दर्यशास्त्री बेनेडेटो क्रोचे की अभिधा में, जो बिम्ब सूर की "अन्तर्ज्ञानात्मक अभिव्यक्ति" (इण्ट्यूशन-एक्सप्रेशन) का अविच्छेद्य अंग बन गया है, उसकी शब्दमयी बाह्य अभिव्यक्ति में कृत्रिमता या कोरे चमत्कार का दर्शन करना अनुचित एवम् युक्तिविहीन है। अनुभूति की सच्चाई ही सूर की वाङ्मयी अभिव्यक्तियों में उछल पड़ी है। "जिस समय सूर का एकतारा बजने लगता है, सहस्रतंत्री वाद्य को भी हम भूल जाते हैं और वह हमें अनिर्वचनीय सौन्दर्य के सागर में निमज्जित कर देता है"—एक समीक्षक का यह कथन हमारे 'रस-कवि" के आन्तर सौन्दर्य-दर्शन की निर्व्याज ईमानदारी को हमारे मानसी आलोक-केन्द्र में स्थापित कर देता है।

हम नहीं कहते कि सूर का औपम्य-विधान एकदम निर्दोष है, किन्तु आ० शुक्ल ने उन पर यहाँ जो कटु प्रहार किया है, वह कथमपि अनुमोदनीय नहीं माना जायेगा। कहाँ काल्पनिक बेलबूटों की नक्काशी करने वाले, सामंतीय विलास की शहनाई फूँकने में कृतकाम रीति-कवियों की चमकदार बिरादरी और कहाँ प्रभु की "जूठनियाँ" माँगने वाले लोकैषणा से कोसों दूर, सहज-हृदय सूरदास !!

(च)

कुल मिलाकर, सूर की अलंकार-योजना कथ्य वस्तु वा अर्थ की ललित रसपेशल अभिव्यंजना के उद्देश्य से ही शृंखलित है। अनेक सन्दर्भों में वे सौन्दर्य के द्रष्टा-मात्र से आगे बढ़कर, सौन्दर्य के स्रष्टा भी बन गये हैं और इस सौन्दर्य-सृष्टि में उनकी अलंकार-योजना सहायक सिद्ध हुई है। आनंदवर्द्धन ने कहा है कि रससिद्ध कवियों को अलंकारों के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता। प्रतिपाद्य अर्थ की कठिनाइयों का सामना करते हुए भी, प्रतिभाशाली कवियों के समक्ष अलंकार, मानो परस्पर स्पर्धा करते हुए से, "हम पहले", "हम पहले" कहते हुए—स्वयमेव गिरते पड़ते हैं—"अलङ्कारान्तराणि हि निरूप्यमाण-दुर्घटान्यपि रससमोहितचेतसः प्रतिभानवतः कवेः अहंपूर्विकया परात्पतन्ति।" (ध्वन्यालोक')

सूर ऐसे ही, रस समाहित चित्त वाले, सिद्धसरस्वतीक कविराज हैं जो अलंकारों को रसाभिव्यक्ति में कविता का बहिरंग धर्म नहीं मानते। यतः सम्पूर्ण 'सूरसागर' रसराट्, निखिल माधुर्य के अधिपति, नटनागर श्रीकृष्ण की "रास-लीलाओं" का "रस-रीति" से गान करता है, अतः उसमें अलंकारों का सहज लालित्य उपप्लावित हो गया है।[1]

---

1. सूर द्वारा प्रयुक्त अलंकारों की सम्यक् जानकारी के लिए पाठकों को लेखक-कृत 'सूरसागर-रत्नावली' का अवलोकन उपयोगी होगा जिसमें 'सूरसागर' के 500 उत्कृष्ट पदों का संकलन तथा अलंकार-निर्देशसहित उनकी टीका दी गयी है।

अध्याय 16

सूर की प्रासंगिकता

(क)

ऐसा प्रतीत होता है कि 'प्रासंगिकता' (जो अंग्रेजी के 'रेलीवैंस' का अनुवाद बन गया है) साहित्येतर निकष है और महाकवियों के सन्दर्भ में यह सवाल उठाना युक्तिसंगत नहीं है। लेकिन, विचारपूर्वक देखा जाय तो प्रतीत होगा कि इन चिरस्मरणीय कवियों की कृतियों का प्रत्येक युग में अपना महत्त्व है, युग-सन्दर्भ बदलते रहने के बाद भी वे किसी-न-किसी अर्थ में मूल्यवान् बन जाती हैं। वास्तव में, जो सन्दर्भ बदलते हैं, वे मूलतः 'वस्तुगत' रहते हैं, 'तत्त्वगत' नहीं। अतएव, महान् कवि प्रत्येक युग में 'प्रासंगिक' बने रहते हैं क्योंकि मनुष्य की मौलिक वृत्तियों से उनकी रचनाएँ अविच्छिन्न भाव से जुड़ी होती हैं।

(ख)

प्रस्तुत प्रश्न है सूर की वर्तमान संदर्भ में प्रासंगिकता का। 'ऋत' के परिपोष के लिए परम्परागत भारतीय प्रतिभा की प्रतिबद्धता के अपवाद सूर भी नहीं हैं। शुद्धाद्वैतीय मान्यतानुसार, वह ब्रह्म के साथ जगत् को भी सत्य मानते हैं और जीव में जिस आनन्दांश का विलोप हो गया है, उसे वह पुनः पकड़ना तथा प्रस्थापित करना चाहते हैं। वर्तमान राष्ट्रीय ही नहीं, वैश्विक सन्दर्भ में भी सूर का यह अवदान उपेक्षणीय नहीं है। आज अधिकांशतः पश्चिम के प्रभाव से, अस्तित्ववादी दर्शन की चपेट में, हमारी सर्जनात्मक प्रतिभा के फूल भी एकाकीपन, अजनबीपन तथा अतर्क्य निरर्थकता (ऐब्सर्ड) की तप्त वायु में झुलसे प्रतीत हो रहे हैं। पश्चिम के नवीन जीवन-दर्शन की फैशन में नकल करते-करते, ये प्रतिभाएँ बाद में सचमुच उसे 'जीने' भी लगती हैं, नकल में गृहीत या उधार ली गयी दृष्टि उनके अन्तर्मानस की सहज झुकान व अपरिहार्य अंश बन जाती है। नवीन भावबोध के नाम पर 'आधे-अधूरे' तथा 'कर्फ्यू' जैसी रचनाएँ प्रासंगिकता की असली कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं, क्योंकि प्रासंगिकता एक विधेयात्मक, 'पॉजिटिव', रचनात्मक दृष्टि है जो मनुष्य का सम्पूर्ण सौन्दर्य तथा गौरव उसे लौटाने का प्रयत्न करती है। इस दृष्टि-विन्दु से, सूर का काव्य आज सर्वथा प्रासंगिक एवं महत्वपूर्ण माना जायेगा।

आनन्द-तत्व की नव-प्रतिष्ठा के लिए सूर ने प्रेम को चरम मूल्य के रूप में गृहीत किया है। सम्पूर्ण 'सूरसागर' (मुख्यतः दशम स्कन्ध) प्रेम के परिप्लाव का अक्षण्य महासागर है। सूर ने प्रेम को एक हल्की वृत्ति के रूप में प्रतिष्ठित नहीं किया है, प्रत्युत संसार-चक्र के परिचालन का उसे प्रधान आधार निरूपित किया है। "बिरस रस किहि मंत्र कहिए, क्यों चलै संसार"—रस, अर्थात् प्रेम के अभाव में विश्व-गति अवरुद्ध हो जायेगी, ऐसा सूर मानते हैं। ज्ञान एवं योग के उपदेष्टा उद्धव ब्रज में "प्रेम की भीड़"

से अभिभूत हो गये हैं। 'योगियों' तथा 'ब्रह्मचारियों' के वर्तमान परिप्रेक्ष्य में व्रत, ध्यान आदि के समर्थ पोषक उद्धव का यह आध्यात्मिक रूपान्तरण एक चुनौती के रूप में ग्रहणीय है।

सूर की मुरली का प्रतीकात्मक महत्त्व है। ग्वाल-सखा बारम्बार कृष्ण से अनुरोध करते हैं—"छबीले ! मुरली नैंकु बजाउ ।" प्रेम-रसायन को उजागर करने के लिए 'सूरसागर' में मुरली का अवतरण हुआ है। टैंकों की गड़गड़ाहट, रेडियो के निष्प्राण ध्वनि-विस्तारण, 'जाज़-पाप' के निरर्थक तुमुल कोलाहल तथा राजनीतिक विधानमण्डलों में मचने वाले हुड़दंग की पीठिका में अद्यतन मनुष्य इसी 'मुरली-ध्वनि' के लिए भीतर से तड़पता है, यह भिन्न बात है कि उसे इसका सामान्यतया अनुभव नहीं होता।

सूर के नायक, मुरली के जादूगर, कृष्ण 'जनशक्ति' के प्रतीक हैं। वह स्वयं शक्ति क अक्षय भंडार हैं। किन्तु, वह शक्ति सामान्य सत्ताधीशों की लोकोत्पीड़क शक्ति नहीं है। उल्टे वह लोकानुरंजनकारिणी 'आह्लादिनी' शक्ति है जिसका स्वभाव लोक में आनन्द का वितरण करना है। अधिनायकवादी आततायी कंस का दमन इसी प्रमोदधर्मी शक्ति की अभिव्यक्ति है। यह आह्लादिनी शक्ति जनसमुदाय में आत्मविश्वास जागृत करने की ओर प्रवणयित है। जनजीवन को रूढ़िग्रस्त परम्परा से मुक्ति दिलाना इसका स्वभाव है। इसी कारण, युग-युगों से चली आती हुई इन्द्रपूजा का प्रत्याख्यान कर, कृष्ण ने ब्रजवासियों से गोवर्धन-पूजा करायी है, क्योंकि गोवर्धन का जनजीवन से अविच्छेद सम्बन्ध है। कूबरी का ग्रहण कृष्ण की उदार समझदारी तथा रूढ़ि-भंग-तत्परता का प्रमाण है।

सूर की प्रसंगिकता का एक पटल उनके काव्य का ग्राम्य परिवेश है। रसनागर, चतुर-शिरोमणि कृष्ण की समस्त लीलाएँ प्रकृति के क्रोड़ में सम्पन्न होती हैं। वही यमुना-तट, वही कदब की छाँह, वही करील की कुंजें, वही वन-प्रान्त, वही गोचारण, वही ग्राम्य अचगरियाँ आदि।

वर्तमान नगरीय बोध से मनोजर्जर मानव की मुक्ति इसी ग्राम्य परिवेश में सम्भव है। 'सूरसागर' की फाग-लीला में, जो गाँव की गलियों तथा दरवाजों पर सम्पन्न हुई है, पद अथवा प्रतिष्ठा के सभी कृत्रिम भेदभाव मिट गये हैं और कनक-रचित पिचकारियों के कुंकुम की कुल्याएँ ब्रज की खोरियों में प्रवाहित होने लगी हैं जिनमें निमज्जन करने के लिए सम्पूर्ण घोष-समुदाय उमड़ पड़ा है— "उमह्यौ मानुष-घोष।" नगरों में नियोजित होने वाले आधुनिक होली-मिलन सूर की वसन्त-लीला के सामने कितने कृत्रिम, कितने निष्प्रभ प्रतीत होते हैं। भावात्मक सामरस्य (इमोशनल इण्टीग्रेशन) के लिए इन लीलाओं का अप्रतिम महत्व स्वीकार किया जायेगा।

सूरदास का सर्वोत्कृष्ट प्रदेय आधुनिक मनुष्य के अन्तर्जीवन के तनावों को घटाने की दिशा में उपलब्ध होता है। मनुष्य आज भीतर से उखड़ गया है। जीवन का उद्वेगकारी यथार्थ, आधुनिक दर्शन-बोध के मानसिक दबाव से मिलकर, आधुनिक मनुष्य को 'हाइपर-टेंशन' का शिकार बनाता जा रहा है। ऐसी अवस्था में सूर द्वारा प्रणीत-प्रसारित जीवन-दर्शन का अतिशय महत्व है। वह दर्शन है, जीवन को लीला-भाव से खेल-समझकर जीने का। 'सूरसागर' का समग्र संसार (वह दशमस्कन्धीय

संसार जिसके लिए वह स्मरणीय है) इसी लीला-भाव, इसी खेल-भाव से अनुप्राणित रहा है। चाहे कालिय-दमन हो, चाहे पूतना-वध हो, चाहे गोवर्धन-धारण, चाहे कंस-दमन, सभी विषम परिस्थितियों का सामना कृष्ण ने लीला-भाव से किया है। जीवन एक लीला है, एक खेल, अधिकांशतः समष्टिगत; अतः सम-विषम सभी परिस्थितियों में आत्म-विश्वासपूर्वक प्रसन्न भाव से, खेल-भाव से जीते चलो—यही अन्तिम विश्लेषण में, सूर की ह्लादकमयी जीवनदृष्टि है जो टूटे हुए, तत्वतः विस्थापित, वर्तमान मनुष्य को उसकी मनुष्यता लौटाने में मूल्यवान् सिद्ध हो सकती है।

सूर के सन्देश का एक अपर संलग्न पक्ष है परुष के ऊपर कोमल की प्रतिष्ठा। वर्तमान पुरुष-प्रधान युग में परुष-तत्व की ही प्रधानता सर्वत्र प्रतिफलित हो रही है। फलस्वरूप मानव-जीवन से नारी-तत्व, कोमल तत्व, का विलोप होता चला जा रहा है। 'सूरसागर' मुख्यतः नारी-काव्य है। अतएव, माता का प्यार, सखी का प्यार, प्रेमिका तथा पत्नी का (भी) प्यार, अन्ततः सपत्नी समझी जाने वाली राधा तथा रुक्मिणी का प्यार जो कुरुक्षेत्र में ऐसे मिलीं जैसे वे एक बाप की बेटी हों—ये विविध प्रेम-कुल्याएँ सूर के 'सागर' में इतनी उमड़न एवं इतनी कारुणिकता से समरस हुई हैं कि लीलाओं के एकमात्र पुरुष श्रीकृष्ण का समग्र पौरुष नारीत्व के सामने नतमस्तक हो गया है—

"हौं सेवक निज प्रानप्रिया कौं, कहौ तो पत्र लिखाऊँ।
अब जनि मान करौ तुम मों सौं, यहै मौज करि पाऊँ।।" (3444)

कृष्ण-चरित्र का एक अन्य लघु, किन्तु महत्व का आयाम है—उनका जन्म-भूमि-प्रेम। निखिल वैभव की कनक-नगरी द्वारावती में पट्टमहिषी रुक्मिणी का निरन्तर साहचर्य भी उनके भीतर घर लौट चलने की प्रेरणा उत्पन्न करता है—

"रुक्मिनि चलौ जन्मभूमि जाहिं।
जद्यपि तुम्हरौ बिभव द्वारिका, मथुरा है सम नाहिं।।" (4891)

जो भारतीय प्रतिभाएँ आज लौकिक विभव के प्रलोभ में जन्म-धरती छोड़कर कंचन-कामिनी के देश अमेरिका में चली जाती हैं, वे पुनः स्वदेश लौटना नहीं पसन्द करतीं। एलेन गिंसबर्ग को जिस अमेरिका के घृणास्पद चेहरे से ऊब हो गयी थी, वही अमेरिका हमारी उदीयमान प्रतिभाओं को अपने भौतिक आकर्षणों की जंजीर में कैदी बना लेता है। 'सूरसागर' के रसान्वेषी, लीलानागर कृष्ण का जन्मभूमि के लिए मचलना वर्तमान वातावरण में निश्चयमेव प्रासंगिक एवं सार्थक है।

(ग)

साहित्यिक धरातल पर भी सूर की वर्तमान प्रासंगिकता स्वीकार करनी पड़ेगी। सूर का 'वस्तु-तत्व' तो अवश्य ही आज के साहित्यकार के लिए अरुचिर प्रतीत होता है। लेकिन, अन्य वैष्णव कवियों की भाँति सूर ने अपने काव्य में मनुष्य की चित्तवृत्तियों को उलझाने के लिए, उन्हें रमाने के लिए जिस आस्थापूर्ण संसार का अवतरण कराया है, उसकी 'स्पिरिट' को तो आधुनिक साहित्यकार पकड़ने का प्रयास कर ही सकते हैं।

यथार्थ-बोध के नाम पर आज कटुता, विपन्नता एवम् मनोभग्नता का जो "आदर्शीकरण" किया जा रहा है, उसकी प्राणरस-शोषक निविड़ता इस 'स्पिरिट' के संस्पर्श से थोड़ी कम की जा सकती है और सूर की अतिलौकिक आस्था को मानव के मंगलमय भविष्य की लौकिकी आस्था में बदला जा सकता है। अद्यतन कविता के "इनर स्ट्रक्चर", आंतरिक बुनावट, के संशोधन-हेतु सूर का काव्य उपयोगी हो सकता है। अभिव्यंजना के स्तर पर भी सूर का भाषिक बोध तथा जनसमुदाय में धीरे-धीरे मरती जा रही अभिव्यक्तियाँ, जो उनके 'सागर' में सुरक्षित चली आयी हैं, वर्तमान साहित्यकार के लिए मूल्यवान् दीपस्तंभ सिद्ध हो सकती हैं।

अतएव, सूर वर्तमान संदर्भ में भी पूर्णतः प्रासंगिक हैं।

अध्याय 17

सूर की नैतिकता

(क) नैतिकता का स्वरूप

सदाचार अथवा औचित्य—नैतिकता का सम्बन्ध परम्परया सदाचार या आचार-शास्त्र (एथिक्स) से जुड़ा हुआ है। अनुभव के आधार पर प्रत्येक समाज अथवा जाति में कतिपय विधेय तथा निषेध्य स्थिर हो जाते हैं जो समष्टिगत जीवन के सम्यक् संचालन-हेतु आवश्यक बन जाते हैं। ये विधेय तथा निषेध्य आचारशास्त्र को जन्म देते हैं और इन्हीं विधि-निषेधों में से नैतिकता के मान निस्सृत एवम् निष्पन्न होते हैं। कालात्यय में नैतिकता का प्रश्न औचित्य से शृंखलित हो जाता है और औचित्य अन्ततः समाज के सुसंघटित स्वरूप की रक्षा के लिए अपरिहार्य महत्त्व ग्रहण कर लेता है। साहित्य में नैतिकता के अनुप्रवेश को पाश्चात्य तथा पौरस्त्य, दोनों प्रकार के समालोचकों ने रह-रह कर बलाघात दिया है। प्लेटो ने जिस नैतिकतावादी दृष्टिकोण का प्रारम्भ में उपस्थापन किया, वह कालक्रम से पुष्ट तथा वर्धित होता गया और आधुनिक आलोचक मैथ्यू अर्नाल्ड ने, प्लेटो की उग्रता को आपाततः थोड़ा संशोधित करते हुए यह टिप्पणी की : "नैतिक मान्यताओं के प्रति विद्रोहशील काव्य जीवन के प्रति विद्रोह करता है; नैतिक धारणाओं के प्रति उदासीन काव्य जीवन के प्रति उदासीन होता है।"[1] वैसे ही, वैदिक कर्मकाण्ड के उपासकों ने हमारे यहाँ भी, नैतिकता तथा धर्माचार को क्षतिग्रस्त होने से बचाने के लिए 'काव्यालाप' (काव्यचर्चा) को अपवर्जित कर दिया था—"काव्यालापांश्च वर्जयेत्।" तथापि काव्य कठोर, नैतिक अनुशासन का हिमायती प्रायः नहीं रहा है।[2]

'सूरसागर' में निबंधित लीला-वर्णन इस दृष्टि से विचारणीय बन जाता है।

---

1. "A poetry of revolt against moral ideas is a poetry of revolt against life; a poetry of indifference torwords moral ideas is a poetry of indifference towords life." ('Essays for Criticism')

2. पाश्चात्यों में, 'नयी समीक्षा' के प्रवर्त्तक, अमेरिका के स्पिनगार्न ने काव्य में सत्-असत् के विचार को निरर्थक बताते हुए लिखा है—"शुद्ध काव्य के भीतर सदाचार-दुराचार की खोज करना ऐसा ही है, जैसा रेखागणित के समत्रिबाहु त्रिभुज को सदाचार-पूर्ण कहना और समद्विबाहु त्रिभुज को दुराचारपूर्ण कहना।" उनके समकालीन आलोचक प्रोफेसर टी० के० ह्विप्पल ने उनके मत का प्रत्याख्यान किया है। अतः काव्य में नैतिकता का प्रश्न आरम्भ से आज तक विवेचित होता चला आ रहा है। किन्तु भक्त कवियों की नैतिकता को शायद ऐसे पाश्चात्य विवेचन सीधे स्पर्श नहीं करते।

(ख) सूरसागर के आपत्ति-लभ्य प्रसंग

'सूरसागर' मुख्यत: लीलाकाव्य है और उस पर भी, प्रधानतया 'नारी-काव्य' है। अतएव, उसके चित्रणों पर आपत्तियाँ उठाने का प्रचुर अवकाश है और स्वभावतः, चीरहरण तथा रास जैसे संदर्भों पर अश्लीलता के आरोप लगाये भी गये हैं। जैसा अभी कहा है, औचित्य-भंग नैतिकता का मुख्य विघातक सिद्ध होता है और इन लीलाओं के वर्णन में आपाततः औचित्य एवम् मर्यादा के बाँध टूटते रहे हैं। विद्वानों ने इन आरोपों के परिहार-हेतु, दार्शनिक तथा आध्यात्मिक भूमियों का संश्रय लेकर, 'सूरसागर' के पात्रों तथा चीरहरणादि लीलाओं की प्रतीकात्मक व्याख्या प्रस्तुत की है।

प्रतीक-सुलभ समाधान - नन्द को 'बृहद् ब्रह्मसंहिता' के आधार पर "नराकृति परमानन्द", अर्थात् आनन्दयुक्त जीवात्मा और यशोदा को "मुक्तिरूपा" तथा "सात्त्विक स्थिति" का प्रतीक बताया गया है।[1] कृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं और राधा उनकी "आह्लादिनी शक्ति" कही गयी है जो शक्तिमान् से कथमपि पृथक् नहीं हो सकती। वैसे ही, गोप-गोपिकाएँ भी कृष्णरूप ब्रह्म की ही नाना शक्तियाँ हैं जिनका अविच्छेद्य सम्बन्ध कृष्ण से है। मुरली का 'सूरसागर' में अप्रतिप महत्त्व है और वही ब्रजनारियों की सम्पूर्ण विपदा की जनयित्री है। वह 'भागवत' के वेणु का नारी-संस्करण है और जो महत्त्व वेणु का है, वही मुरली या वंशी का भी है। 'वेणु' की एक परिचित व्याख्या यह है—"'वेणु' के तीन घटकों, व + इ + णु, में 'व' ब्रह्म-सुख का द्योतक है; 'इ' सांसारिक सुख का द्योतक है और इन दोनों प्रकार के सुखों को 'णु', अर्थात् पराभूत करने वाला 'वेणु' है।"

वल्लभाचार्य ने 'सुबोधिनी टीका में 'वेणु' के उपर्युक्त तीन अक्षरों का अर्थ बताते हुए वेणुगीत की व्याख्या की है और उसे प्रभु में आसक्ति द्वारा "निरोध" प्रतिपन्न किया है। वेणु के सप्त छिद्रों में से छह छिद्र भगवान् की षड्विध शक्तियाँ या धर्मों—ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य—के द्योतक हैं और सातवाँ स्वयं भगवान् का बोध कराता है। भागवत में वेणुगीत के बीस श्लोक निबद्ध हैं।[2] प्रथम में भगवान् के गौओं तथा ग्वालबालों के साथ वृन्दावन में प्रवेश करने तथा दूसरे में गायों को चराते हुए वंशी पर मधुर तान छेड़ने का कथन हुआ है। इन्हें (वृन्दावन-प्रवेश तथा वेणु-कूजन को) गोपियों की आसक्ति का उद्दीपक बताया गया है। वृन्दावन का अर्थ "भक्ति का प्रदेश" है और ऐसी आसक्ति, जिसमें लोकासक्ति अथवा सांसारिक माया-मोह का लवलेश भी न हो, "भक्ति" कही गयी है। वेणु की मधुर तानों से मनुष्य क्या, चेतन-अचेतन सभी वस्तुएँ स्थिर हो जाती हैं, अचल वृक्षों में भी पुलक उत्पन्न हो जाता है, उस जादू-भरी वंशी का चमत्कार अकथ्य है—

"निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम्।[3]

वल्लभ ने वेणु को "नामलीला" बताया है और वेणुगीत की प्रस्तुत विशद् भक्ति-परक व्याख्या की है। विद्वानों ने वेणु को "योगमाया", "शब्दब्रह्म", "शब्दज्योति"

---

1. डॉ० मुंशीराम शर्मा : "सूरदास का काव्य-वैभव' (1971), पृ० 222-23
2. श्रीमद्भागवत, 10/21
3. वही, 10/21/19

आदि भी निर्वचित किया है। चीरहरण, दान प्रभृति लीलाओं की भक्तिमूलक व्याख्या करते हुए, इनकी योजना में मधुराभक्ति का क्रमिक विकास प्रदर्शित किया गया है जिसमें लाज-संकोच, गर्व आदि का परिहार और अन्ततः श्रीकृष्ण (भगवान्) के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण प्रतिफलित हुआ है।

उपर्युक्त प्रतीक मान लेने पर 'सूरसागर' के आपत्तिलभ्य प्रसंग साफ-साफ बच जाते हैं और उन पर किये गये प्रहारों का निरसन युक्त एवम् तर्कसंगत प्रतीत होगा। चीरहरण हो, चाहे रास हो, ये यावत् लीलाएँ भगवान् तथा उनकी अनेकविध शक्तियों का परस्पर रमण हैं और तब उनमें लौकिक नैतिकता की खोज करना निरर्थक है। चीरहरण की व्याख्या सांख्य की उपपत्तियों के आलोक में भी की गयी है। उसके अनुसार, यह लीला 'प्रकृति' और 'पुरुष' के "आत्यन्तिक एकत्व" का प्रतीक है।[1] सांख्य में आइने का रूपक दिया गया है जिस पर पड़कर 'पुरुष' का "अक्स" बदल जाता है। पुरुष तो वही है, किन्तु आइने से उसका रंग दूसरा हो गया है, यद्यपि इससे "स्वच्छ पुरुष की वास्तविक कान्ति" धूमिल नहीं होती।[2] कृष्ण वही विकारहीन स्वच्छ पुरुष हैं।

रास के सम्बन्ध में तो 'भागवत' ने ही सफाई दे दी है कि जैसे नन्हा-सा शिशु निर्विकार भाव से अपनी परछाईं के साथ खेलता है, वैसे ही श्रीकृष्ण ने व्रजसुन्दरियों के साथ रमण किया—

"रेमे रमेशो व्रज सुन्दरीभि-
र्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः।"

आधुनिक पंडितों ने रासलीला को आत्मा या परमात्मा के अपनी शक्तियों के साथ क्रीड़ा करने का प्रतीक बताया है। कृष्ण आत्मा हैं, राधा प्रज्ञासमन्वित श्रद्धा है और गोपियाँ इन्द्रियाँ हैं। रासलीला प्रत्येक पिण्ड में हो रही है और निखिल ब्रह्माण्ड में भी हो रही है। रास में जैसे कृष्ण बीच में हैं, गोपियाँ उनके चतुर्दिक् नृत्य कर रहा हैं और कृष्ण भी स्वयं रसलीन हैं, वैसे ही पिण्ड में आत्मा और इन्द्रियों का रास हो रही है और सारे जगत् में सूर्य तथा उसके चतुर्दिक् घूमने वाले ग्रह-उपग्रह भी रासलीला कर रहे हैं।[3]

प्रस्तुत प्रतीकात्मक निर्वचन से सूर की रासलीलाओं में नैतिकता एवम् औचित्य का प्रश्न आसानी से समाधानित हो जाता है—लौकिक विधि-निषेध इस दिव्य, अलौकिक क्षेत्र में प्रवेश ही नहीं करते। सूर ने स्वयमेव रासलीला की अप्राकृत व्याख्या की है: "जब पृथिवी पर (दुष्टों का) भार बढ़ गया, तब भगवान् ने अवतार लिया और वेद की ऋचाओं ने गोपियाँ बनकर उनके साथ विहार किया। जो भी अपने हृदय में पति-भाव से भगवान् के चरणों का ध्यान करता है, वह, पुरुष या स्त्री कोई भी हो, वेद की ऋचा की गति प्राप्त कर लेता है।"[4] ऋचाओं वाला यह प्रसंग उन्होंने 'वामन-पुराण' से लिया

1. नन्ददुलारे वाजपेयी : 'महाकवि सूरदास' (1976), पृ० 151

2. वही, पृ० 156

3. डॉ० शर्मा : 'सूरदास का काव्य-वैभव', पृ० 224-25

4. 'सूरसागर', 1793

है। पारमार्थिक दृष्टि से, अतएव, इन रसलीलाओं के कीर्तन में औचित्यादि नैतिक प्रश्नों की उपपन्नता नहीं उठती।

(ग) सूर की निजी नैतिकता

वल्लभपूर्व नैतिकता की खोज—वास्तव में वल्लभाचार्य से ब्राह्म-संबंध स्थापित होने के पूर्व से ही, सूर अपनी निजी नैतिकता के मानों का निरूपण करते आ रहे थे जिसकी विज्ञप्ति विनय के पदों से होती है। "प्रभु" के "अतिगंभीर-उदार-उदधि" स्वभाव से सूर चमत्कृत हैं।[1] "जदुराई" ने भक्तों के लिए क्या नहीं किया ?[2] "जन" की "पति" और किसने रखी ?[3] हरि के समान अन्य मित्र नहीं।[4] शरण में जाने वाले किन-किन को उन्होंने नहीं उबारा ?[5] ऐसे प्रभु की अवमावना करना "महा-कृतघ्नता" है।[6]

इसी मनोभूमि में सूर ने अपने लिए मूल्य-विधान किया है। सबसे वरेण्य मूल्य उनके लिए बना है—"भगवत-भजन", क्योंकि उसी से भवसागर का संतरण किया जा-सकता है।[7] प्रकारान्तर से, भगवद्-भजन उनके समीप सबसे बड़ा औचित्य है, सबसे बड़ा विधेय है। निषेध्य है ऐसे "भक्त-बिरह-कातर करुणामय" स्वामी से विमुखता—"सूर दास ऐसे स्वामी कौं देहिं पीठि सो अभागे।"[8]

सूर ने निषेध्यों की एक संक्षिप्त सूची भी बनायी है। उसमें कोटिक नाच नचाने-वाली "माया-नटी" का प्रथम स्थान है।[9] "परवधू" तथा "पर-पुरुष" का संयोग, काम-क्रोध-मद-लोभादि, "इन्द्रिय-रस-वश्यता", "कनक-कामिनी" का सेवन प्रभृति उस सार गर्भित निषेधों के सूचीपत्र में सम्मिलित हुए हैं।[10] सबसे बड़े प्रेष्ठ "हरि" का वैष्शिटए यह है कि वे सच्चे "प्रीति-निबाहक" और "सत्य-प्रीति के बाहक" हैं।[11] इसीलिए, उनके "पद-अंबुज" से प्रीति करना सर्वोत्कृष्ट विधेय है, उनका भजन ही सर्वोत्कृष्ट, "शृंगार" है।[12] सुतराम्, भगवान् के चरणारविन्दों के "प्रेम-रस" का पान करने वाले "हरि के जन" की "ठकुराई" सबसे बड़ी है।[13]

---

1. 'सूरसागर', 8
2 वही, 6
3. वही, 15
4. वही, 10, 13
5. वही, 14
6. वही, 9
7. वही, 34, 39, 58, 68, 80, 86, 116, 357 आदि
8. वही, 8
9. वही, 42
10. वही, 127, 129, 59, 64, 74
11. वही, 19, 20 आदि
12. वही, 41
13. वही, 40

अभी हमने सूर द्वारा निर्मित नैतिकता का निदर्शन कराया है। प्रारंभ से ही सूर कनक-कामिनी की निन्दा और हरि-प्रीति की संस्तुति करते रहे हैं। भगवत्लीला में दीक्षित हो जाने के बाद, उनकी यही नैतिकता नये रूप में, नये प्रकाश से भास्वर हो उठी है। जो सूर पहले अपने को "पतितों का टीका" और "पतित-शिरोमणि" समझते थे, उन्हीं के मानस-पटल पर अभिनव सौन्दर्य तथा अपरिमेय माधुर्य का पीयूष-प्रवाह फूट पड़ा है जो एकदम अप्रत्याशित नहीं समझा जायेगा, कारण कि पहले से ही "गोपाल" के "चरणों" में उनका चित्त अनुरक्त था और उनकी "रसना" उनके "चरित्र रसाल" का गान करने की भीतरी कामना से चंचल थी।[1] अतएव, 'सूरसागर' के लीला-वर्णन में लौकिक दृष्टि से जो अनौचित्य दृष्टिगोचर होता है, वह सूर की नैतिक योजना में अनौचित्य नहीं है। यदि रास-प्रकरण में, उन्होंने "आरज-पंथ", "लोक-लज्जा" अथवा 'कुल-मर्जाद" आदि का कथन किया है[2], तो उसका अर्थ यह नहीं कि वे लौकिक नैतिकता से अपनी प्रतिबद्धता का ज्ञापन कर रहे हैं। वस्तुतः रास-प्रकरण में 'भागवत' में भी कृष्ण ने गोपियों की प्रेमनिष्ठा के परीक्षार्थ ऐसे कथन किये हैं।

(घ) मध्यकालीन संदर्भ और सूर

सूर और सामंतीय परिवेश—सूर की नैतिकता के प्रसंग में मध्यकालीन बोध की बात स्वभावतः उठती है। वस्तुतः औचित्यानौचित्य-संबंधी धारणाएँ जो परम्परा से भारतीय जीवन को अनुशासित करती रही हैं, मध्ययुग में भी प्रायः ज्यों-की-त्यों बनी हुई थीं। वास्तविकता यह है कि भारतीय समाज में परिवर्तन की हवा बही ही नहीं। वैदिक युग की बात छोड़ दें तो यही निष्कर्ष निकलता है कि कालिदास के समय से लेकर आज तक हमारे आचार-विचार प्रायः एक-जैसे बने हुए हैं। मध्यकाल में हमारी संस्कृति का जो सामन्तीय स्वरूप लक्षित होता है, वह भी नया नहीं है। जनसामान्य के जीवन-बोध और राजन्य-सामन्तीय जीवन-बोध में स्पष्ट खाईं बराबर विद्यमान रही है। मध्यकाल में सामन्तीय विलासिता का जो उग्र बोध हमें आकर्षित करता है, उसका कारण उस भोगवादी प्रवृत्ति की नवीनता नहीं, अपितु ऐतिहासिक दृष्टि से उस युग की हमारी समीपता है। सूर मध्यकालीन विभूति हैं, अतः यह समझा जा सकता है कि वे लीला-वर्णनों में अपने सामयिक विलासी परिवेश से प्रभावित थे। विषय के लिए तनिक स्थिर विमर्श की अपेक्षा है।

मध्यकाल में, भारतीय समाज में सदा की तरह दो जीवन-पद्धतियाँ वर्तमान थीं: जनसामान्य की जीवन-पद्धति और सामन्तीय जीवन-पद्धति। यहाँ यह सद्यः स्वीकारा जा सकता है कि अधिकांश भक्तकवियों के समान सूर का जीवन जनसामान्य के सांस्कृतिक बोध के अनुरूप व्यतीत हुआ था। वे जनसमुदाय के अनुभवी, प्रतिभा-सम्पन्न भक्त गायक थे और उसी से आजीवन जुड़े रहे। आचार्य द्विवेदी का यह कथन मान्य है कि सूर का युग "भारतीय संस्कृति के पराजय का काल है।"[3] स्पष्ट है कि उनका अभिप्राय यहाँ तत्कालीन सामन्तीय समाज से है जो विलास-भोग के महानद में आकंठ निमग्न था। सूर का संबंध ऐसे किसी वर्ग अथवा समुदाय से नहीं था। काम-क्रोधादि तथा "कनक-कामिनी" की जो उन्होंने भर्त्सना की है, वह किसी तात्कालिक प्रेरणा के वश न होकर,

---

1. 'सूरसागर', 189, 307
2. वही, 1607, 1612, 1615, 1618 आदि
3, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'सूर-साहित्य' (1976), पृ० 54

प्रत्युत मानव-जीनव के सामान्य बोध की आदर्शोन्मुखी प्रेरणा से किया है। यह मैं नहीं कहता कि सामन्तीय भोगवाद से सूर सर्वथा उदासीन थे। आचार्य महाप्रभु ने 'कृष्णाश्रय' ग्रंथ में देश के "म्लेच्छाक्रान्त" होने, गंगादि तीर्थों के "दुष्टों से आवृत" होने आदि का कथन करते हुए, उस पापमयी स्थिति में केवल कृष्ण को अपनी गति बताया है—"कृष्ण एव गतिर्मम।"[1] विदेशी आक्रामकों की तथा उनसे प्रभावित देशी रजवाड़ों की विलासमयी जीवन-चर्या से वल्लभ अवश्य दुःखी एवम् विषण्ण थे। सूर को भी, निश्चित ही, उस स्थिति का एहसास था। तथापि, विवक्षा यह है कि रसराट् श्रीकृष्ण के लीला-वर्णन में सूर लोकहृदय के समीप थे, न कि सामंतीय भोगवाद से प्रभावित। उनकी वल्लभ-पूर्व जिस नैतिकता का ऊपर निरूपण किया गया है, उसके आलोक में यह नहीं माना जा सकता कि "कनक-कामिनी" के उपसेवन में निमग्न रजवाड़ों के विलासी जीवन की झाँकियाँ उन्होंने लीला-निबंधन में उतारी हैं।

भजन का "पारस-पत्थर"—आचार्य द्विवेदी ने कहा है कि "सूरदास ने वस्तुतः अपने काल की सारी विलासिता का सुन्दर उपयोग किया है और कोई भी सहृदय इस बात को अस्वीकार नहीं करेगा कि सचमुच उन्होंने भजन के पारस-पत्थर से स्पर्श कराके विलासिता-रूप कुधातु को सोना बना दिया है।"[2] सूर की अभ्यर्चना में की गयी इस टिप्पणी के मूलभाव से असहमति नहीं व्यक्त की जा सकती। किन्तु, इस प्रसंग में दो प्रश्न उत्पन्न होते हैं : प्रथम, क्या सूर ने सचमुच अपने समय की सामन्तीय विलासिता का उपयोग किया है? द्वितीय, क्या यह विलासिता सचमुच "सोना" बन गयी?

पहले प्रश्न के संबंध में कतिपय विन्दु उपलक्ष्य हैं। कृष्ण की प्रेमलीलाएँ वृन्दावनीय कुंजों में चलती हैं, महलों में नहीं। यमुना का रमणीक पुलिन तथा विश्व-मोहिनी मुरली उस लीला-विहार के अविच्छेद्य अंग हैं। सामंतीय महलों में चलने वाली विलास-चर्या से इन प्रेमलीलाओं का संबंध नहीं जोड़ा जा सकता। खंडिताओं के जो थोड़े चित्र 'सूरसागर' में उपलब्ध हैं, वे कामशास्त्रीय अनुबंधों अथवा काव्यशास्त्रीय प्रभावों की निष्पत्ति हैं, न कि समसामयिक सामंतीय परिवेश की उपज। पुनः, राधा तथा गोपियों के वचन-विनोद तद्युगीन महलों में कहाँ उपलभ्य होंगे? पनघट, दान, रास, झूलन तथा फाग जैसी सहज-उन्मुक्त प्रेमलीलाएँ उस युग की कदर्य, रुग्ण विलासिता के लिए विदेशी द्रव्य हैं। और-तो-और, भ्रमरगीत का-सा हृदय-विदारक वियोग एवम् प्रेमस्थैर्य उस युग के सामन्तीय वातावरण में कथमपि सम्पृग्य नहीं हैं। कहना हम यह चाहते हैं कि सूर ने अपने काल की कायरतापूर्ण विलासिता का उपयोग नहीं किया, अपितु भागवत, गर्गसंहिता प्रभृति स्रोत-ग्रंथों तथा लोक-परम्परा में सुरक्षित कृष्णकथा के ललित-रसनिर्भर आयामों से अनायास सूत्रों का संकलन कर, अपने आराध्य की लीला-माधुरी का निबंधन किया है। जैसे अन्यत्र कहा है, कृष्णभक्ति की तत्कालीन साधना-पद्धतियों द्वारा निर्मित रसपूर्ण परिवेश से भी वे निश्चित प्रभावित रहे हैं जब वे "हरि बंसी हरिदासी जहाँ, हरि करुना करि राखहु तहाँ" की प्रार्थना करते हैं।[3]

1. 'षोडशग्रंथ', "कृष्णाश्रय", श्लोक, 2, 3, 5
2 'सूर-साहित्य', पृ० 77
3. 'सूरसागर', 1798

तब "हरिदासी" में हरिदासी सम्प्रदाय की रससंसिक्त साधना-पद्धति की ओर भी वे अवश्य परोक्ष संकेत करते समझे जा सकते हैं।

दूसरे प्रश्न के सम्बन्ध में यह तत्काल कहा जा सकता है कि पारस-पत्थर के स्पर्श से लोहे के सोना बन जाने के प्रवाद के नियोजन में स्वर्गीय आचार्य-प्रवर का स्वभाव-सुलभ उक्ति-लालित्य ही अधिक प्रतिफलित है, न कि तर्कसंगत विचार-प्रवणता। विलासिता "सोना" तभी बन सकती है जब उसका परिणाम सुखद हो। किन्तु, इतिहास का साक्ष्य इसके विपरीत पड़ता है। दूसरा अभिप्राय: यह भी हो सकता है कि भगवद्-भजन के प्रभाव से रजवाड़ों-सामन्तों ने अपनी लौकिक विलासिता को तिलांजलि देकर, श्रीकृष्ण की अपार्थिव, दिव्य रसलीलाओं का विह्वल कीर्तन आरम्भ कर दिया हो। लेकिन, ऐसा कहाँ हुआ ? मीरा अपवाद हैं, नियम नहीं। जहाँ तक भजन का सवाल है, यह तो पहले निरूपित ही किया जा चुका है कि सूर द्वारा उपलालित औचित्य-विधान में "भगवंत-भजन" का शीर्ष महत्त्व है, वही उनके लिए सर्वश्रेष्ठ नैतिकता है, सर्वोत्तम मांगल्यकारी विधेय है। किन्तु, भजन ने सामन्तीय विलासिता को "सोना" बना दिया—यह भावुकतापूर्ण उद्‌गार है, सुचिन्तित टिप्पणी नहीं।

सूर के सम्बन्ध में मध्यकालीन परिवेश अथवा मध्यकालीन सन्दर्भ आदि का आवश्यकता से अधिक विजृम्भण कतिपय आलोचकों ने किया है, जैसे कोई नया अमोघ समीक्षा-सूत्र उन्हें मिल गया हो। "मध्यकालीन सामन्ती परिवेश में शृंगार को अधिक खुली भूमि पर लाने का उपक्रम" सूर ने अपने लीला-वर्णनों में किया है और "मध्यकालीन सौन्दर्य-जगत् को एक नया आयाम" दिया है[1]—इन जैसी अभ्युक्तियों में तर्क-प्रतिष्ठा कम, "अविचारित रमणीयता" अधिक है। यदि सूर के लीला-चित्रणों में शृंगार "अधिक खुली भूमि" पर निष्पन्न हुआ है तो इसे उनका कोई "उपक्रम" नहीं कहा जायेगा, अपितु वह तो कृष्णलीला वाली परम्परा के अधिकाधिक पुष्ट एवं सुस्फीत स्वरूप का निखार है, जबकि मध्यकालीन सामन्ती परिवेश में चलने वाली शृंगार-लीलाओं की अपनी एक पृथक् सुस्पष्ट परम्परा रही है। इसी प्रकार, "मध्यकालीन सौन्दर्य-जगत् को एक नया आयाम" प्रदान करने की बात भी तत्त्वहीन है। वस्तुतः, तथोक्त मध्यकालीन सौन्दर्य-दर्शन की भी अपनी परम्परा रही है जिसमें प्राकृतिक सौन्दर्य को काट-छाँट कर सँवारा जाता है और उसे अधिक उद्दीपक बनाने के लिए कला की कृत्रिमता को नियोजित किया जाता है। इसके विपरीत, कृष्ण-लीलाओं का सौन्दर्य-सम्पादन सदा से "खुली" प्रकृति का दायित्व रहा है। अतएव, यहाँ भी सौन्दर्य की दो भिन्न परम्पराएँ रही हैं और सूर ने उनमें से अपनी अभीप्सित एक का पालन किया है। कालिदास ने बहुत पहले इस 'परम्परा-द्वय' का उल्लेख कर दिया था। दुष्यन्त जब सेचन-घटों को साथ लिए तपस्वि-कन्यकाओं को देखकर कह उठा है—

"अहो, मधुरमासां दर्शनम् !
शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य ।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः ।।"

---

1. 'कृष्ण-काव्य और सूर' : डॉ० प्रेमशंकर, 1977, पृ० 118-19

—तब उसने 'वन-लताओं' और 'उद्यान-लताओं' में भेद कर, सौन्दर्य-दर्शन की इन्हीं दो परम्पराओं की ओर संकेत किया है।[1]

अतएव, विवक्षा यह है सूर का लीला-वर्णन एक विशिष्ट परम्परा में उपलब्ध सूत्रों का उपबृंहण है, न कि मध्यकालीन सन्दर्भ की प्रतिक्रिया, या उसे नया आयाम देने का "उपक्रम" या उसके "सुन्दर उपयोग" का परिणाम।

(ङ) सूरसागर में नैतिकता-निष्पादन

कवि और रचना का परिवेश—आचार्यों ने कहा है कि अपार "काव्य-संसार" में कवि ही "प्रजापति" होता है और वह अपने मनोनुकूल "विश्व" का प्रतिपादन करता है।[2] यह कथन सामान्य अर्थवाद से कुछ अधिक महत्त्व का है। काव्यगत 'सत्य' की व्याख्या करते हुए, प्रसिद्ध आंग्ल समालोचक रिचर्ड्स ने निरूपित किया है कि रचना के निजी परिवेश में जो "स्वीकार्य" (ऐक्सेप्टेबुल) है, वही 'सत्य' है। दूसरा मान उसने यह उपस्थित किया है कि कवि द्वारा प्रदर्शित या व्यवहृत "सच्चाई" (सिंसियरिटी) भी काव्यगत 'सत्य' का निर्धारण करती है। अर्थात्, काव्य के भीतरी परिवेश और कवि की अपनी सच्चाई तथा ईमानदारी से कविता का सत्य रूपायित होता है। हम उसी प्रकार कहना चाहते हैं कि काव्य-लब्ध नैतिकता के मान भी रचना के अभ्यन्तरीण परिवेश तथा कवि की निजी सच्चाई से छनकर निस्सृत एवं निष्पन्न होते हैं। 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का हम यहाँ अनुमोदन नहीं कर रहे हैं। विवक्षित केवल यह है कि महाकवि अपने प्रतिपाद्य का पूर्ण स्वामी होता है और अपनी कला अथवा शिल्प का ऐसा समर्थ उपयोग करता है कि रचना में से स्वयं सत्य, सौन्दर्य एवं शिव के मान निखरते तथा उद्‌भासित होते हैं। नैतिकता का सम्बन्ध इन प्रत्ययों से होता है, अतएव काव्य में चरितार्थ्य नैतिकता अथवा औचित्य स्वयं कविता की भूमि से, कविता के बने परिवेश से सम्मूर्तित होता है। जैसे 'रामचरितमानस' के अन्तरीण वातावरण से तुलसी की नैतिकता निष्पन्न हुई है, वैसे ही 'सूरसागर' के भीतरी परिवेश में से सूर की नैतिकता का निष्पादन हुआ है। अतः, हमें अपने नैतिक मानों से 'सूरसागर' की नैतिकता का आकलन करना युक्त एवं समीचीन नहीं होगा।

'सूरसागर' का निराला संसार—सूर ने जिस संसार की रचना की है, उसमें गोचारण तथा पनघट जैसे ग्राम्य प्रसंग, झूलन तथा फाग जैसे उल्लसित अर्ध-ग्राम्य प्रसंग और दानलीला जैसे प्रसंग, जिसमें ग्राम्य चेतना कुछ अधिक रसीले आयाम ग्रहण कर गयी है, परस्पर संश्लिष्ट होकर प्रधानतया ग्रामीण वातावरण की सृष्टि करते हैं। इसके समानान्तर, रास का सन्दर्भ है जिसमें नृत्य एवं संगीत जैसी ललित-सुकुमार कलाओं का उल्लसित प्रदर्शन हुआ है। स्मर्तव्य है कि ये कलाएँ सामन्तीय विलास की उपज नहीं हैं, अपितु निश्चिततया इनकी जड़ें लोक द्वारा उद्‌भावित मनोविनोद-योजना में सन्निविष्ट हैं। चीरहरण की निविड़ चेतना भी मूलतः ग्रामीण है। यही मुखरतया ग्राम्य परिवेश 'सूरसागर' के संसार का परिवेश है जिसमें यथार्थ की ठोस नींव पर रोमांस का मनोहारी प्रासाद खड़ा किया गया है।

---

1. 'अभिज्ञानशाकुन्तल', 1/17
2. "अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथैतत प्रतिपद्यते॥"

सबसे विलक्षण विन्दु यह है कि इस संसार के एकमात्र प्रेरक तथा नियामक 'व्यक्तित्व' बालक-किशोर कृष्ण हैं। इन्हीं के इर्द-गिर्द ब्रज-जीवन का सम्पूर्ण उच्छ्वास, सम्पूर्ण श्वास-समारोह घूमता है। आबाल-वृद्ध-वनिता सभी के अनुप्राणक कृष्ण ही हैं। और, कृष्ण का अलौकिक सौन्दर्य तथा उनकी अतिशय रसलिप्सु मनश्चेतना वह मलय-समीर है जो ब्रजवासियों में नित्य नवीन उल्लास संचरित करता रहता है।

प्रेम 'सूरसागरीय' संसार में एक महान् मूल्य-रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। यह भिन्न बात है कि प्रेम के इस तरंगायित प्रवाह में सख्य तथा वात्सल्य की अपेक्षा माधुर्य-भाव के आवर्त्त अधिक अतिशायी स्वरूप ग्रहण कर गये हैं। इस संसार की विलक्षणता यह है कि समस्त तरुणि-समुदाय कृष्ण के प्रणय-पाश में परिबद्ध है। दो-चार अपवादों के साथ, ब्रज की यावत युवतियाँ, कुमारिकाएँ अथवा विवाहिताएँ, कृष्ण की प्रेमिकाएँ हैं।

यही परिवेश है 'सूरसागर' की रचना का, और इसी परिवेश से उसकी नैतिकता निष्पन्न हुई है। किन्तु, यह आधुनिक युग का "पर्मिसिव" समाज नहीं है जहाँ प्रेमलीलाएँ मनमाने ढंग से चलती हों। इस समाज का अपना एक निश्चित मानदंड है जो उच्छृंखलता को प्रश्रय नहीं देता। ऐसे कृष्ण के अलावा न कोई अन्य सौन्दर्यशाली तरुण हैं जिनकी ओर गोपियाँ आकृष्ट हों और न ही कोई ऐसे सखा-मित्र हैं जिनकी कृष्ण के साथ कोई प्रेमिक स्पर्धा या ईर्ष्या हो। सभी तरुणियाँ तथा ग्वालबाल कृष्ण के प्रति समर्पित हैं। राधा को जो उलाहने सुनने पड़ते हैं, उनमें कोई तत्त्व नहीं, कोई 'फोर्स' नहीं। वे उस पारम्परीण रूढ़िवादी नैतिकता की क्षीण छायाएँ हैं जो रचना की निजी नैतिकता के भास्वर आलोक-पुंज में विलीन हो जाती हैं।

सूर के नैतिक संसार की एक ही धुरी है—कृष्ण की त्रैलोक्य-विमोहन रूप-सम्पदा के प्रति अशेष आत्म-समर्पण। इस समर्पण-व्यापार में मुरली का अद्वितीय महत्त्व है। निखिल चराचर सृष्टि, सुर-मुनि, देव-ललनाएँ प्रभृति सभी मुरली के मोहक संगीत के क्रीत दास बने हैं। कृष्ण के रूप-सौन्दर्य तथा उनकी मुरलीवादन-कला का इन्द्रजाली आकर्षण कभी क्षयिष्णु नहीं बना है। यदि कहीं ऐसी घटना घट गयी होती, तो 'सूर-सागर' में उपलालित नैतिकता की नींव शिथिल हो गयी होती। सूर के औचित्य-विधान का एकमात्र निकष है यही रूपाकर्षण, यही आत्म-समर्पण और इस निकष पर कसने से ललित-नीवी का ग्रहण, चोलीबंद का तोड़ना, चुम्बन-परिरंभनादि—और कृष्ण का सम्पूर्ण केलि-विलास 'नैतिक' है क्योंकि रचना के समग्र परिवेश में एकनिष्ठ प्रेम का अनुपालन ही उस नैतिकता का परिभाषक धर्म बन गया है। कृष्ण-विश्लेष की दारुण अवधि में भी प्रेम की इस 'मर्यादा' में कहीं कोई व्यवधान नहीं आने पाया है।

तुलसी की मर्यादा-भावना के परिप्रेक्ष्य में सूर की यह 'मर्यादा' विलक्षण प्रतीत होती है। किन्तु स्मरणीय है कि सूर तुलसी की तुलना में अधिक ऐकान्तिक, अधिक समर्पित 'भक्त' हैं और उन्हें तुलसी के समान अपने काव्य के प्रति सुधी पंडितों के समादर की चिकीर्षा भी चंचल वा विचलित नहीं करती।

उल्लेख्य है कि सूर ने वल्लभ-पूर्व जिस नैतिक विधान की मानसिक रचना की थी, उसी की परवर्ती माधुर्य-भक्ति के गुणगान में सहृदय-श्लाघ्य परिणति हुई है। "भगवंत-भजन" का स्वरूप बदल गया, किन्तु मूलतत्त्व पूर्ववत् अक्षुण्ण बना रह गया है। अब उनकी "रसना" हरि के "चरित रसाल"[1] का उन्मुक्त कीर्तन करने लगी है जिसमें नैतिकता के रूढ़िपोषित अनुरोध कपूर की भाँति उड़ गये हैं। विधि-निषेधों की उन्होंने नयी तालिका बना ली थी, उनकी नयी परिभाषा गढ़ ली थी। ऐसा माना जा सकता है कि राधा जिस मनोद्वन्द्व की उलझन में व्यथित थी—"उत गुरुजन इत हेत नयौ री"[2]—उस उलझन का कभी-कभी क्षणिक अनुभव सूर को भी होता रहा होगा। लेकिन, एक बार जब उन्हें यह अविचल प्रतीति हो गयी थी कि हरि ही "सत्य प्रीति के वाहक" हैं,[3] तब परम्परा-विहित नैतिकता के रूढ़िग्रस्त आदर्श "भूसे पर की भीति" के समान ढह गये हैं।[4] 'सूरसागर' के संसार में उस प्रेम का माहात्म्य स्थापित हुआ है जो आविर्भाव के दिन किसी हेतु की गणना नहीं करता, सैकड़ों अपराधों से क्षयिष्णु नहीं बनता, नमस्कारादि उपचारों से वर्धित नहीं होता, जो अमृत के समान मधुर है, त्रिजगती के दुःखों का शमन करने वाला है और जिसकी गुरुता का वर्णन जिह्वातीत है—

"आविर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि।
क्षीयेतापि तं चापराधविधिना नत्यान यद्वर्धते।।
पीयूषप्रतिवादिनस्त्रिजगतोदुःखद्रुहः साम्प्रतं।
प्रेम्णस्तस्य गुरोः किमघ करवै वाङ्निष्ठता लाघवम्।।"

अतएव, सदाचार के सामान्य घिसे-पिटे नियमों अथवा प्रतिमानों का निर्वहण सूर के रचना-लोक में एक अपराध हुआ होता, क्योंकि उससे न सौन्दर्य की अप्रतिहत शक्तिमत्ता की और न प्रेम की दुद्धर्ष अपराजेयता की सिद्धि हुई होती। इसी सिद्धि

1. 'सूरसागर', 189
2. वही, 2497
3. वही, 19, 20
4. वही, 4523

के साथ 'सूरसागर' में प्रतिष्ठित सत्य एवं शिव जुड़े हुए हैं जिनके साथ नैतिकता का घनिष्ठ सम्बन्ध है।[1]

———

1. विद्वानों ने कृष्ण-कथा के श्रृंगारी आयामों को समझने के लिए राधा-कृष्ण का विकास प्रदर्शित किया है। आ० द्विवेदी के अनुसार, कृष्ण का वर्तमान रूप "नाना वैदिक-अवैदिक, आर्य-अनार्य धाराओं के मिश्र" का प्रतिफलन है ('सूर-साहित्य', पृ० 26)। वे राधा को आगन्तुक आभीर जाति की "प्रेम-देवी" अथवा किसी आर्यपूर्व जाति की "प्रेम-देवी" मानते हैं जिसका सम्बन्ध कालान्तर में कृष्ण से स्थापित हो गया होगा (वही, पृ० 30-31)। कृष्ण की ऐतिहासिकता तो सिद्ध की जा चुकी है, किन्तु राधा को काल्पनिक व्यक्तित्व ही माना गया है। पं० बलदेव उपाध्याय ने वैदिक तथा पौराणिक परम्पराओं में राधा का स्वरूप-विकास दिखाते हुए बताया है कि वैदिक काल में इन्द्र प्रमुख देवता माने जाते थे जिनके स्थान पर, कालक्रमेण, विष्णु को प्रमुखता मिल गयी और पुनः विष्णु के साथ कृष्ण का सामंजस्य स्थापित हो गया। अतः इन्द्र के लिए "राधानां पते" का जो संबोधन प्रयुक्त होता था, वह कृष्ण के साथ जुड़ गया और कृष्ण "राधापति" कहे जाने लगे। गोपियों के विषय में उनका कथन है कि वैदिक युग में कुमारियाँ अविवाहित रहकर, इन्द्र की सर्वश्रेष्ठ प्रियतम-रूप में उपासना करती थीं। अन्ततः "इन्द्र के साथ संबद्ध श्रृंगारी रहस्यवाद श्रीकृष्ण के साथ धार्मिक जगत् में प्रतिष्ठित हो गया और वैदिक युग की कुमारियाँ गोपियों में रूपान्तरित होकर ब्रजलीला में उनकी संगिनी तथा प्रियतमा बन गईं।" ('भारतीय वाङ्मय में लौकिक श्रीराधा', पृ० 41)।

ऐतिहासिक अनुसधान जो हो, इतना निश्चित है कि भक्ति-युग में राधा-कृष्ण अथवा गोपी-कृष्ण की श्रृंगार-लीलाएँ लोकमानस में घर कर गयी थीं और उनका उन्मुक्त गान भक्त-कवियों ने किया है। राधा और गोपियों के अभाव में कृष्ण की कल्पना ही नहीं की जा सकती। भक्त-शिरोमणि सूर के काव्य में नट-नागर कृष्ण के चुम्बकीय सौन्दर्य की समग्र चराचर सृष्टि वशवर्तिनी बन गयी है। अतएव, वहाँ सदाचार का प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता।

परिशिष्ट

पाण्डुलिपि तैयार करने के बाद, 'सूर-सौरभ' (त्रैमासिक) के दो अंकों, माघ सं० 2037 तथा चैत्र-आषाढ़, सं० 2038, में सूरसागर' से सम्बंधित दो-तीन लेख देखने में आये हैं। पिछले अंक वाले लेख में 'सूरसागर' के सम्पादन और प्रामाणिक पाठ की समस्या पर विचार किया गया है। उसमें स्व० रत्नाकर जी, स्व० जवाहरलाल चतुर्वेदी तथा डॉ० माताप्रसाद गुप्त के सम्पादन-कार्यों की सराहना की गयी है और 'सूरसागर' के मूल पाठ की निर्धारणा के लिये कतिपय सुझाव भी दिये गये हैं। तथापि, इस लेख से हमें कोई सर्वथा नवीन जानकारी नहीं मिलती।

'सूर-सौरभ' के उपर्युक्त पहले अंक में श्री उदयशंकर शास्त्री ने एक लेख में 'सूरसागर' के एक हस्तलेख का परिचय प्रस्तुत किया है। यह हस्तलेख सेवढ़ा (दँतिया) के राजा पृथ्वीसिंह 'रस-निधि' के राज्यकाल में, उन्हीं की राजधानी में, उनके नगर-निवासी लाला महिमाँ साह के लिए सं० 1783 में लिखा गया था। यह स्कन्ध-क्रमानुसारी है। स्कन्धात्मक हस्तलेखों की ही संख्या अधिक प्राप्त होती है जिनमें आरम्भ में, विनय के पद अवश्य मिलते हैं। किन्तु, वर्तमान हस्तलेख में विनय के पद नहीं हैं। पुनः, उसका आरम्भ "चरण कमल बन्दौं हरिराइ" से न होकर, "अथ श्री भागवत वर्ननं। रागु सारंग—श्री मुख चारि अस्लोक दए ब्रह्मां कौं समझाइ × × × सूरदास सोई कहे विधि भाषा करि गाइ ।।" से हुआ है। ऐसी अवस्था में शास्त्री जी ने एक प्रश्न उपस्थित किया है : "क्या इन हस्तलेखों की कोई ऐसी भी परम्परा रही है जिनमें केवल भागवत-कथा से ग्रन्थ का आरम्भ किया जाता रहा है या केवल इस हस्तलेख के प्रतिलिपिकार ने विनय के पदों को छोड़कर ही आगे का ग्रन्थ लिखा है या उसे ऐसा ही आदर्श मिला था जिसके आरम्भ में विनय के पद नहीं थे ?" शास्त्री जी ने प्रस्तुत हस्तलेख के आरंभ तथा अंत के छन्दों की फोटो स्टेट नकल भी संलग्न की है। इस लेख में जो नयी जानकारी दी गयी है, वह महत्त्वपूर्ण है और उनके द्वारा उपस्थापित प्रश्न मननीय है।

माघ, सं० 2037 वाले इसी अंक में श्री उदय शंकर दुबे ने एक लेख में, काशी-निवासी श्री नन्दकिशोर द्विवेदी से प्राप्त, एक ऐसे प्राचीन संग्रह का विवरण दिया है जिसमें 56 कृष्ण-कवियों के वसंत तथा होरी से सम्बन्धित 250 पद संगृहीत हैं। अष्ट-छापी आठ कवियों के अतिरिक्त इनमें अन्य 48 कृष्ण-भक्त कवियों के पद संकलित हुए हैं। कागज और स्याही के आधार पर यह हस्तलेख 300 वर्ष पुराना प्रतीत होता है। इसमें सूरदास के इक्कीस पद संगृहीत मिलते हैं जिनमें से तेरह पदों में 'सूरदास', दो पदों में 'सूरस्याम', पाँच पदों में 'सूर' और एक 'पद' में 'सूरज' छाप मिलती है।

उपर्युक्त हस्तलेखों से जो नवीन सूचनाएँ मिलती हैं, वे महत्त्वपूर्ण हैं। मूल पाठ का प्रश्न भाषा की दृष्टि से टाला नहीं जा सकता। किन्तु, साहित्यिक रसास्वादन और सूर के भावलोक की जानकारी के लिए बोधगम्य पाठ का निर्धारण कर, सम्पादन का एक क्रम ऐसा अपनाया जा सकता है, जैसा हमने अन्यत्र सुझाया है।
